श्री चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला १५

ब्रह्म-सूत्रों पर प्रणीत

शक्ति-भाष्य का अध्ययन

लेखिका

डॉ० श्रीमती सुशीला 'कमलेश'



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

शक्ति-भाष्य का अध्ययन * चौखम्बा प्रकाशन



॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१५



ब्रह्म-सूत्रों पर प्रणीत

शक्ति-भाष्य का अध्ययन

(शांकर-अद्वैत वेदान्त के आलोक में उसका समीक्षात्मक
तथा तुलनात्मक मूल्याङ्कन)

लेखिका

डॉ० श्रीमती सुशीला 'कमलेश'

एम० ए०, (संस्कृत तथा अंग्रेजी) पी-एच० डी०



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७२

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०२९

मूल्य : २५-००

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

15

*****

ŚAKTI-BHĀṢYA KĀ ADHYAYANA

(A Study of Sakti-Bhāṣya on Brahma-Sūtras.
A critical and comparative evaluation, mainly
in the light of Shankara-Advaita-Vedanta.)

BY

DR. SUSHILA 'KAMALESH'

M. A. (Sanskrit and English), Ph. D.

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1 (India)

1972

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1972
Phone : 63145

First Edition
1972
Price Rs. 25-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

पूज्य गुरुवर

पं० कैलास चन्द्र मिश्र

को सादर

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये



भूमिका

अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक धाराओं में प्रवाहित होने वाले दार्शनिक प्रस्थानों में सर्वाधिक लोकप्रिय दार्शनिक प्रस्थान वेदान्त दर्शन के मूलग्रन्थ ब्रह्मसूत्र पर अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न समय में अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या ग्रन्थों की रचना की और इस प्रकार वेदान्त परम्परा में ही अनेक मतवादों को जन्म दिया। जिन प्राचीन तथा मध्ययुगीय आचार्यों ने अपने भाष्य ग्रन्थों द्वारा वेदान्त साहित्य को परिपुष्ट किया उनमें आदिशंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, माध्व, श्रीकण्ठ प्रभृति आचार्यों का नाम लिया जा सकता है। ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य की रचना कुछ शताब्दी पहले तक होती रही है। अर्वाचीन भाष्यकारों में गोविन्दभाष्य के रचयिता बलदेव और विज्ञानामृत भाष्य के लेखक विज्ञानभिक्षु का नाम लिया जा सकता है। ब्रह्मसूत्र पर आनन्दभाष्य और जानकीभाष्य नामक दो और भाष्यग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जो सम्भवतः किन्हीं आधुनिक लेखकों की कृतियां हैं। बीसवीं शताब्दी में पण्डितप्रवर पंचानन तर्करत्न ने शाक्तपरम्परा के दृष्टिकोण से ब्रह्मसूत्र पर शक्ति भाष्य लिखकर एक नये मार्ग का श्रीगणेश किया। शाक्त परम्परा प्राचीन तथा साहित्य की दृष्टि से सुसमृद्ध रही है लेकिन दर्शन के जगत में इसकी निरन्तर उपेक्षा की जाती रही। सर्वदर्शनसंग्रह तथा सर्वसिद्धान्तसंग्रह जैसे संग्रह ग्रन्थों में इस दर्शन का उल्लेख तक नहीं मिलता। इस धारा में साधना तथा तत्सम्बन्धी विषयों पर अधिक ध्यान दिया गया है, युक्ति तर्क की उपेक्षा भी की गयी है। यही सम्भवतः दर्शन के क्षेत्र में उदासीनता का कारण है। इस अभाव की पूर्ति तर्करत्न महोदय ने अपनी सृजनी प्रतिभा के द्वारा की और साथ ही वेदान्त के क्षेत्र में स्वरूपाद्वैतवाद नामक मत की स्थापना करके न केवल शाक्तपरम्परा को अधिक पुष्ट तथा शास्त्रसम्मत बनाया अपितु वेदान्त दर्शन को नया रूप दिया। वास्तव में देखा जाय आगम और निगम की दो धारायें स्वतन्त्र रूप में सुमहान् काल से चली आ रही थीं उनको सेतु के समान जोड़ने का प्रयास शक्तिभाष्य के द्वारा सम्पन्न हुआ ऐसा समझता हूँ।

यद्यपि यह भाष्य अपनी मौलिकता आदि गुणों के कारण कतिपय पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है लेकिन दूसरे संस्कृत भाषा में होने के

कारण साधारण पाठक इस पाण्डित्यपूर्ण कृति का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। डा० (श्रीमती) सुशीला 'कमलेश' के इस ग्रन्थ से यह सम्भव हो सकेगा मुझे इसकी पूरी आशा है। इस ग्रन्थ में श्रीमती 'कमलेश' ने पृष्ठभूमि के रूप में पण्डितकुलशिरोमणि पंचानन तर्करत्न की जीवनी देकर उनकी रचनाओं का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। साथ ही शाक्त विचारधारा के उद्भव तथा विकास का भी एक सुस्पष्ट चित्र खींचा गया है। स्वरूपाद्वैतवाद के मूल्यांकन के लिये अन्य अद्वैत मतों से तुलनात्मक विचार आवश्यक है। इसी कारण शाक्तागमों में प्रतिवादित अद्वैतवाद काश्मीरीय शिवाद्वैतवाद और शांकराद्वैतवाद से इसकी समीक्षात्मक तुलना की गयी है। स्वरूपाद्वैतवाद के अनुसार परमतत्त्वब्रह्म का स्वरूपसत्ता है जिसकी चित् और अचित् शक्तियां व्यापारमात्र हैं। चित् शक्ति को शिव या पुरुष की संज्ञा दी गयी हैं और अचित् शक्ति को प्रकृति के नाम से पुकारा गया है। चित् शक्ति या शिव स्वरूपतः अधिकारी है लेकिन अचित् शक्ति या प्रकृति जिसे शुद्धरूप में शुद्धविद्या और अशुद्धरूप में माया कहा गया है परिणामिनी है और जगत् सृष्टि का कारण है। यद्यपि चित् और अचित् शक्तियां परस्पर विरोधीस्वभाववाली प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तव में वे महाशक्ति या ब्रह्म की ही द्विविध अभिव्यक्ति हैं जिसकी तुलना अर्धनारीश्वर से की जा सकती है। स्वरूपाद्वैतवाद में जो विचार की मौलिकता निहित है वह अन्य अद्वैतमतों से तुलना करने से स्पष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ में शक्तिभाष्य में वर्णित विषयों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। जीव और जगत के स्वरूप के विषय में शांकर वेदान्त से इस मत का अन्तर बड़े विस्तृत रूप में सफलतापूर्वक दिखलाया गया है। लेखक ने अन्य प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का निराकरण करते समय शास्त्रीय पद्धति का सराहनीय उपयोग किया है। अन्त में शक्ति भाष्य में वर्णित आध्यात्मिक विषयों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है, जिनमें अधिकारी विचार, कृपातत्व निर्माण-काय का सिद्धान्त साधकों तथा जिज्ञासु पाठकों को उपादेय प्रतीत होगा।

ग्रन्थ में सर्वत्र सरल और मार्जित भाषा का प्रयोग किया गया है जिससे गहन तथा नवीन विषय भी साधारण जनों को बोधगम्य होगा यह आशा करता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि सुधीजन के द्वारा वेदान्त दर्शन का यह नवीन समीक्षात्मक ग्रन्थ आदृत होगा।

दीपावली
संवत् २०२९

गोपिकामोहन भट्टाचार्य

FOREWORD

Dr. SRIJIVA

Nyayatirtha, M. A. (Gold Medalist), D. Litt.

Lecturer : Calcutta University (Retd.) & Jadavpur University (Retd.), Principal : Sanskrit College, Bhatpara Recipient of Certificate of Honour from Rastrapati of Indian Union.

About twelve years ago Srimati Sushila Kamalesh M. A. came to my village Bhatpara, 22 miles off from Calcutta, with an inquisitive mind to know the doctrines of sakta philosophy. My father late lamented Panchanan Tarkaratna of great repute was the author of Saktibhasya of Brahmasutras. This Bhasya approaches to new philosophical thoughts and is a synthetical treatment of all the six systems of philosophy.

I was taken aback when I heard from Srimati Sushila that she was coming from Agra College, U. P. and holds the post of Lecturer in Sanskrit. She was then working for her Ph. D. in Sanskrit on my father's Saktibhasya. I found her enthusiast and she took some notes from me on her subject, specially on the biography of my father. After quite some time I was delighted to learn that she fulfilled her mission and obtained the degree of Ph. D. on Saktibhasya.

The author of Saktibhasya felt the necessity to establish his doctrine of *sarupadvaitavada* for the benifit of common mass who could not be expected to enter into the fourth stage (*asrama*) of life. It is true that for the *sannyasins* the view of Sankaracharya is very effective, inasmuch as total renunciation from attachment depends on the idea that all the outward world has no real existence and that illusory and transitory things cannot bring any real bliss to the soul seeking it. But the people in general lacking in higher thoughts of metaphysics may acquire an experience in realising the whole outward universe as they feel real by seeing, touching, tasting etc. This world of ours is real and is the manifestation of Mahasakti—a combination of matter and spirit. True faith in this idea will

lead to Brahmajnana, when this idea gets rid of its limitations and becomes infinite and thereby converted into realisation of Brahma or Mahasakti. This Sakta philosophy is based on the Regveda, the Brahmasutras, the Upanisads, the Gita, the Saptasati, the ·Prapanchsara, stotras of Sankara and many other Tantras.

Yajanavalkya says :

Nyayagatadhanastattvajnananistho, tithipriyah /
sraddhakrt satyavadi ca grhastho pi hi mucyate //

This couplet proves that householder may attain salvation by earning through virtuous means, by performing sraddhas, giving hospitality to the guests and by speaking truth, only when the person concerned is attended with *tattvajnana*. This *tattvajnana* consists in the right understanding of the Sakta philosophy. The main point worth noting is this philosophy is that the conscious and unconscious objects (*cit* and *acit*) from the two parts of one whole, like the seed of a pea having two lobes under one cover. In Tantra Sakti has been described as of the form of a pea (*canakakrti*), Spirit and Matter both combine under one Existing Power (*Satta*), the Absolute. The union of Siva and Sakti comprises one whole, as Sri Sankaracarya also pointed out in the following couplet :

sivah saktya yukto yadi bhavati saktah prabhvitum /
na cedevam devo na khalu kusalah spanditum api //

When Siva is united with the Sakti, He becomes energetic, otherwise the Lord is incapable of movement even.

The present work is based on this concept. The author has brought out the main tenets of this philosophy. I am glad that she has succeeded in her mission. I hope that the book will be received with appreciation by the general public.

SRIJIVA

प्राक्कथन

श्री पंचाननविरचित 'शक्ति-भाष्य' संस्कृत-दर्शन शास्त्र की वह अमूल्य निधि है जिसने सृष्टि के आदि काल से पूजा-पद्धति में प्रचलित शाक्तमत-परंपरा को सुसम्बद्ध दर्शन का रूप प्रदान कर के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति की है। यद्यपि विपुल साहित्य का भण्डार[1] एवं बड़े-बड़े मातृ-भक्तों[2] के भाव-विह्वल उद्‌गार, समय-समय पर इस मत को पुष्ट और पल्लवित तो करते रहे, तथापि दर्शन-शास्त्र में स्थान देने के लिए 'सर्वदर्शन-संग्रहकार' तक ने भी इसकी उपेक्षा ही की। इसका कारण, संभवतः विद्वानों ने इसे तन्त्रों की ही एक क्रिया-पद्धति मान कर पृथक्तया दर्शन का रूप प्रदान करना उचित न समझा हो। परन्तु यह एक अभाव तो था ही और इस अभाव की पूर्त्ति कर के श्री पंचानन जी ने राष्ट्र की बहुमूल्य सेवा की है। इसे शाक्तमतावलम्बी विद्वन्मार्तण्ड महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ जी कविराज ने भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार श्री पंचानन जी की यह अमूल्य कृति भारतीय दर्शनों में एक दिन, अवश्य उचित सम्मान को प्राप्त करेगी।[3]

बीसवीं शताब्दी में लिखा गया प्रस्तुत ग्रन्थ श्री पंचानन तर्करत्न के प्रगाढ़ पाण्डित्य का दिग्दर्शन तो कराता ही है साथ ही उन संस्कृत विरोधियों पर भी प्रबल प्रहार करता है जो इस दिव्य वाणी को 'मृत भाषा' कहते नहीं अघाते। आत्म-प्रकाशन की आधुनिक प्रणाली से अनभिज्ञ, प्राचीन आत्मोत्सर्गमयी भावना से ओतप्रोत इस दिव्य योगी से यदि भारत

---

१. अगस्त्य के शक्तिसूत्र, सौदर्यलहरी, प्रपंचसार, मात्रिका-चक्रविवेक, योगिनी हृदय, मालिनी विजय, परात्रिंशिका, कामकला-विलास, सुभगोदय, त्रिपुरारहस्य, शक्ति संगम तन्त्र आदि अनेकों ग्रन्थ।

२. शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, कमलाकान्त प्रभृति सैकड़ों भक्त।

३. The Leader (daily) Tuesday August 6, 1940.

की अधिकांश जनता अभी तक अपरिचित है तो इसे अपना ही दुर्भाग्य समझना चाहिए। भविष्य के गर्भ में क्या है यह तो नहीं कहा जा सकता फिर भी इतना तो निश्चित है कि आधुनिक समयोचित इस नवीन-दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव एक बार व्याप्त होने पर सदियों तक भारत की धर्मप्राण जनता को मन्त्र-मुग्ध करता रहेगा।

पंचानन जी का शक्तिभाष्य अकेला ही एक पूरे दर्शन को आत्मसात् किये हुए है और इस ग्रन्थ की मौलिक चिन्ता-धारा, विषय प्रतिपादन की प्रौढ़ता एवं प्रमेयबहुलता, शांकर भाष्य के समान हो शोधकार्य के लिये इसे परम उपयोगी सिद्ध करता है। शक्तिभाष्य अपने से पूर्व प्रचलित शाक्तमत की अनादि परंपरा को द्योतित करता हुआ चलता है। यद्यपि यह ठीक है कि लेखक ने इस ग्रन्थ में उस परम्परा का पूर्णरूपेण परिपालन न करके अपनी अन्तर्ज्योति द्वारा प्रदर्शित सुपथ को ही अपनाया है, तथापि पंचाननजी ने अपने सिद्धान्तों को उत्तरोत्तर परिपुष्ट करके शाक्तमत की आधुनिक समयोचित विशुद्ध परिपाटी को दर्शन रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्थानत्रयी में से प्रधान ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र', उपनिषदों में प्रथम 'ईशावास्योपनिषद्', सप्तशती पर 'श्री श्रीचण्डी' तथा भगवद्गीता पर शक्तिपरक भाष्य लिखकर, श्री पंचानन जी ने जहां आचार्यों की परम्परा में अपना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है, वहां दूसरी ओर उन्होंने शाक्त मत को, अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा, दर्शनों की परम्परा में एक गौरवपूर्ण उच्च स्थान दे दिया है। ग्रन्थ के इसी दार्शनिक महत्त्व को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत ग्रंथ लिखा गया है।

यह प्रबन्ध परम श्रद्धास्पद आचार्यवर श्री कैलासचन्द्र मिश्र (भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत-विभाग आगरा कालेज आगरा) के निर्देशन में लिखा गया है। वस्तुतः यदि यह कहा जाए कि यह उन्हीं के समय समय पर दिये गये आदेशों-निर्देशों का पुंजीभूत प्रयास है, तो अत्युक्ति न होगी। इस गहन एवं सर्वथा मौलिक विषय में मेरी किंचित् भी गति न होती, यदि उनका विद्वत्तापूर्ण आलोक न प्राप्त हुआ होता। विभिन्न भारतीय दर्शन विशेषतः

अद्वैत दर्शन में जिन्हें अपूर्व अदृश्य सिद्धि प्राप्त है ऐसे पितृ-तुल्य गुरुवर के प्रति आभार प्रदर्शन शब्दों की सीमा से बाह्य है।

शाक्तमत के अधिकृत विद्वान् महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ जी कविराज की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी मेरे दो बार अचानक वाराणसी में उनके निवास स्थान पहुँचने पर, उन्होंने मेरे प्रस्तुत निवन्ध की रूपरेखा को मनोयोग से देखा एवं महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। वे इससे भी अधिक मेरा मार्ग-दर्शन करने को प्रस्तुत थे यदि रोग ने उन्हें सर्वथा विवश न कर दिया होता। इसे मैं अपना दुर्भाग्य ही समझती हूँ। फिर भी उनके लेखों आदि से मैंने पर्याप्त सहायता ली है। इसके लिए मैं पुनः उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

शक्तिभाष्यकार श्री पंचानन जी के सुयोग्य पुत्र श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ के सरल सौजन्यपूर्ण व्यवहार का मैं किन शब्दों में वर्णन करूँ, जिन्होंने मेरे कलकत्ता प्रवास के समय, दुर्गापूजा में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी, पूरे एक दिन का समय देकर मेरी शंकाओं का समाधान किया तथा स्व-पिता के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश डाला। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में मुद्रित श्री पंचानन जी के भाषण एवं उनके द्वारा रचित श्री श्रीचण्डी भाष्य (बाजार में अप्राप्य) धर्म-सिद्धान्त, द्वैतोक्तिरत्नमाला, शक्तिभाष्य (दोनों भाग) ईशावास्योपनिषद् भाष्य आदि ग्रन्थों की सहायता देकर, उन्होंने मेरे इस ग्रन्थ को गति प्रदान की। यही नहीं, गत वर्ष सहसा जब कुरुक्षेत्र में उनसे भेंट हुई और उन्होंने अपने पूज्य पितृव्य द्वारा प्रणीत अद्वितीय ग्रन्थ पर लिखित इस शोध-प्रबन्ध को देखा तो वे गद्-गद हो गये। विशेष कर चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस से इसके प्रकाशन की बात से तो वे और भी हर्ष-विह्वल हुए। परिणाम स्वरूप उन्होंने कृपापूर्वक प्रस्तावना लिख कर मुझे और भी वात्सल्याभिभूत कर दिया। तदर्थ मैं उनकी ऋणी हूँ। और हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य और अध्यक्ष तथा प्राच्यविद्या संस्थान के निर्देशक डाक्टर गोपिका मोहन भट्टाचार्य की भी

मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पूरे शोध-प्रबन्ध का शक्ति-भाष्य के प्रकाश में गम्भीरता पूर्वक अनुशीलन कर भूमिका लिखने की कृपा की है।

कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी के अधिकारियों विशेषतः श्री कृष्णाचार्य एम० ए० की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अन्यत्र दुर्लभ ग्रन्थों को मेरे लिए सुलभ बनाया और सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। आगरा विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, आगरा कालेज लाइब्रेरी, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा एवं चिरंजीव पुस्तकालय आगरा के अधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग को धन्यवाद दिये विना यह प्राक्कथन अधूरा ही रहता। इन सबने समय-समय पर पुस्तक एवं पठन सम्बन्धी मेरी आवश्यकताओं को विशेष रुचि लेकर पूर्ण किया।

अन्त में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के स्वत्वाधिकारी श्रेष्ठिवर्ग की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने श्रद्धापूर्वक तत्परता से इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है।

सुशीला 'कमलेश'

अनुक्रमणिका

शक्ति-भाष्य का अध्ययन

स्वरूपाद्वैतवाद के प्रवर्तक,
पंडित प्रवर श्री पंचानन तर्करत्न

प्रथम अध्याय

(क) जीवन एवं रचनाएँ

वंश-परम्परा :

अलौकिक प्रतिभा के धनी श्री पंचानन जी गौतम गौत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे[1]। कन्नौज पर यवन आक्रमण होने के कारण इनके पूर्वज धूलियापुर (यशोहर, बंगाल) में जा बसे थे। इनके कुल के प्रथम पूर्व-पुरुष श्री अल्लाल भट्ट यहीं के रहने वाले थे[2]। उनके भाई श्री गोविन्दानन्द भट्ट अपने समय के विशिष्ट पंडित माने जाते थे। उन्होंने 'वर्षक्रियाकौमुदी' आदि अट्ठाईस कौमुदी-संज्ञक ग्रन्थों की रचना की थी। इसी वंश-परम्परा में दूसरे विद्वान् न्याय वाचस्पति महाशय सर्व शास्त्रों के पंडित हुए। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर तत्कालीन राजा देवेन्द्रनाथ राय ने मेदनीपुर के सुजामुठर नामक स्थान की बीस बीघा भूमि ब्रह्मोत्तर रूप दान में दी। परंतु ये अधिक दिन जीवित न रहे, ३८ वर्ष की अल्पायु में ही इनका स्वर्गवास हो गया। इनके ज्येष्ठ पुत्र आनन्दचन्द्र विद्यावागीश सिद्ध पुरुष हुए। इनके पश्चात् ही कुल से बाहर के व्यक्ति को गुरु बनाने की परंपरा समाप्त हुई। तब से परिवार के पूर्व पुरुष के ही मन्त्रदाता होने की यह नई परंपरा प्रारंभ हुई। 'रामलीलादाय' नामक एक काव्य ग्रन्थ भी इनका रचा हुआ मिलता है। इन्हीं आनन्दचंद्र विद्यावागीश के लघु भ्राता ऋषिकल्प धार्मिक तर्कवागीश, हमारे उल्लिखित विद्वान् श्री पञ्चानन जी के पितामह थे। ऋषि जी का जीवन अत्यन्त सरल और सन्तोषपूर्ण रहा। अधिक अर्थोपार्जन की लालसा छोड़कर, अनायास जो प्राप्त हो जाता उसी को भगवान् का प्रसाद समझ

१—'ब्रह्मसूत्र-शक्तिभाष्यम्' के मंगलाचरण में वर्णित तृतीय श्लोक 'नमामो गौतमव्यासौ गोत्रसूत्रप्रवर्त्तकौ' के आधार पर।

२—कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी में प्राप्य 'बंग भाषा लेखक' ग्रन्थ में उल्लिखित 'श्री पञ्चानन जी के जीवन परिचय' के आधार पर।

कर यह ग्रहण करते थे। इन्होंने 'काली स्तोत्र' नामक एक स्तोत्र-ग्रन्थ की रचना की। इन्हीं महानुभाव के द्वितीय पुत्र श्री नन्दलाल विद्यारत्न स्वरूपाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक श्री पञ्चानन जी के परमाराध्य पिता थे। ये अनन्य भगवद्भक्त थे, रात-रात भर जप किया करते, और जप में ही इनकी सहज समाधि लग जाती।

इनके विषय में अलौकिक चमत्कारपूर्ण अनेकों कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक मृत बालिका को अपने मन्त्रबल द्वारा पुनर्जीवित कर दिया था। इनका व्यक्तित्व अत्यन्त सुन्दर, तेजस्वी तथा प्रभावशाली था। यहाँ तक कि भगवान् महादेव जी को भी इनकी प्रतिज्ञा के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा था। यह घटना श्री पञ्चानन जी के जन्म से सम्बन्धित है। वैवाहिक जीवन के ३१ वर्ष व्यतीत होने पर भी जब इनके यहाँ कोई संतान न हुई तो एक दिन पत्नी को साथ लेकर वे तारकेश्वर महादेव जी के मंदिर पर धरना देकर बैठ गए। इनकी कठिन तपश्चर्या तथा जप द्वारा प्रसन्न होकर भगवान् आशुतोष ने इन्हें स्वप्न में पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया। हमारे नवदर्शन प्रणेता श्री पञ्चानन जी भगवान् शंकर के वही वरद पुत्र हैं। आपका जन्म नौ भाद्रपद १२७३ बंगाब्द[१] में भट्टपल्ली, भाटपाड़ा (पश्चिम बङ्गाल) नामक स्थान पर हुआ। इस प्रकार अपनी विद्वद्-वंश परपरा में श्री पञ्चानन जी एकादश-क्रम में आते हैं।

शैशव :

जन्म के समान ही उनके शैशव की भी अनेक अद्भुत घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। विस्तार भय से यहाँ केवल दो-चार का ही उल्लेख किया जा रहा है। प्रथम घटना उस समय की है, जब श्री पञ्चानन जी केवल ढ़ाई वर्ष के बालक थे। उनकी दादी नित्य प्रातः हरिनाम का संकीर्तन किया करती थीं। कुछ बङ्गला भाषा का प्रभाव कहिये अथवा वार्धक्य का, वे 'हरे कृष्ण, हरे राम हरे कैटभारि' के स्थान पर 'हरे कौटुभारि' कहा करती थीं। व्याकरण के आदि सूत्र प्रवर्तक भगवान् शिवशंकर के वरद पुत्र श्री पञ्चानन जी भला इस अशुद्धि को कैसे सहन कर पाते। वे बोले 'देखो दादी को बोलना भी नहीं आता,'कैटभारि' को 'कौटुभारि' कहती हैं'।[२] इतने छोटे बालक के मुख से ऐसी

१—तदनुसार २५ अगस्त सन् १८६७।

२—श्री श्री जीव न्यायतीर्थ (श्री पञ्चानन जी के ज्येष्ठ पुत्र) से उनके निवासस्थान पर हुई एक भेंट के आधार पर।

प्रौढ़ बात सुनकर सब परिवारी जन दंग रह गए। परन्तु पिता तो सब रहस्य जानते ही थे, उन्होंने चार वर्ष की अवस्था से ही इनको अक्षराभ्यास प्रारंभ करा दिया। बालक पञ्चानन ने एक दिन में ही सामान्य अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसा लगा जैसे पहले ही सब कुछ जानते हों, केवल दोहराना मात्र शेष हो। तीन मास व्यतीत होते-होते ये पूर्ण वर्णमाला लिखने लगे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने पिता के श्रीमुख से सुनते-सुनते गीता के तीन अध्याय-एकादश, द्वादश और त्रयोदश-ज्यों के त्यों कंठस्थ कर लिये। अभी छः ही वर्ष के हुए थे कि एक दिन अपने मामा श्री अमृतमय विद्यारत्न के श्रीमुख से 'शिशुपाल वध' काव्य का प्रथम श्लोक—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्, जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भांगभुवं मुनिं हरिः॥

सुनकर इन्हें भी काव्य-सर्जन की अंतःप्रेरणा हुई और उन्हीं के अनुकरण पर निम्न दो पंक्तियाँ लिखीं —

कियः पतिः कः पति देव सूर्यः।
नारायणस्य गृह कांक्षणीकः॥[1]

शिक्षा-दीक्षा :

उपर्युक्त श्लोक सुनकर मामा इन्हें पिताजी के पास ले गए। पिता ने आशीर्वाद दिया और तभी से व्याकरण का विधिवत् शिक्षण प्रारंभ कर दिया। श्री पञ्चानन जी अनन्य श्रद्धा भक्ति से गुरु के समान पिताजी की सेवा करने लगे। उन्हें खिलाए बिना ये अन्न जल ग्रहण न करते। पिता द्वारा पढ़ाए पाठ को दत्तचित्त हो कंठस्थ करते, और इस प्रकार तीन वर्ष की अल्पावधि में ही इन्होंने सम्पूर्ण 'सुपद्म' व्याकरण कंठस्थ कर लिया। परंतु दुर्भाग्य से पठन-पाठन तथा सेवा का यह क्रम अधिक दिन न चल सका। दैव की कुछ और ही इच्छा थी। वह सुवर्ण की भाँति जिसे अधिक निखारना चाहता है उसे अधिक तपाता है। नवम वर्ष समाप्त करते ही पूज्य गुरु तुल्य पितृ श्री नन्दलाल विद्यारत्न अबोध बालक श्री पञ्चानन को विशाल संसार-संग्राम में असहाय बिलखता छोड़कर स्वर्गगामी हुए। पिता से वियुक्त हो, अभी माता का आश्रय लिया भी न था कि वे सती साध्वी, बिना किसी के कुछ बताए, अपने अंतः चक्षुओं द्वारा इस अप्रत्याशित घटना को देख, 'प्रसूति गृह' में ही, उसी सायंकाल पति की अनुगामिनी हुईं।

१—कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी में प्राप्य पुस्तक 'बंग भाषा लेखक' से उद्धृत।

नव वर्षीय बालक श्री पञ्चानन जी का नन्हा-सा हृदय इन दो भयंकर घटनाओं से दहल उठा। उन्हें चारों ओर शून्य दृष्टिगोचर होने लगा। शीघ्र ही श्री ऋखुमणि विद्याभूषण तथा पिता के अन्य शिष्यों ने इनके भरण-पोषण तथा अध्ययन का उत्तरदायित्व संभाला। परंतु दुर्दैव ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा, और दो मास पश्चात् श्री ऋखुमणिविद्याभूषण जी भी इस असार संसार से चले गए। गुरु की छत्रच्छाया न रहने पर बालक पञ्चानन अन्य पड़ौसी बच्चों के साथ खेल-कूद में मग्न रह कर, अपने आंतरिक अभाव की पूर्ति करने लगे। अध्ययन का क्रम एक प्रकार से सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया। परंतु विधाता ने जिस विशिष्ट कार्य की पूर्ति के लिए इन्हें संसार में अवतीर्ण कराया था अन्ततः वह भी तो पूर्ण होना था। अतः ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में तत्कालीन विद्वान् श्री कुंजबिहारी 'कविरत्न' का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ। गुरु-कृपा होने पर जब साधारण से साधारण जन भी भवसागर उत्तीर्ण कर लेते हैं तब प्रतिभाशाली विभूतियों का तो कहना ही क्या? त्रयोदश वर्ष समाप्त करते ही अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न श्री पञ्चानन जी ने श्री जयराम न्यायभूषण के निर्देशन में 'काव्यरत्न' उपाधि प्राप्त कर ली। साथ ही काव्य-सृजन का कार्य भी नियमित रूप से प्रारंभ हो गया।

नवद्वीप के प्रभाव के कारण भट्टपल्ली सदैव से न्यायदर्शन का केन्द्र रहा है। अतः अपने निकटस्थ वातावरण से प्रभावित होकर इन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में ही महामहोपाध्याय श्री राखालदास न्यायरत्न से न्याय-शास्त्र का विधिवत अध्ययन प्रारंभ कर दिया था, और १६ वर्ष की अवस्था में तत्कालीन न्यायशास्त्री श्री शिवचन्द्र सार्वभौम के निर्देशन में 'तर्करत्न' की उपाधि प्राप्त की थी। तदनन्तर अन्य विविध दर्शनों का अध्ययन करने के निमित्त श्री पञ्चानन जी काशी पहुँचे। यहाँ पण्डित ताराचरण जी इनके गुरु बने और उन्होंने इनको वेदांत-शास्त्र का ज्ञान कराया। गुरु पुत्र श्री प्रमथनाथ जी से ये इतने प्रभावित हुए कि गुरुजी के स्वर्गवासी होने पर अपनी बहिन सुश्री 'नृत्यकाली' जी का विवाह उनके साथ करके इन्होंने सदैव के लिए उन्हें अपना बना लिया।

विवाह एवं परिवार :

श्री पञ्चानन जी का प्रथम विवाह, उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार चौदह वर्ष की अल्पायु में ही हो गया था। परंतु इनकी पत्नी अधिक दिन जीवित न रहीं और विवाह के दो वर्ष पश्चात् ही स्वर्गवासिनी हुईं। १२६० बंगाब्द में बेलघरिया अड़ियादाह के घृत कौशिक गोत्र की सरोजिनी

देवी नामक आठ वर्षीया बाला से इनका द्वितीय विवाह हुआ। इनकी द्वितीय पत्नी बड़ी गुण सम्पन्न थीं। निरक्षर होने पर भी बड़ी मेधावी थीं। पति के सम्मानार्थ सभी संभव-असंभव कार्य करने को सदैव तत्पर रहती थीं। श्री पञ्चानन जी द्वारा संचालित संस्कृत पाठशाला के प्रत्येक विद्यार्थी को स्वयं अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाती थीं। वे पति की अल्पायु में ही गृहस्थी की गाड़ी बड़ी कुशलता से चला रही थीं कि सहसा अप्रत्याशित घटना घटित हो गई। सती साध्वी भारतीय नारी के समान वे पति के समक्ष ही मृत्यु की आकांक्षा रखती थीं, और वही हुआ भी। २८ वर्ष की अल्पायु में ही वे बड़ी कन्या अन्नपूर्णा तथा तीन बालकों – श्रीजीव, सुजीव और संजीव – को बिलखता छोड़ स्वर्ग सिधार गईं। परंतु उनके जीवन का तप उनके बच्चों को सुयोग्य बनाने में काम आया और आज ये चारों भाई-बहन अपने जीवन के चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुके हैं।

आर्थिक संकट :

महापुरुष जीवन की दुर्दम घाटियों से प्रेरणा लेकर ही अपना अग्रिम जीवन-पथ प्रशस्त किया करते हैं। पत्नी की मृत्यु तथा बहिन की शादी के ऋण ने श्री पञ्चानन जी जैसे सदैव 'यथा लाभ संतोष' के सिद्धांत में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को भी विकट आर्थिक-संकट की स्थिति में डाल दिया। कष्ट अधिक बढ़ जाने पर ये कलकत्ता अपने एक शिष्य के पास गये और उसे साथ लेकर इन्दौर की राज्यसभा में पधारे। तत्कालीन मंत्री श्री ढुंढुसमराव जी ने इनकी कविता से प्रभावित होकर इनको पर्याप्त धनराशि भेंट की। इन्दौर से श्री पञ्चानन जी तुकोजीराव होल्कर की सभा में गए, जहाँ महाराज ने इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर ५० रुपए, एक जोड़ा बहुमूल्य शाल तथा एक तलवार भेंट में दी। इसके पश्चात् श्री पञ्चानन जी भोजवंश की राजधानी धार राज्य पहुँचे और तत्कालीन पण्डित श्री आदित्य वेदज्ञ गणेश शास्त्री से परिचय प्राप्त किया। हीरे की परख जौहरी ने भली भाँति की और इनसे राज्यसभा का पण्डित-पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। परन्तु स्वाभिमानी आत्माएँ कब किसी की अधीनता स्वीकार किया करती हैं? पंडित जी ने उनकी प्रार्थना ठुकरा दी। निराश हो शास्त्री जी ने इन्हें भरे हृदय से बहुत-सा धन शाल और उष्णीश आदि भेंट कर विदाई दी। इस यात्रा ने श्री पञ्चानन जी की आर्थिक समस्या पर्याप्त मात्रा में सुलझा दी। अतः ये पुनः अपने घर (भाटपाड़ा) लौट आए और दो वर्ष पर्यन्त वहीं

रहकर संस्कृत पाठशाला में न्यायशास्त्र का अध्यापन-कार्य करते रहे और छात्र वर्ग को अपनी मेधा का अमृतपान कराते रहे।

शास्त्र-प्रकाशन और लेखन-कार्य :

शास्त्र-प्रकाशन के प्रारंभ में भी एक अलौकिक घटना घटित हुई।[1] इक्कीसवें वर्ष में प्रवेश करते ही एक दिन ब्राह्म मुहूर्त में स्वप्न आया, जिसमें भगवती माँ दुर्गा सम्मुख खड़ी कह रही थीं कि 'मैं तुम्हारे घर आ रही हूँ'। उसी समय इनकी आँख खुल गई और देखा कि घर में बना भगवती काली का मण्डप टूटा-फूटा पड़ा है। दुर्गा-पूजा में उन दिनों भी लगभग तीन सौ रुपया व्यय होता था। इतनी व्यय-साध्य पूजा प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर पाता था। इसी से माँ काली की पूजा का प्रचलन ही अधिक था। श्री पञ्चानन जी स्वप्न की बात पर विचार करते हुए स्नान के निमित्त गंगा तट पर आए। वहाँ उन्हें एक मल्लाह मिला और इनसे बोला—"गंगा में एक पट्टा बह कर आया है, यदि कोई दुर्गा-पूजा करे तो मैं इसे अति अल्प मूल्य में बेच सकता हूँ।" श्री पञ्चानन जी की दुविधा और भी बढ़ी परन्तु प्रत्यक्ष में मल्लाह से यही कहा कि जब इसे बेचो तब पहले हमसे पूछ कर बेचना। अभी इस समस्या पर विचार चल ही रहा था कि दो दिन पश्चात् इन्हें एक कुम्हार मिला और स्वयं ही बोला "मैं माता दुर्गा का मुण्डमाल बहुत कम पैसों में बना कर दे सकता हूँ।" श्री पञ्चानन जी उसकी बात सुनकर और भी चकित हुए और घर आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त इन्दौर के तत्कालीन राजवैद्य को पत्र में लिखा। पत्र मिलते ही वैद्यजी ने तार द्वारा पच्चीस रुपए भेज कर दुर्गा-पूजा का आदेश दिया। पड़ोसियों ने सुना तो बहुत हँसी उड़ाई कि खाने तक तो है नहीं और चले हैं दुर्गा पूजा करने। परन्तु भगवती की लीला कि उन्हीं दिनों इन्हें 'बंगवासी प्रेस' में शास्त्र-प्रकाशन का कार्य मिल गया। और इनकी आर्थिक समस्या स्वतः सुलझ गई।

उस समय 'बंगवासी प्रेस' में शास्त्र-प्रकाशन् का कार्य श्री त्रैलोक्य नाथ भगवद्भूषण किया करते थे। श्री पञ्चानन जी प्रथमतः जब उनके समक्ष उपस्थित हुए तब इक्कीस वर्षीय नवयुवक को शास्त्र-प्रकाशन् जैसे गुरुतर एवं गंभीर कार्य के लिए उद्यत देख सहसा उन्हें विश्वास ही न हुआ कि इस कार्य को यह युवक कर भी सकेगा। उन्होंने उपेक्षा करते हुए उन पर व्यंग्य किया

१—श्री पञ्चानन जी के सुयोग्य पुत्र श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ से हुई भेंट के आधार पर।

और लौटा दिया। पुनः पंडित प्रवर जब बर्दवान के तत्कालीन प्रसिद्ध वकील श्री इन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय का पत्र लेकर बगवासी प्रेस गए तो इन्हें कार्य मिल गया और अपनी अद्भुत प्रतिभा के चमत्कार से एक वर्ष के भीतर ही ये शास्त्र-प्रकाशन विभाग के संपादक नियुक्त हो गये। अपने संपादन काल में लगभग एक सौ उच्च कोटि के ग्रन्थों के संपादन, संशोधन और अनुवाद का कार्य करने में सफलता प्राप्त की। उनका विवरण यों है[1]—

१—ऊनविंशति संहिता (अनुवाद) सन् १८८६।
२—मनुसंहिता (अनुवाद) सन् १८८६।
३—ब्रह्माण्ड पुराण (अनुवाद) सन् १८८८।
४—कपिल-सांख्य सूत्र (बङ्गाली व्याख्या) सन् १८८८।
५—उपनिषदों से सुभाषित (प्रकाशन) सन् १८९०।
६—चरकसंहिता के सिद्धांत गर्भ तथा बालोत्पत्ति पर, सन् १८९०।
७—कूर्म पुराण (अनुवाद) सन् १८९१।
८—लिंग पुराण (अनुवाद) सन् १८९१।
९—शिव पुराण (प्रकाशन) सन् १८९१।
१०—अग्नि पुराण (संपादन) सन् १८९१।
११—महानिर्वाण तंत्र (संपादन) सन् १८९२।
१२—वाराही बृहत् संहिता (संपादन) सन् १८९२।
१३—बृहत् धर्म पुराण (संपादन) सन् १८९३।
१४—अष्टावक्र संहिता (बङ्गाली अनुवाद सहित) सन् १८९३।
१५—गौतम न्याय सूत्र (बङ्गाली अनुवाद तथा व्याख्या) सन् १८९३।
१६—बृहन्नारदीय पुराण (संपादन) सन् १८९४।
१७—देव पुराण (सपादन) सन् १८९५।
१८—मनुसंहिता सार संग्रह (बंग अनुवाद सहित) सन् १८९६।
१९—साम्ब पुराण (संपादन) सन् १८९६।
२०—देवी भागवत पुराण (संपादन) सन् १९०२।
२१—स्कन्द पुराण (सपादन) सन् १९०२।
२२—भागवत पुराण (अनुवाद) सन् १९०२।
२३—ब्रह्माण्ड पुराण (संपादन) सन् १९०३।
२४—श्रुति ऊनविंशति संहिता (संपादन) सन् १९०३।
२५—पद्म पुराण (संपादन) सन १९०३।

१—कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी से प्राप्त सूची के आधार पर।

२६—मनु संहिता (सम्पादन) सन् १६०३ ।

२७—ईश्वर कृष्ण कारिकत्वक परिष्कार (बंगला अनुवाद तथा व्याख्या सहित) सन् १६०३ ।

२८—महाभारत (सम्पादन) सन् १६०४-५ ।

२९—कूर्म पुराण सम्पादन) सन् १६०४ ।

३०—मार्कण्डेय पुराण (देवी भाष्य सहित) सन् १६०४ ।

३१—रामायणम् (बंगला अनुवाद सहित) सन् १९०४ ।

३२—ब्रह्मवैवर्त पुराण (सम्पादन) सन् १६०५ ।

३३—देवी पुराण (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६०५ ।

३४—पद्म पुराण (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६०६ ।

३५—वाराह पुराण (सम्पादन) सन् १६०६ ।

३६—धर्म सिद्धान्त (बंगला अनुवाद सहित) सन् १९०६ ।

३७—गरुड़ पुराण (सम्पादन) सन १६०७ ।

३८—वामन पुराण (सम्पादन) सन् १९०७ ।

३६—शिव पुराण (सम्पादन) सन् १६०७ ।

४०—महानिर्वाण तन्त्र (संशोधित प्रकाशन) सन् १६०७ ।

४१—कल्की पुराण (सम्पादन) सन् १६०८ ।

४२—कालिका पुराण (सम्पादन) सन् १६०६ ।

४३—मत्स्य पुराण (सम्पादन) सन् १६०६ ।

४४—ब्रह्म पुराण (सम्पादन) सन् १६०६ ।

४५—सांख्य दर्शन (संस्कृत तथा बंगला व्याख्या) सन् १६०६ ।

४६—वायु पुराण (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६१० ।

४७—पद्म पुराण (सम्पादन) सन् १६११ ।

४८—स्कन्द पुराण (सम्पादन) सन् १९११ ।

४६—सायनाचार्य पंचदशी (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६१३ ।

५०—योगवाशिष्ठ रामायण (सम्पादन) सन् १६१४ ।

५१—पद्म पुराण (बगला अनुवाद) सन् १६१४ ।

५२—महाभागवत पुराण (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६१४ ।

५३—अमर मंगलं (नाटक, उदयपुर के महाराणा अमरसिंह के जीवन पर आधारित) सन् १६१४ ।

५४—द्वैतौक्तिरत्नमाला (शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ) सन् १६१६ ।

५५—ब्रह्माण्ड पुराण (छन्दोबद्ध अनुवाद और व्याख्या) सन् १६१७।
५६—पद्म पुराण (बंगला अनुवाद) सन् १६१७।
५७—मेदनीपुर में ब्रह्म महासम्मेलन में सभापति पद से दिया भाषण, सन् १६१७।
५८—कल्की पुराण (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६१६।
५६—योग संहिता (हिन्दू फिलोसफी को समझाने वाले गीतों का सग्रह) सन् १६१९।
६०—विधवारा एकादशी (हिन्दू विधवा को एकादशी व्रत आवश्यक) सन् १६१९।
६१—कालिका पुराण (अनुवाद)
६२—देवी भागवत पुराण (अनुवाद)
६३—रत्नावलि (हर्ष रचित) (अनुवाद)
६४—दशकुमार चरित (दण्डी) (अनुवाद)।
६५—विष्णु पुराण (अनुवाद)।
६६—योग वशिष्ठ रामायण (अनुवाद)।
६७—शिव पुराण (अनुवाद)।
६८—स्कन्द पुराण (अनुवाद)।
६६—विद्यापति (सम्पादन)।
७०—वाराह मिहिर (सम्पादन)।
७१—तन्त्राभिधान (सम्पादन)!
७२—अद्भुत रामायण (बगला अनुवाद सहित) सन् १६२३।
७३—विष्णु पुराण (सम्पादन) सन् १६२४।
७४—जगत् ओ आमी (हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों पर विचारात्मक पुस्तक) सन् १६२५।
७५—वैशेषिक सूत्र (अनुवाद)।
७६—माकण्डेय पुराण (बंगला अनुवाद सात अध्याय तक) १६२६।
७७—गर्ग संहिता (बंगला अनुवाद सहित) सन् १६२६।
७८—'श्री श्री चण्डी' दुर्गा सप्तशती (बंगला-व्याख्या सहित, सप्तम अध्याय पर्यन्त स्वयं, शेष पुत्र द्वारा अनुवादित) सन् १६२६।
७१—गरुड़ पुराण (सम्पादन) सन् १९३१।
८०—शंकराचार्य (सम्पादन) सन् १९३६।

८१—ब्रह्म सूत्र का शक्ति भाष्य (प्रथम भाग १८५६ शकाब्द) सन् १९३८।

८२—ब्रह्म सूत्र का शक्ति भाष्य (द्वितीय भाग १८६० शकाब्द) सन् १९३९।

८३—सर्वमंगलोदयम् (बंगानुवाद सहितम्) सन् १९३९।

८४—नरसिंह ताराभक्ति सुधार्णव (सम्पादन) सन् १९४०।

८५—पूर्णानन्द परमहंस–षट्चक्र–निरूपण और पादुका पञ्चक (तृतीय संशोधित संस्करण)।

८६—तर्क पञ्चानन-विश्वनाथ भट्टाचार्य (भाषा परिच्छेद)।

८७—मात्रिका पंचशिखा ('वसुमति' मासिक में प्रकाशित वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के आधार पर देवी स्तवन) सन् १९४०।

८८—ईशावास्योपनिषद् शक्ति भाष्यम् (शक्तिवाद सार) सन् १९४०।

इन्हीं ग्रन्थों में से कई ग्रन्थों के काल भेद से विभिन्न संस्करण भी संपादित अथवा प्रकाशित कराए गए जिन्हें पुनरुक्ति भय से पृथक् नहीं दिया जा रहा है।

शास्त्र-प्रकाशन के साथ ही साथ श्री पञ्चानन जी के तत्कालीन समस्याओं पर विचारपूर्ण प्रभावोत्पादक लेख यदा-कदा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते थे। 'नव जीवन', 'वेद व्यास', 'प्रतिमा', 'बंगवासी', 'वसुमति दैनिक' तथा 'वसुमति मासिक' आदि पत्र-पत्रिकाओं में उनके विशिष्ट लेख संगृहीत हैं। 'दोयनी' संज्ञक पत्रिका प्रकाशित करने पर मेदिनीपुर के तत्कालीन राजा ने प्रसन्न होकर इन्हें 'विश्व वृत्ति' प्रदान की थी। इस प्रकार बाईस वर्ष की अल्पायु में ही श्री पंचानन जी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के प्रभाव से 'बंग ख्याति' प्राप्त कर ली थी। इन्होंने एक वर्ष तक 'लोक सेवक' पत्र का भी सफल सम्पादन किया था। इनकी विचारसरिणी सदैव शास्त्रीय भित्ति पर आधारित हुआ करती थी। इसी कारण रवीन्द्र नाथ टैगोर, महात्मा गांधी, अरविन्द घोष आदि तत्कालीन मनीषी इनका नाम अत्यन्त आदर से लेते थे। महामना मालवीय जी ने तो इन्हें अपना गुरु ही मान रखा था। इस सम्बन्ध की कतिपय घटनाएँ स्मरणीय हैं, जिनका विवरण आगे यथाप्रसंग दिया जाएगा।

विशिष्ट ग्रन्थ :

श्री पञ्चानन जी देवी के परम भक्त थे। ३५ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने सप्तशती का ज्ञानपूर्ण प्रभावोत्पादक 'श्री श्री चण्डी' संज्ञक भाष्य

लिखा । इसकी रचना के विषय में किसी घटना विशेष का केवल संकेत मात्र भूमिका भाग में मिलता है. पूर्ण विवरण नहीं दिया गया ।[1] इसी भाष्य में ब्रह्म-सूत्र पर 'देवी-भाष्य' रचने का स्वयं भगवती द्वारा स्वप्न में दिया आदेश भी वर्णित है ।[2] इसी आदेश का पालन करते हुए ७२ वर्ष की परिपक्वावस्था में अभिनव-दर्शन (स्वरूपाद्वैतवाद) संस्थापन-हेतु 'शक्ति भाष्य','गीता भाष्य' एवं 'ईशावास्योपनिषद् भाष्य' की रचना की। ये चारों भाष्य-ग्रन्थ आधुनिक युग के अनुरूप, मुक्ति आदि समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। शांकर मतानुसार जहाँ सन्यासी ही केवल मोक्ष का अधिकारी हो सकता है वहाँ श्री पंचानन जी गृहस्थाश्रम को ही एक मात्र विकल्प मानते हैं।[3] उनके मत में यही एक वास्तविक आश्रम है। ब्रह्मचर्य इसका पूर्वांग है तो संन्यास उत्तरांग ।[4] इसके अतिरिक्त, आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक भी जगत् के मूल में किसी अद्‌भुत शक्ति (Power) की कल्पना करता ही है । श्री पंचानन जी ने उसी अनादि काल से सर्व विश्व की अधिष्ठात्री देवी त्रिपुर सुन्दरी 'महाशक्ति' को जगत् का आदि कारण सिद्ध किया है। यह सम्पूर्ण चराचरात्मक सृष्टि उसी आद्याशक्ति का प्रपंच मात्र है । वही ब्रह्म है, वही सृष्टि के आदि में स्फुरित होकर सृष्टि रचना करती है और प्रलय होने पर समस्त जड़-चेतन उसी में विलय हो जाते हैं । इस प्रकार 'शाक्तमत'को, जो अभी तक केवल एक सम्प्रदाय रूप में प्रचलित था, श्री पंचानन जी ने एक प्रमाण-पुष्ट दर्शन-शास्त्र का रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। भविष्य में उनका यह दर्शन विद्वन् मार्तण्ड महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी के

१—'देवी भाष्येर रचनाए अलौकिक घटना आछे ताहा बोली बार ए समय नाय' 'श्री श्री चण्डी' ग्रन्थ की भूमिका पृष्ठ प्रथम से उद्धृत ।

२—'आविर्भूय स्वयं स्वप्ने या मां शास्त्रार्थमान्वशात् ।
सा काली प्रीयतामेतन्मृकालापन लीलया ॥'

—श्री श्री चण्डी भाष्य, पृ० ५० ।

३— 'गार्हस्थमात्र वा सर्वेषामिति मे विकल्पा'–श्री श्री चंडी भाष्य, पृ. १४० ।

४—'गार्हस्थ्येनैवैकाश्रम्यमाख्यायते' 'गार्हस्थ्यपूर्व्वांगतया ब्रह्मचर्यास्याभ्युपगमाद् नत्वाश्रमान्तरत्वेन' 'सन्न्यासस्यैकाश्रम्यपक्षेऽपि गार्हस्थ्यचरमदशायांसम्भवेन तत्र ज्ञानपरि पाकाच्च मुक्तिसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् ।'

—शक्ति भाष्य, भूमिका, भाग, पृष्ठ २ ।

शब्दों में अवश्यमेव सर्वमान्य होगा।[1] इसके अतिरिक्त मृत्यु से ठीक एक मास पूर्व लिखित 'मात्रिका पंचशिखा' संज्ञक स्तोत्र भी मिलता है। इसमें वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर एक-एक श्लोक भगवती की स्तुति में लिखा गया है, जो उनकी विनम्रता तथा भक्तिभाव का परिचायक है। वर्ण-माला के अनुसार उनकी संख्या भी ५२ है।[2]

(ख) व्यक्तित्व एवं जीवनदर्शन

रुद्रावतार :

अखड तेजस्विता के कारण लोग इन्हें रुद्रावतार कहा करते थे। धर्म के नाम पर अनाचार उनके लिए सर्वथा असह्य था। यही कारण था कि सत्तर वर्ष की परिपक्वावस्था में भी तारकेश्वर महादेव जी के मन्दिर के महन्त से ये उलझ वैठे और मुकदमा जीत कर उस महन्त को गद्दी से हटा कर उस पर योग्य व्यक्ति को अधिष्ठित किया। इसी प्रकार जब कलकत्ता वृजतल्ला भवानीपुर में पुलिस ने शिवलिंग उखाड़ कर उस स्थान को अपने अधिकार में कर लिया तब श्री पंचानन जी एक डेपूटेशन लेकर तत्कालीन गवर्नर से मिले और उन्हें सम्पूर्ण स्थिति से अवगत कराया। गवर्नर इनकी वार्त्ता से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने शिवलिंग पुनः उसी स्थान पर स्थापित करने का आदेश दे दिया। धर्म-विरुद्ध बात इन्हें कांटे के समान चुभती थी। कलकत्ता नीमतल्ला में बिजली द्वारा शवदाह की योजना का इन्होंने तीव्र विरोध किया। यहाँ तक कि एक तीव्र आन्दोलन-सा प्रारंभ हो गया, और स्थानीय प्रशासन को विवश हो, वह योजना समाप्त करनी पड़ी।

शास्त्र-सम्मत जीवन के समर्थक :

शास्त्र पर दृढ़ निष्ठा होने के कारण ही विलायत-गमन, विधवा-विवाह, जाति-परिवर्त्तन, अस्पृश्यता-निवारण आदि आधुनिक आन्दोलनों के वे सदैव विरोधी ही रहे। इसी आधार पर गांधीजी आदि बड़े-बड़े नेताओं से उनका मतैक्य न हो सका। वे पूर्णतया एकनिष्ठ सनातनी पंडित थे। उनके विचा-

१—The reading public Interested in Indian Philosophical Studies will accord a hearty welcome to this brilliant literary enterprise and acquaint itself properly with its creditable achievement. Introductory note to Shakti Bhasya. part Ist, page iv.

२—१३४७ बंगाब्द की 'वसुमति' मासिक पत्रिका में प्रकाशित।

रानुसार आधुनिक अशास्त्रीय जीवन ही समस्त रोगों का उत्पादक है । अंग्रेजों द्वारा बगाल में प्रारंभ की गई 'नील' की खेती को वे मलेरिया तथा विशूचिका जैसे उग्र रोगों का मूल कारण मानते थे ।[1] अति आधुनिकता भी उन्हें प्रिय न थी । कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा संस्थापित शान्तिनिकेतन में स्त्री-नृत्य शिक्षण से उन्हें विशेष चिढ़ थी । उन्होंने कवि से इस विषय पर चर्चा भी की थी और कहा था कि नवयुवक समाज पर जब आपका अत्यधिक प्रभाव है तो क्यों नहीं आप उन्हें शास्त्रीय जीवन-यापन की दिशा में अभिमुख करते? उनके मत में शास्त्रीय जीवन ही मनुष्य मात्र को लोक-परलोक का सुख प्रदान करने में समर्थ है, तद् विपरीत अशास्त्रीय जीवन नरक का द्वार है ।[2]

शास्त्रीय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण पंडित प्रवर श्री पञ्चानन जी ने स्वाचरण द्वारा प्रस्तुत किया था । यहाँ तक कि शौच के पश्चात् कितनी बार दाँयें और कितनी बार बाँयें हाथ पर मिट्टी रखी जाएगी, यह भी उसी शास्त्र-वर्णित रीति से किया करते थे । खान-पान में शुद्ध सात्विकता का उन्हें सदैव ध्यान रहता था । अधिकांशतः स्वयंपाकी ही रहे । अलीपुर बमकेस में एक बार चार दिन के लिए ये कारागार में जब बन्द कर दिये गए तो चारों दिन निराहार ही रहे । अधर्मी का अन्न-जल उन्हें कदापि ग्राह्य न था । उनके भोजन में दूध की ही प्रधानता रहती थी । सायंकालीन भोजन के स्थान पर तो दूध ही ग्रहण करते थे । दूध के अतिरिक्त उन्हें अरवाँ चावल विशेष प्रिय था । चीनी के स्थान पर गुड़ का ही प्रयोग करते थे । फलों में उन्हें बीदाना अनार प्रिय था । पूर्ण निरामिष भोजी थे । इसके अतिरिक्त उनकी दिनचर्या भी शास्त्रानुकूल ही रहती थी । प्रातःकाल चार बजे ब्राह्म मुहूर्त में शैय्या त्याग देते और नियमतः गंगा-स्थान कर पूजन प्रारम्भ करते थे । दिन में चार घण्टे पूजा पाठ और शेष सोलह घण्टे पठन-पाठन, लेखन आदि के कार्य में व्यस्त रहते थे । एक पल भी व्यर्थ चर्चा में नष्ट न करते थे । पत्रों का उत्तर, भले ही उनकी संख्या १५० तक क्यों न पहुँच जाए, एक बार पढ़कर उसी दिन दे देते थे ।[3]

१—बंगीय ब्राह्मण सभा के २८ वें वार्षिक सम्मेलन में सभापति पद से दिया गया अभिभाषण ।

२—'वसुमति' दैनिक में प्रकाशित लेख के आधार पर ।

३—श्री श्री जीव न्यायतीर्थ से हुए वार्तालाप के आधार पर ।

वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षपाती :

वर्णाश्रम व्यवस्था के वे कट्टर पक्षपाती थे। जीवन के तेरह वर्ष उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर स्थान-स्थान पर इसका प्रचार करने में व्यतीत किये। गांधीजी से इस विषय पर उनका सदैव मतभेद रहा। अस्पृश्यता तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलन को एक साथ चलाना वे उचित न समझते थे। उनका कथन था कि अस्पृश्यता हमारा घरेलू प्रश्न है, इसे विदेशियों के समक्ष उठाना ठीक नहीं। वे हमारी इस निर्बलता का अनुचित लाभ उठा सकते हैं, और यही हुआ भी। इस विषय पर उनका गांधीजी से पत्र-व्यवहार भी हुआ। उन्होंने वर्णव्यवस्था को शास्त्राज्ञा रूप में मानने पर बल दिया था।[1]

उदार विचारक :

श्री पञ्चानन जी उदार विचारक थे और उनका मत था कि दीक्षा देकर शूद्र को भी उत्कृष्ट मानव बनाया जा सकता है, परन्तु जाति-परिवर्त्तन किसी भी अवस्था में उचित नहीं। दीक्षा देने के निमित्त-ब्राह्मण ही को सर्वोत्कृष्ट मानते थे। उस ब्राह्मण की भी उनकी एक विशिष्ट परिभाषा थी, अर्थात् वह राजा द्वारा वृत्ति पाने वाला न हो, व्यापारी न हो, बहुयाज्ञी अर्थात् पुरोहित न हो, ग्रामयाज्ञी अर्थात् मूर्खों का पण्डा न हो, चन्दे से जीविका यापन न करता हो, नियमतः सन्ध्या वंदन करने वाला हो आदि आदि। ऐसे ब्राह्मण के अभाव में अभिषिक्त क्षत्रिय आचार्य-पद ग्रहण कर दीक्षा देने का अधिकारी हो सकता है। यदि क्षत्रिय भी न मिले तो अभिषिक्त वैश्य भी शूद्र को दीक्षा देने का अधिकारी है।[2] कलयुग को वे तमोगुण प्रधान युग मानते थे क्योंकि इस युग में विशिष्ट पण्डितों द्वारा उचित मार्ग का दिग्दर्शन करा देने पर भी जन-साधारण उसका अनुगमन नहीं करता। इसका मूल कारण आलस्य को ही मानते थे, जो तमोगुण के आधिक्य का ही परिणाम है।

भारतीयता के भक्त :

यूरोप में छपे वेदों को वे प्रामाणिक नहीं मानते थे और उन्हीं के अनुकरण पर छपे नवीन भारतीय वेद भी उनकी दृष्टि में रेखा-चिह्न मात्र

१—"आमरा अस्पृश्यता के शास्त्राज्ञा रूपे मान्य करि, आर गांधीजी बलिया थाकेन—जाहारा अस्पृश्यता मान्य करेन ताहारा पापी।"
—'वसुमति' दैनिक में प्रकाशित गांधीजी से हुए पत्र-व्यवहार से उद्धृत।

२—ईइलपुर की सनातन धर्म सभा के सभापति पद से दिया गया—प्रथम भाषण।

ही थे। प्राचीन अपौरुषेय प्रत्यक्ष वेदों में जो प्राणप्रतिष्ठा है वह भला इन आधुनिक वेदों में कहाँ ? पुरातन स्मृतियाँ ही, उनके मत में, उन अपौरुषेय वेदों का ठीक अनुमान करा सकती हैं। नई स्मृतियों को भी वे अर्थहीन मानते थे। इसीलिए पुरातन स्मृतियों का विरोध करने वाले सुधारकों को वे धर्म-विरोधी समझते थे। इन धर्म-विरोधियों की भी उन्होंने दो श्रेणियाँ कर रखी थीं। प्रथम श्रेणी में उन समस्त प्रौढ़ पुरुष तथा स्त्रियों को सम्मिलित करते थे जो धर्म का उद्धार करना चाहते हैं। आर्य समाजियों को भी इसी श्रेणी में रखते थे। दूसरी श्रेणी में वह सम्पूर्ण उच्छृंखल नवयुवक मण्डल आता था जो धर्म का मूलोच्छेद ही कर देना चाहता है। इन दोनों श्रेणी के लोगों से उनका विशेष विरोध था। जन्मान्तर तत्त्व तथा ईश्वर की सत्ता में अटल विश्वास-यही उनका शास्त्रानुमोदित सनातन धर्म था।[1]

स्वदेश-प्रेमी :

स्वदेशी वस्त्र तथा वस्तुओं पर उनकी अविचल श्रद्धा थी। घर में कोई भी विदेशी वस्तु प्रवेश न कर पाती थी। भारतमाता के स्वातंत्र्य के हृदय से पक्षपाती होने पर भी वे कांग्रेस-संगठन के स्वरूप से सन्तुष्ट न थे। इसे वे अमेरिका में नीग्रो जाति के लोगों के साथ किया गया गठबन्धन जैसा ही मानते थे। उनका कथन था कि "ऐसे अनुचित साधनों द्वारा प्राप्त की गई स्वतन्त्रता कभी भी कल्याणकारी न होगी, और देश ऐसे विधर्मी लोगों के हाथ में चला जावेगा कि जन-साधारण के कष्टों की कोई सीमा न रहेगी।" उनकी यह भविष्यवाणी आज कितनी सत्य प्रतीत हो रही है, इसे आधुनिक प्रबुद्ध पाठक स्वयं समझ सकता है। इसीलिये वे बाह्य स्वाधीनता की अपेक्षा प्रथमतः आन्तरिक स्वाधीनता पर अधिक बल दिया करते थे। स्वाधीनता आन्दोलन में भी उन्होंने सदैव भारतीय संस्कृति का विशिष्ट रूप ही जन-साधारण के समक्ष रखा। उनका यह कथन कि "श्रुति सम्मत सदाचार द्वारा भारत कभी पराधीन नहीं हो सकता" आज भी मनीषियों द्वारा मनन करने योग्य है।[2]

मेधा के धनी :

शास्त्राधारित अकाट्य तर्कों द्वारा स्वमत को पुष्ट करना पण्डित जी की विशेषता थी। यहाँ इस विषय के कुछ प्रसंग देना अनुचित न होगा।

१—वही—द्वितीय भाषण।

२—ईदलपुर की सभा में दिये गए द्वितीय भाषण से उद्धृत।

बनारस विश्वविद्यालय का उद्घाटन होना था। मालवीय जी ने इनसे तदर्थ शुभ दिन बताने को कहा। इन्होंने विचार कर माघ मास का एक शुभ दिन बता दिया। इसी बीच तत्कालीन ज्योतिषाचार्य श्री रामजस ओझा से भेंट होने पर मालवीय जी ने उक्त दिवस की चर्चा की। ओझा जी ने कथित दिन को 'अकाल' बताया। इधर सुनिश्चित दिवस को जब मुहूर्त न हुआ तो श्री पंचानन जी अपने ज्येष्ठ पुत्र को साथ लेकर मालवीय जी के पास पहुँचे। मालवीय जी ने तनिक व्यंग्य मिश्रित वाणी में छूटते ही कहा—"कहिए पंडित जी, आप तो सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ हैं, मुहूर्त के लिये आपने जो तिथि बताई उसे श्री रामजस ओझा जी ने, जो केवल ज्योतिष के ही विद्वान् हैं, 'अकाल' बताया है।" इस पर तर्कशिरोमणि श्री पंचानन ने शास्त्रों का प्रमाण देकर अपने पक्ष को प्रमाणित किया। फिर क्या था, ओझा जी इनके पैरों पर गिर पड़े और क्षमायाचना की। मालवीय जी ने भी अभिभूत हो, मौन भाव से इन्हें गुरु मानकर प्रणाम किया।[1] इसी प्रकार की एक और घटना है। तत्कालीन् विद्वान् श्री भगवानदास जी बनारस विश्वविद्यालय में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष संज्ञक चार विभाग प्रारम्भ करने पर बल दे रहे थे। श्री पंचानन जी ने धर्म एवं अर्थ विभाग प्रारम्भ करना तो उचित बताया परन्तु काम तथा मोक्ष विभाग का अपने अकाट्य तर्क द्वारा निषेध किया। पूर्व निर्णीत दो ही विभागों का स्थापन हुआ और दश वर्ष तक ये धर्म-विभाग के अवैतनिक अध्यक्ष रहे।

प्रत्येक विषय का समाधान इनकी जिह्वा पर रहता था। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने पर भी ये अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर सुनने मात्र से अर्थ का अनुमान लगा लेते थे। इसीलिये कोई भी व्यक्ति इनकी इस न्यूनता का अनुचित लाभ न उठा पाता था। एक बार बनारस विश्वविद्यालय के एक विभाग-विशेष की कमेटी में सदस्य संख्या को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। मालवीय जी से किसी ने इनके अंग्रेजी से अनभिज्ञ होने के कारण पिछली फाइलों को बिना देखे ऐसी भूल होने की शिकायत की। पूछताछ होने पर इन्होंने झट हिसाब लगाकर अपने से पूर्व अध्यक्षों के काल में दो-दो के अनुपात से हुई बढ़ोतरी का उल्लेख करते हुए अपने समय की सदस्य संख्या के औचित्य की पुष्टि की। मालवीय जी ने उसी समय फाइलें मँगाकर दिखवाईं तो इनकी बात सत्य प्रमाणित हुई।

१—श्री श्री जीव न्यायतीर्थ के साथ हुए वार्तालाप के आधार पर।

त्याग–मूर्ति :

काशी में श्री पंचानन जी ने जीवन के २५ वर्ष सर्वथा निःसंग रहकर व्यतीत किये। बीच में एक बार श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य लिखने के लिए भाटपाड़ा आए भी थे परन्तु श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ के सुन्दर पुत्र लक्ष्मण के आकर्षण में ग्रसित हो जाने के भय से पुनः काशी लौट गए। काशी में रहते हुए इन्हें साढ़े बत्तीस रुपया मासिक वृत्ति मिलती थी। उसमें से दस रुपया दान कर देते थे। शेष धन भी अपने हाथ में न लेते थे। शिष्यों द्वारा सब प्रबन्ध कराते थे। परन्तु एक पैसा भी व्यर्थ व्यय न होने देते थे। उनके मत में दारिद्रय का कशाघात सहते रहना अनिवार्य था, अन्यथा मनुष्य अनुचित मार्गगामी हो जाता है। अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने ज्येष्ठ पुत्र श्री श्रीजीव को कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्वतः प्रदत्त पद ग्रहण नहीं करने दिया। संक्षेप में ये सब घटनाएँ उनकी त्यागपरायणता तथा विद्वत्ता की द्योतक हैं। उनकी शास्त्रों पर प्रगाढ़ निष्ठा तथा सनातन धर्म की अविचल भक्ति इस तामस युग में किसे आश्चर्यचकित नहीं कर देगी ? शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तों के लिए आर्थिक लोलुपता से शून्य इस महान् त्यागी, सच्चे ब्राह्मण के चरणों में किस सात्त्विकचेता पुरुष का मस्तक श्रद्धा से नत न होगा ?

मृत्यु :

जन्म के समान ही श्री पञ्चानन जी की मृत्यु भी अपने में एक अलौकिक घटना है। उस अनन्य देशभक्त ने विदेशी राज्य में प्राण छोड़ना भी उचित न समझा। इसी से वे मृत्यु से ठीक एक मास पूर्व बनारस में अपना निजी मकान त्यागकर उदयपुर महाराज के महलों का एक भाग किराये पर लेकर, उसमें रहने लगे थे।[१] यही नहीं एक मास पूर्व से ही साधारण वार्त्तालाप भी संस्कृत भाषा में ही करने लगे थे। सारांश यह कि उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। ७ अक्तूबर सन् १९४० सप्तमी को जब अन्तिम श्वास उठा तो परिवारी जनों को कह दिया कि हम दुर्गापूजा में विघ्न नहीं डालेंगे[२] अतः योगाभ्यास द्वारा श्वास रोके रहे। नवमी तिथि को तार द्वारा

१—'धर्म सिद्धान्त' संज्ञक पुस्तक के ४५वें पृष्ठ पर अङ्कित उनका निम्न अवतरण 'उदयपुर नरेशादीनां राजन्यानां राज्यस्य भारतान्तर्गतस्य निर्दोषधन्यतायामविवादात् अस्वामिक प्रदेशानां गंगा क्षेत्रादीनांम्लेच्छा दूमधिकृतानामपिम्लेच्छ राज्यत्वा भावाच्च'।

२—बंगाली परिवारों में दुर्गा-पूजा का विशेष महत्व होता है।

दुर्गा-पूजा के निर्विघ्न समाप्त होने की सूचना प्राप्तकर थोड़ा दूध पिया और दशमी को ज्येष्ठ पुत्र श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ के मुख से पूजा का पूर्ण विवरण निम्न श्लोक में सुनकर तृप्ति की साँस ली :—

"सर्वाणि सर्वनिधिवारिनिधि कुवेरस्त्वां भूषयन्नपि न तृप्यति रत्नजातैः।
एकंतु फुल्ल कुसुमं तव पाद पद्मे नन्दी निधाय कुरुते परमार्च्चनं ते॥
कस्यास्ति कीदृगिह वा विभवातिरेको ब्रह्माण्ड धारिणि यतस्तव मण्डनंस्यात्।
विश्वं सचन्द्र वरुणारुण भानुजेन्दंत्वत् पाद पंकजरजः कणिका विकाशः"॥[1]

प्रसादस्वरूप एक गुड़ द्वारा निर्मित रसगुल्ला खाया और बोले "तृप्तोऽस्मि"। अभ्यासानुसार अन्तिम साँस तक 'दुर्गा-दुर्गा' एवं गायत्री का जप करते रहे। उनकी सम्पूर्ण चेतना बराबर बनी रही, कुछ भी विस्मृत नहीं हुआ। अपनी शवदाह क्रिया का प्रबन्ध भी उन्होंने पहले से ही मणिकर्णिका के विशिष्ट व्यक्तियों वाले घाट पर करा रखा था। शवयात्रा की धूमधाम को वे भारतीय न मानते थे, इसीसे सादगी का उन्होंने पहले से ही आदेश दे रखा था। अतः ग्यारह अक्तूबर एकादशी को सायंकाल जब उन्होंने इस नश्वर शरीर को छोड़ अमरलोक को प्रस्थान किया तो उनकी आडम्बरहीन शवयात्रा रात्रि के निविड़ अन्धकार को भेदती हुई पूर्व निश्चित स्थान पर समाप्त हुई।

श्री पंचानन जी द्वारा प्रतिपादित स्वरूपाद्वैतवाद का संक्षिप्त विवरण

(क) प्रमेय भाग

अभी तक प्रचलित अद्वैत मतों—शांकराद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं शाक्ताद्वैत—की परम्परा में स्वरूपाद्वैत एक नई कड़ी के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उक्त सभी प्रमुख मतों का समन्वय करता हुआ चलता है। शंकर के चित् एवं रामानुज के चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म में साम्य लाने के लिये ही सम्भवतः श्री पञ्चानन जी ने ब्रह्म को **सत्ता** मात्र माना है। चित्-अचित् दोनों उस **सत्ता** विशेष के व्यापार मात्र हैं। यहाँ चित् भी सत् है और अचित् भी सत् है। दोनों उस सत्ता रूप महाशक्ति के उभय पर्याप्त लक्षण हैं। वह शक्ति एक है, नित्य है, अन्य साधारण शक्तियों से व्यावृत करने के निमित्त उसे **महाशक्ति** की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर आदि नाम उस महाशक्ति के

१—श्री श्रीजीव न्यायतीर्थ के साथ वार्तालाप के आधार पर।

अनन्तत्व को प्रकट करते हैं। उसी को उमा, हैमवती, काली, दुर्गा, सरस्वती आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। उसी में समष्टि बुद्धि तत्वादि रूप सूक्ष्म देह का अन्तर्भाव होने से उसे विष्णु, नारायण, रुद्र, शिव आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अनेक नामरूप होने पर भी वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में यत्र-तत्र सती, दुर्गा, विष्णु, रुद्र, शिवादि संज्ञाओं को निर्विशेष ब्रह्म परत्व ही बताया गया है।[1] भक्त के प्रति कृपा करके ही वह भिन्न-भिन्न रूपों में साकार होती है। प्रकृति-स्थित अनभिव्यक्त रूपादि ही इस आकार में स्पष्टीकृत होते हैं। बुद्धि तत्व-स्थित बीजभूत रूपादि को ग्रहण करके आविर्भूत साकार ब्रह्म ही नारायण हैं। अहंकार-स्थित उद्गमोन्मुख अंकुर तुल्य रूपादि ग्रहण करके आविर्भूत साकार ब्रह्म ही रुद्र आदि हैं। जैसे विविध प्रकार के वस्त्र धारण करने पर भी परिधानकारी मानव का भेद नहीं होता वैसे ही आकार के पार्थक्य से महाशक्ति और ब्रह्म का भेद नहीं होता।

प्रकृति पुरुष दो होने पर भी उभयस्थित कार्य जननी सत्ता एक है। जिस प्रकार तुष और तण्डुल दोनों के सम्मिश्रण से धान संज्ञा होती है, अर्थात् केवल तुष में अथवा केवल तण्डुल में अंकुरोत्पादिका शक्ति नहीं होती, उन दोनों का सम्मिलित रूप ही धान में है, उसी प्रकार एक सत्ता की दृष्टि से ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय' है। परन्तु केवल चिन्मात्र में इच्छा, यत्न इत्यादि धर्म रह नहीं सकते। सर्वज्ञ भी वह नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि माया के आश्रय से ही यह ब्रह्म गुण युक्त है तो, 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' इस श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि ज्ञान, बल और क्रिया शक्ति यदि स्वाभाविक हैं तो उसे मायिक अथवा औपाधिक नहीं कहा जा सकता है। मायावाद में जगत् को विवर्त्तस्वरूप कहा गया है किन्तु श्रुति में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' कहा गया है, अर्थात् जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। पाणिनि के अनुसार यतः पद में जो अपादान में पंचमी विभक्ति हुई है वह विवर्त्तस्थान में नहीं हो सकती। प्रकृति विकृति भावस्थल में ही यह पंचमी सम्भव है। (सूत्र है 'जनि कर्तुः प्रकृति' पाणिनीय १-४-३०)

१—सतीयमिति श्रुतिः, दुर्गायै दुर्गपारायै इति स्मृतिः, तद्विष्णोः परमं पदमिति रुद्रो महर्षिरिति शिवाय शिवतमाय इत्यादयश्च श्रुतयः प्रतिपादयन्ति।

श्री पञ्चानन जी द्वारा लिखित 'शाक्तवाद सार', पृष्ठ ५।
(ईशावास्योपनिषद् परं शक्तिभाष्यम् सञ्ज्ञक पुस्तक से)

क्योंकि यदि विवर्त्तस्थल में पंचमी होती तो 'रज्जोः सर्पः उत्पद्यते' आदि का भी प्रयोग होता, परन्तु ऐसा तो होता नहीं इसीलिए मायावाद या विवर्त्तवाद श्रुति सम्मत नहीं है। शाक्तवाद का दूसरा नाम स्वरूपाद्वैतवाद भी इसीलिए सार्थक है कि उसमें प्रकृति पुरुष की सम्मिलित मूर्ति अर्धनारीश्वर का प्रतिपादन है जो नित्य सम्बद्ध, एवं चित्-अचित् उभयात्मक है। इसी चित्-अचित् को सांख्य दर्शनकार पुरुष प्रकृति शब्द से एवं शैव सम्प्रदायवादी शिव-शक्ति शब्द से कहते हैं। यहाँ चित् अर्थात् चैतन्य मात्र निर्गुण नित्य एक वह विम्बभूता शक्ति ही शिव एवं महेश्वर शब्द से कही जाती है। वही अचित् है, जो सत्व रज तमोगुणात्मिका है, फलतः एक होने पर भी गुणों का परिणाम विशेष होने से 'शुद्ध विद्या' एवं माया दो नामों से कही जाती है। मोक्ष के निमित्त शुद्ध विद्या की तथा संसार के निमित्त माया की कल्पना की जाती है।

महाशक्ति के अचित् अंश का प्रथम परिणाम ही बुद्धि तत्व है। इच्छा और यत्न प्रभृति बुद्धि वा अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं। उसके पश्चात् क्रमशः परिणाम द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है इसीलिए महाशक्ति प्रकृति-अपादान और चिदंश में ज्ञानस्वरूप होने के कारण दोनों मिलाकर सर्वज्ञ कहलाती हैं। क्योंकि सर्वविषयक ज्ञानयुक्त ही सर्वज्ञ शब्द का अभिध्येयार्थक है। ज्ञानवान् न होने से वे कर्त्ता नहीं हो सकतीं, सर्वज्ञ होने से वे कर्त्ता हैं। महाशक्ति के अचित् अंश में जो शुद्ध विद्या है वही उपासक के प्रति असीम कृपा की आश्रय है। उसी कृपा से जीवनमुक्ति का लाभ होता है। उन्हीं का अचिदंश, जो माया है, निग्रह की इच्छा का आश्रय है। इन दोनों भावों को स्पष्ट करने के लिए एक ही वस्तु को कार्य-भेद के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में प्रदर्शित किया गया है। माया में कृपा भी है किन्तु वह कृपा निम्न अधिकारी की कामना पूर्ण करने के लिए है, उससे बन्धन दूर नहीं होता।

सृष्टि प्रक्रिया :

इस मत में पञ्चभूतों का पञ्चीकरण स्वीकार किया गया है, परन्तु पञ्च-तन्मात्राओं को स्वीकार नहीं किया गया। अभाव, भाव के ही आश्रित अवस्था-भेद मात्र है। इसीलिए अभाव को पृथक पदार्थ में नहीं गिना गया। तत्व-क्रम इस प्रकार है :—

१—महाशक्ति ब्रह्म।

२—चिन्मात्र-शिव, यह निरुपाधिक चैतन्य अथवा पुरुष है।

३—४—अचिन्मात्र प्रकृति, यह उपर्युक्त शुद्ध विद्या एवं माया इन दो रूपों में यथाक्रम मोक्ष और संसार का कारण है।

५— महातत्व–बुद्धितत्व, यह समष्टि रूप में हिरण्यगर्भ नाम से अभिहित है। समष्टि बुद्धि से यह चित् प्रतिबिम्ब द्वारा चेतन है।

६— व्यष्टि बुद्धि तत्व में प्रतिबिम्बित असंख्य जीव इनसे उपत्न्न हुए हैं।

७-–१८– बुद्धितत्व से अहंकार और अहंकार से मनादि एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है।

अहंकार से ही पञ्चभूत आकाशादि पाँच विषयों शब्दादिकों के साथ उत्पन्न होते हैं। ये पंचभूत अपञ्चीकृत और पंचीकृत भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें प्रथम सूक्ष्म होने पर भी एक-एक गुण की वृद्धि पाकर शब्द गुणक, शब्द स्पर्श गुणक आदि रूप वाले होते हैं। इसीलिए सांख्य की पञ्चतन्मात्राओं से ये पृथक् हैं। क्योंकि सांख्य में ये तन्मात्राएँ शब्दादि एक-एक गुण वाली होती हैं। ये सूक्ष्म शब्दादि के आश्रय से रहती हैं, जैसे शब्द तन्मात्रा सूक्ष्म शब्द के आश्रय से और स्पर्श तन्मात्रा सूक्ष्म स्पर्श के आश्रय से रहती है। किन्तु यहाँ पंचभूतों का प्रकृति में और शब्दादि विषयों का विकारों में निवेश कर दिया जाता है इसलिए पंचतन्मात्रा रहित शब्दादि विषय पञ्चक से युक्त महदादि अचित् वर्ग है, यह सिद्ध हुआ। ध्वंस और प्रागभाव, अतीत और अनागतावस्था रूप है। अतीतावस्था दो प्रकार की है–ससस्कार रूप और निःसंस्कार रूप। पुनः आविर्भाव पूर्ण अतीतावस्था ससंस्कार, एवं उसके अभाव वाली निःसंस्कार कहलाती है।

इन प्रमेयों में संकीर्ण रूप से अथवा असंकीर्ण रूप से यथासंभव सभी प्रमाण रहते हैं। महत्तत्त्व की उपाधि द्वारा शक्ति से ही हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। ऐसा श्रुति स्मृति का निर्घोष है। उपाधि की प्रधानता के कारण से ही इसे महत्तत्व शब्द से भी कहा जाता है, इसी क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है।

जीव :

बुद्धि के भीतर चिदंश का प्रतिबिम्ब ही जीव है। प्रतिबिम्ब बिम्ब के अधीन होने से जीव भी तदीय रूप है। अतः जीव भी ब्रह्म की भाँति विभु ही है। जीव का नानात्व उपाधियों के कारण से है। ब्रह्म की भाँति ही जीव भी सगुण और निर्गुण उभय रूप है। शरीर सहित होने से साकार और शरीर रहित होने पर निराकार है। कर्मों के अनुसार कोई सत्व प्रधान है, कोई रजः प्रधान एवं कोई तमः प्रधान। श्रुति सभी को समान रूप से संसार-सागर उत्तीर्ण करने का उपाय बताती है। उस उपाय को समझकर साधक

अपने अधिकारानुसार गुरूपदेश प्राप्त करके जब साधना करेगा तब उत्तम अधिकारी की जीवनमुक्ति होगी, और देह के विलय के साथ आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त होगी। उसकी अपेक्षा न्यूनाधिकारी को ब्रह्मलोक उपभोग और उसके अन्त में आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त होगी। उसकी अपेक्षा भी न्यून अधिकारी को पतनयुक्त ब्रह्मलोक उपभोग, वरुणादि लोक और पितृलोक नामक स्वर्ग प्राप्त होता है। परन्तु पुण्य क्षय होने पर इनका पतन हो जाता है। साधनाहीन अभागे लोगों की तो दुर्गति ही हुआ करती है।

(ख) प्रमाण भाग

स्वरूपाद्वैतवाद में पाँच प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान और (५) अर्थापत्ति। प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान, यह प्रमा क्योंकि पाँच प्रकार की है, जिन कारणों से यह पाँच प्रकार की प्रमा उत्पन्न होती है उन्हीं को प्रमाण कहते हैं।

(१) इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध होने से जिस प्रमा की उत्पत्ति होती है उसे **प्रत्यक्ष प्रमा** कहते हैं। उदाहरणार्थः—चक्षु के साथ किसी बाहरी वस्तु का सम्बन्ध होना ही चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रमा है।

(२) कार्य प्रभृति (व्याप्य) देखकर जो कारण प्रभृति (व्यापक) का ज्ञान होता है उसे **अनुमिति प्रमा** कहते हैं। जैसे पुराने मित्र के सदा साथ रहने वाले नौकर को सामान सहित आता देखकर मित्र के आगमन का निश्चय होना अनुमान प्रमाण है।

(३) छल इत्यादि शंका से रहित शब्द से वृत्ति द्वारा उपस्थित अर्थ सम्बन्ध युक्त जो विशिष्ट ज्ञान होता है उसे शाब्द बोध कहते हैं। शाब्द बोध में पद की वृत्ति अभिधा नामक शक्ति एवं लक्षणा शक्ति होती है और वाक्य की वृत्ति तात्पर्य वृत्ति होती है। अर्थ विशिष्ट शब्द का नाम ही पद है, और पदसमूह का नाम वाक्य। अभिधा शक्ति अर्थात् पद अर्थ का नित्य सम्बन्ध यही ब्रह्मस्वरूप है क्योंकि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार सब पदार्थ ही ब्रह्म हैं। यदि कोई शंका करे कि ऐसा होने से 'पट' घट' पद वाच्य 'पट' 'घट' का अभिधेय है, इस प्रकार का ज्ञान होना चाहिए तो इसका उत्तर यही है कि इस प्रकार के ज्ञान में पटत्वावच्छिन्न अर्थात् पटत्व द्वारा सीमाबद्ध ब्रह्म ही प्रतीत होता है। इस प्रकार के सीमाबद्ध ब्रह्म 'पट' को छोड़कर 'घट' नहीं हो सकते। इसलिए 'पट' 'घट' पद वाच्य है, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु ब्रह्म 'घट' पद वाच्य है ऐसा ज्ञान अस्वीकार नहीं किया जा सकता तो भी सबको इस प्रकार का

ज्ञान होता नहीं। इसका कारण यह है कि संसारी जीव परिच्छिन्नत्व मोह से ग्रस्त है। जैसे पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति शुभ्र वस्त्र को हरिद्रावर्ण देखता है उसी प्रकार मोह ग्रस्त पुरुष को उस प्रकार के शब्द से परिच्छिन्न (सीमा-बद्ध) दर्शन ही होता है। यदि यह कहा जाए कि तब 'शुक्ल घट' इत्यादि शास्त्रीय शब्दों से जो विशिष्ट ज्ञान संसारी जीव को होता है उसको प्रमा कैसे कहा जाए तो इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु जैसी है उसको ठीक वैसा जानना ही तो प्रमा है। 'घट' जब वास्तव पक्ष में ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है तब उसको 'घटत्व' रूप से जानना असम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी भ्रान्त ज्ञान नहीं है। इसीलिए संसारी (जीव) के पक्ष में असम्पूर्ण ज्ञान भी प्रमा ही है, तो भी 'घट' पद से ब्रह्म रूप में ब्रह्म-ज्ञान का न होना, यही भ्रांति है। शास्त्र-वाक्य इस प्रकार की भ्रांति होने के पक्ष में बाधा देते हैं। जब तक यह बाधा रूप भ्रान्त ज्ञान नष्ट होकर वास्तविक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक उस जीव के पक्ष में इस प्रकार का असम्पूर्ण ज्ञान ही प्रमा है। इस अवस्था में सीप को यदि कोई चाँदी कहकर परिचय दे तो उसकी बात से जो ज्ञान पैदा होगा वह प्रमा नहीं है प्रत्युत भ्रांत ज्ञान है। इसका कारण यह है कि वह वाक्य प्रतारणा-शंका का अविषयीभूत नहीं है, अर्थात् उसमें प्रतारणा की शंका रह सकती है। इसीलिए तज्जनित शाब्द बोध प्रमा शाब्द बोध के अन्तर्गत नहीं आ सकती।

(४) सादृश्य ज्ञान से जिस प्रमा की उत्पत्ति होती है वह **उपमिति प्रमा** है, यथा अमुक यज्ञ (दशपूर्ण मास) के सदृश अन्य यज्ञ होगा—इस प्रकार के विधि वाक्य को 'अतिदेश' कहते हैं। किन्तु अतिदेश वाक्य का तात्पर्य क्या है, उसको समझ लेना उसी सादृश्य ज्ञान से होता है। यह अलौकिक उपमिति है। 'ब्रह्म आकाश के सदृश सर्वगत और नित्य है; इस अर्थ का जो उपनिषद् वाक्य है उससे जो आकाश सादृश्य ज्ञान होता है उसके द्वारा सर्व-गत और नित्य इन दो पदों से बने हुए वाक्य का अथवा दो पदों का तात्पर्य ज्ञान हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सर्वगत होने पर भी गतियुक्त नहीं है। नित्य जिसको न करने से पाप हो-ऐसे कर्म की भाँति ब्रह्म नित्य नहीं है। किन्तु वह जन्म विनाशरहित होने से नित्य है। साधारण जन आकाश को इसी रूप में नित्य मानते हैं। साधारण व्यवहार के अनुसार से ही वह उपमान है। उससे सर्वगत और नित्य शब्द का तात्पर्य ज्ञान होता है अतः ये लौकिक—अलौकिक उपमान हैं। कारण यह है कि उपमानांश लोक—प्रसिद्ध है और उपमेयांश लोक से अज्ञात है। ग्रामवासी के बन में जाकर प्रथम

'गवय' दर्शन होने पर 'गवय' 'गौ' सदृश होता है इस पूर्व श्रुत वृद्ध वाक्य के स्मरण से पहले देखे गये 'गवय' का जो 'गवय' नाम से परिचय ज्ञान होता है उसे सादृश्य ज्ञान का फल होने के कारण लौकिक उपमिति कहते हैं।

(५) अर्थापत्ति—जिसके न होने से दृष्टिगोचर होने वाला कार्य नहीं हो सकता अथवा श्रुतिवाक्य असंगत हो रहा है ऐसा जानकर उस वस्तु की जो कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे देवदत्त खूब मोटा होने पर दिन में भोजन नहीं करता है तो रात में भोजन करता है ऐसा चाक्षुष ज्ञान न होने पर भी इसका प्रमाण उसका स्थूलत्व है। दिन रात भोजन न करता तो दुबला हो जाता, इसलिए रात्रि में भोजन करता है यह कल्पना करनी ही होगी। यही कल्पना यथार्थ ज्ञान अथवा अर्थापत्ति प्रमा है। इसे अनुमिति नहीं कह सकते क्योंकि मोटा होने के लिए रात्रि भोजन का नियत सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति नहीं है। केवल दिन में भोजन करने वाला भी मोटा होता है। विशेषतः इस स्थान पर रात्रि-भोजन अनुमेय रूप से प्रस्तुत नहीं हुआ अनुमिति के स्थल में अनुमेय (साध्य) की एवं हेतु की उपस्थिति आवश्यक होती है। इसलिए अर्थापत्ति, अनुमान से भिन्न ज्ञान है।

टिप्पणी—'अभाव' अथवा अनुपलब्धि प्रमाण को पृथक् रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही कर लिया गया है। यही शाक्तवाद सार है।[1] यहाँ अत्यन्त संक्षेप में इसका विवरण दिया गया है जो केवल उपोद्घात मात्र है। अगले अध्यायों में इसका विस्तृत विवरण दिया जाएगा।

भारतीय दार्शनिक चिन्ताधारा में इस सर्वथा मौलिक और महत्वपूर्ण स्वरूपद्वैतवाद का उसी प्रकार गौरवपूर्ण स्थान है जैसा भारतीय अन्य अद्वैतवादी दर्शनों का। वर्तमान काल में, जबकि विश्व में वैज्ञानिक क्षेत्र में शक्ति के अभूतपूर्व रहस्यों का उद्घाटन हो रहा है, इस स्वरूपाद्वैत शक्तिवाद का अत्यन्त प्रमुख स्थान स्वीकार करना ही पड़ेगा। जगत् के रहस्य के उद्घाटनार्थ जो संकेत हमें इस दर्शन में प्राप्त होते हैं उनके आधार पर आज का दार्शनिक और वैज्ञानिक एक समन्वयात्मक दृष्टि का वरदान प्राप्त कर सकता है। यही इस मत का सबसे बड़ा महत्व है।

इस दर्शन के आचार शास्त्र एवं व्यवहार शास्त्र का भी एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण है जो शांकर अद्वैतवाद के आचार-शास्त्र की परम्परा को

१—श्री पंचानन जी रचित ईशावास्योपनिषद् शक्तिभाष्य के परिशिष्ट रूप में लिखित 'शाक्तवाद सार' संज्ञक संस्कृत एवं बंगला भाग से उद्धृत।

अक्षुण्ण रखते हुए भी गृहस्थों के निमित्त एवं सर्वसाधारण जनता के लिए एक ऐसे प्रशस्त पथ का दिग्दर्शन कराता है जिसमें मानव आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी चरम साधना का सूत्र प्राप्त कर सकता है और चरम सिद्धि तक पहुँच सकता है।

भारत में शाक्तमत का आदिस्रोत तथा उस पर उपलब्ध साहित्य

प्रागैतिहासिक स्थिति :

भारत में भगवती शक्ति की उपासना उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं भारतवर्ष।[1] प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी सभ्यता काल (लगभग २००० ई०पू०) में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई में ऐसी नारी आकृतियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई हैं जिनमें से कुछ में तो सामान्य स्त्रियों के चिह्न हैं परन्तु अन्य के विषय में साधारणतः यही कहा जाता है कि वे 'प्रकृतिदेवी' अथवा जगन्माता की प्रतिनिधि हैं।[2] इस खुदाई में अनेक सीलें भी प्राप्त हुई हैं। एक सील पर एक ओर यंत्र अंकित है तो दूसरी ओर देवी की मूर्ति है जो स्पष्टतः देवी उपासना के प्रारंभिक रूप की ओर संकेत करती है। एक दूसरी सील पर सिंह अंकित है जो देवी दुर्गा से सम्बन्धित प्रतीत होता है। एक अन्य सील पर 'शिवा' शब्द अंकित है। इसमें देवी शयन-मुद्रा में दिखाई गई है जो विशेषतः शिव-शक्ति सम्प्रदाय की एकता का सूचक है। मिश्र देश की मूर्तियों के समान एक सील पर देवी का मुख स्त्री का और शरीर सिंह का दिखाया गया है।[3] इससे सिद्ध होता है कि भारत के समान ही एशिया माइनर, मिश्र, फिनीशिया, तथा यूनान में भी शक्ति-उपासना प्रचलित थी। इससे भारतीय शक्तिवाद के साथ इन देशों के मतों का घनिष्ट सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ—उनकी 'प्रकृति देवी' स्वयं अपने अंश से अपने सहयोगी 'प्रभु' का ठीक उसी प्रकार सृजन करती है जिस प्रकार 'महेशानी' 'महेश' को उत्पन्न कर उसके साथ एक होकर सृष्टि

१—N. Barth Op. cit. page 200.

२—Mohan–Jo–Daro and the Indus Civilization edited by Sir John Marshall Vol. Ist. ch. V. P. 49.

३—देखिए 'सैक्शन प्राचीन भारत का इतिहास' : प्रो० ह्वाजनि।

का सृजन करती है ।[1] फिर भी भारत के समान मातृशक्ति की उपासना अन्य कहीं भी उतनी विस्तृत एवं दृढ़ नहीं हुई है । भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में मातृ-मन्दिर और मातृ-मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। प्राचीन काल में इस आद्या शक्ति के प्रतिनिधि 'ग्राम देवता' कहलाते थे । प्रत्येक गाँव के विशेष देवता होते थे, जिनकी संख्या यदि गुजरात में एक सौ चालीस मानी गई है तो मद्रास में इससे दस गुना अधिक बताई गई है। मातृ देवी को भी अम्बा, अम्मा, अम्बामाई, जगदम्बा, देवी आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था । वास्तव में आर्यों से पूर्व की कुछ उन जातियों में, जो कभी भी हिन्दू धर्म के सम्पर्क में नहीं आई थीं, मातृ अथवा 'पृथ्वी देवी' की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी ।[2] फिर भी 'शक्तिवाद' के पुष्ट प्रमाण हमें मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सामग्री में भी नहीं मिलते । जो कुछ मिलते भी हैं वे केवल सूचना मात्र देते हैं । इन सूचनाओं के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि भारत में मातृदेवी की उपासना अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है । मातृ–पूजन के इस प्रारंभिक युग में ही देवी को 'शक्ति' का रूप दे दिया गया था और इसी के साथ-साथ एक 'महापुरुष' की भी कल्पना कर ली गई थी, जो बाद में शिव के नाम से प्रख्यात हुए । 'शिव-शक्ति का यह सम्मिलित पूजन ही 'शाक्तवाद' का आदिस्रोत कहा जा सकता है । शक्ति को ही शिव की जन्मदात्री माने जाने के कारण उसे शिव की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया । धीरे-धीरे जैसे शिव को इतर देवों से श्रेष्ठ मानकर 'महादेव' कहा जाने लगा वैसे ही 'शक्ति' को भी अन्य सब देवियों से श्रेष्ठ मानकर 'महादेवी' कहा जाने लगा और उनके उपासक 'शाक्तमतावलम्बी' कहलाने लगे ।[3]

वैदिक काल :

ऋग्वेद की ऋचाओं में 'शक्ति' एक सुनिश्चित उत्पादक तत्व के रूप में वर्णित नहीं की गई किन्तु प्रकृति की अपरिमित शक्ति ने कभी अपने भयंकर

१—Their Central figure is a mother or Nature Goddess. who out of her own being creates her partner God just as the Indian Mother Goddess creates siva & then in Union with Him becomes the Mother of all things. (Mohan–Jo Daro and the Indus civilization. p-57.58)

२—Mohan-Jo-Daro and the Indus civilization. p. 51.

३—See Mohan Jo-Daro and the Indus civilization. p. 57.

तो कभी सुन्दर रूप द्वारा ऋषियों के मन को अभिभूत अवश्य किया और वे नाना देवी शक्तियों की कल्पना करने लगे। इस प्रकार वैदिक युग का प्रत्येक देव, 'शक्ति' सहित माना जाने लगा।[१]

सरस्वती :ऋग्वेद में सर्वप्रथम हमें वेदवाणी सरस्वती का वर्णन मिलता है। यह वर्णन प्रथम नदी रूप में तदनन्तर देवता रूप में। वह बलों, ज्ञानों, ऐश्वर्यों और अन्नादि को सिद्ध करनेवाली तथा सबको पवित्र करनेवाली है। यह उत्तम बुद्धिवाले विद्वान् पुरुषों को ज्ञान-प्रदान करती हुई उनके यज्ञ, श्रेष्ठ कर्म, और देवोपासना को धारण करती है।[२] कमनीय स्वभाव युक्त विद्यारूपा सरस्वती सृष्टि के समस्त कण-कण में तथा अन्तरिक्ष में भी व्याप्त है।[३] ज्ञान का प्रकाश देनेवाले परम सुखदाता प्रभु की कामना करते हुए विद्वान् लोग सरस्वती को सर्वप्रशस्त ज्ञान से सम्पन्न शक्ति स्वीकार करते हैं।[४] इला और मही के साथ, सरस्वती से, सुख उत्पन्न करनेवाली होकर, स्वगृह में विराजने की प्रार्थना की गई है।[५] इनके अतिरिक्त होत्रा और भारती देवियों के साथ भी सरस्वती का वर्णन मिलता है।[६] लोक-हितकारी कार्य करते समय प्रतिपक्षियों के घात-प्रतिघात द्वारा मन में क्षोभ उत्पन्न होने की स्थिति में, देवी से अपने ज्ञानमय एवं स्नेहमय लेपन द्वारा उस घाव को भरने की प्रार्थना की गई है।[७]

१—In the hymns of Rigveda we do not find any mention of Sakti as a definite creative principle. But the Immense forces of nature.........sometimes terrible and sometimes pleasing.........influenced the mind of Rishis......led them to believe......many divine powers ......Thus every one of the principal gods of the vedie pantheon may be said to have in a sense, a basis of Sakti (Sakti or Divine Power p. 8)

२—देखिए- ऋग्वेद प्रथम मण्डल, अ० २, सू० ३, मन्त्र १०, ११, १२ (भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा, अजमेर संस्करण, सं० १९८७)।

३—देखिए—वही, षष्ठ मण्डल सूक्त ६१ के सभी मन्त्र।

४—देखिए—वही, दशम मण्डल, सू० १७ के ७, ८ तथा ९ मन्त्र।

५—द्रष्टव्य ऋग्वेद प्रथम मण्डल, सू० १३, मन्त्र ९।

६—ऋग्वेद- १-१४२-९।

७—अथर्ववेद, सप्तम काण्ड, सू० ५७, मन्त्र १।

उषा : वेदों में द्वितीय बहुवर्णित देवी 'उषा' है। वह अविनाशिनी, पापों का नाश करनेवाली व्यापक आश्चर्य शक्तिशालिनी, अतिदीप्तिमती, ईश्वरीय शक्ति कही गई है। देवी का कुमारी भाव सुन्दर रूप में वर्णित है। वह यौवन के पूर्व वयस में विद्यमान कन्या के समान प्रभात में सर्वप्रथम ज्ञान प्रकट करती है। तत्पश्चात् तेजस्विनी ब्रह्मचारिणी के समान अति तेजस्वी पुरुष 'सूर्य' का आश्रय ग्रहण करती है। वह कान्तिमयी नववधू के समान नानारूप बदलती है।[१] वह समस्त विद्याओं से पूर्ण, सर्व ज्ञान प्रकाशक वेदमय तेज है जो दुःखदायी अज्ञान से भिन्न, सबसे पूर्व विद्यमान, उत्तम ज्ञानकर्मोपदेश से युक्त परमेश्वर की कन्या, विविध ज्ञानों का प्रकाश करने वाली, पापों को दग्ध करनेवाली, एवं समस्त मनुष्य मात्र के लिए जानने योग्य ज्ञानमार्ग को प्रकट करनेवाली है।[२]

अदिति : इसका मातारूप में वर्णन है। यह सम्पूर्ण भूतों की जननी है। इसके प्रकाशवान् पुत्र 'आदित्य' कहलाते हैं। समस्त प्रपंच इसीसे उत्पन्न होता है तथा इसी में लय होता है।[३] प्रकृति के परमाणुओं में घनीभाव से उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ ही अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि पुमान् नामों से पुकारी जाती हैं।[४] जैसे बालक माता के स्तन की अभिलाषा करता है वैसे ही जीव, प्रभु रूप माता के शब्दमय वेदोपदेश की आकांक्षा करता हुआ ज्ञान के सर्वोपरि सत्य ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।[५] संसार का रचयिता परमेश्वर सर्व जगत् को पूर्ण करनेवाली प्रकृति को धारण करता है। तभी यह समस्त उत्पन्न होनेवाला जगत् उत्पन्न होता है। अतः यह प्रकृति जगत् की माता होकर अव्यक्त रूप से उसमें विद्यमान रहती है।[६] वह हर्षयुक्त युवा स्त्री के समान परमेश्वर में मिली हुई रहती है।[७] वह ब्रह्म की पत्नी अति भयानक, विशाल एवं अति शक्तिशालिनी है।[८] जीव उस ब्रह्म एवं प्रकृति से उसी

१—ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, सू० ३० के २०,२१,२२ मन्त्र तथा सू० ६२ के १-१५ मन्त्र।

२—ऋग्वेद, चतुर्थ मण्डल, सू० ५१,५२ के मन्त्र।

३—ऋग्वेद, प्रथम मण्डल ७२ तथा ८९ सूक्त तदनुसार मन्त्र ९, १०।

४—द्रष्टव्य ऋग्वेद १-१६४-१६।

५—ऋग्वेद नवम मण्डल सू० ८६, मन्त्र ६।

६—ऋग्वेद, दशम मण्डल, सू० १७, मन्त्र १।

७—चतुर्थ मण्डल (ऋग्वेद) सूक्त १८, मन्त्र ८।

८—ऋग्वेद, दशम मण्डल, सू० १०९, मन्त्र ४।

प्रकार उत्पन्न हुआ जैसे पुत्र माता एवं पिता दोनों से उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में वह एक था फिर वह फटकर दो भागों में फूटा। इस प्रकार गाय के खुर के समान एकाकार प्रजापति भी स्त्री पुरुष दो मूर्ति होकर स्थित हो गये।[१] 'अर्धनारीश्वर' का मूल स्रोत यही कहा जा सकता है।

वह परमेश्वरी शक्ति सर्वव्यापक होने से 'गौ' है। उसका पर पद आकाश तथा अवर पद यह लोक है। दोनों के बीच स्थित जगत् को अपने सामर्थ्य से धारण करती हुई वह सर्वोत्तम होकर विराजती है। वह महदादि प्रकृति के विकृति गण में से किसी के भी आश्रित होकर जगत् का प्रसव नहीं करती प्रत्युत परमेश्वर की निरपेक्ष शक्ति के रूप में ही जगत् का सृजन करती है। वह सबको सुखकारी उत्तम भोग देनेवाली है।[२] वह विद्युत के समान ब्रह्मज्ञान का उपदेश करनेवाली और आनन्दरसों को उत्पन्न करनेवाली है। एकमात्र परमेश्वर का ज्ञान कराने से वह 'एक पदी' है। गुरु-शिष्य दो द्वारा ज्ञात होने से 'द्विपदी' है। चारो वेदों में आश्रित होने से 'चतुष्पदी' है। चारो वेदों और चार उपवेदों में व्यापक होने से 'अष्टपदी' है। वही एकमात्र नवें ब्रह्म के आश्रित होने से 'नवपदी' है। सहस्रों प्रकार से अक्षर ब्रह्म का वर्णन करने और सहस्रों अक्षर 'ककारादि' वर्णराशि युक्त होने से 'सहस्राक्षरा' है। वह परम रक्षा-स्थान, ओंकार प्रणव में आश्रित है। वह सबको ज्ञान प्रदान करती है और अज्ञान का नाश करती है। उसी शक्ति से समस्त लोक जीवित हैं तथा अक्षय जीवनी शक्ति एवं समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।[३] वही 'विश्वकर्मा' तथा 'विश्वधाया' है।[४] यह स्थूल प्रकृति परम सूक्ष्म प्रकृति से प्रकट हुई और वह परम सूक्ष्म प्रकृति माता, सर्वज्ञ, सर्वविधाता ब्रह्म शक्ति से प्रकट हुई। वह परम ज्ञानमयी विधातृ शक्ति 'स्वयंभू' है।[५] वह 'मधुकशा' ब्रह्मशक्ति माता के समान उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ रूप बालक का पालन पोषण करती है।[६] ब्रह्मविद्या तथा अविद्या के वर्णन में

१—ऋग्वेद, दशम मण्डल, सू० ६१, मन्त्र १६।
२—अथर्ववेद, विंश काण्ड, सू० १३५, मन्त्र ३।
३—ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, सू० १६४, मन्त्र १७ तथा ४०।
४—द्रष्टव्य ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, सू० १६४, मन्त्र ४१,४२।
५—यजुर्वेद, प्रथमोध्याय, मन्त्र ४।
६—अथर्ववेद, अष्टम काण्ड, सू० ६, मन्त्र ५ तथा ८-११।

विद्या को उत्कृष्टतम लोक में पहुँचानेवाली तथा अविद्या को नीचे ले जाने वाली कहा है। अतः विद्या द्वारा अविद्या का नाश करना ही उचित है।[१]

वाणी : शाक्तमत का आधारभूत 'देवी-सूक्त' ऋग्वेद में वाक्सूक्त के नाम से वर्णित है। इसमें देवी स्वयं अपना वर्णन करते हुए कहती है—"मैं सर्वत्र तेज से चमकनेवाली सबको चमकानेवाली और राष्ट्र की स्वामिनी के तुल्य, सर्व शक्तिमान ईश्वरी शक्ति हूँ। मैं नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाली, समस्त लोकों को प्राप्त करानेवाली, यज्ञों द्वारा उपास्य सबसे श्रेष्ठ और ज्ञानवती हूँ।"[२] उस वाणी को शरीर की चेतना कहा गया है। वह सब इन्द्रियों को चेतनांश और प्राण-प्रदान करनेवाली है।[३] परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी चारों वाणियों का वर्णन है जिनमें अग्रिम तीन गुहा में निहित हैं। चतुर्थ मनुष्यों के व्यवहार में आती है। वाक् को परमेष्ठी कहा गया है।[४]

रात्रि : अन्तिम महत्व की देवी रात्रि है, जिसका सम्बन्ध शाक्तमतावलम्बी 'काली' से जोड़ते हैं। वह अनेक सुखों को देनेवाली विविध प्रकार से संसार को प्रकाशित करनेवाली प्रभु-शक्ति है। सब प्राणी वृक्ष पर पक्षियों के समान उसी पर आश्रित हैं। दुष्टों को दण्ड देने के लिए इसी देवी से प्रार्थना की जाती है।[५]

ब्राह्मण एवं आरण्यक :

ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में ब्रह्म की शक्ति का **गायत्री, सावित्री** आदि नामों से वर्णन किया गया है। सद्ब्रह्म के स्वरूप का गायत्री मन्त्र के गान द्वारा रक्षण करनेवाली शक्ति को गायत्री कहा गया है। ब्रह्म का तेज इस विश्व का भरण करता है, विश्व में रमण करता है और अन्त में विश्व का उसमें लय होता है। गायत्री भी तदनुसार भरण, रमण और गमन करने वाली होने से भर्गमयी, तेजोमयी, ज्योतिर्मयी आदि नामों से अभिहित होती है। उसी में से विश्व का प्रसव होता है। इससे उसको सावित्री भी कहते

१—द्रष्टव्य अथर्ववेद, नवम काण्ड, सू० १, मन्त्र १-१०।
२—" ऋग्वेद, दशम मंडल, सू० १४५ मन्त्र १-६।
३—" ऋग्वेद, दशम मंडल, सू० १२५ मन्त्र १-८।
४—" यजुर्वेद, चतुर्थोध्याय, मन्त्र १७-२०।
५—" ऋग्वेद, प्रथम मंडल, सू० १६४, मंत्र ४५ तथा अथर्ववेद १४-६-३।

हैं।[1] गायत्री ही ब्रह्म है।[2] वही अक्षर ब्रह्म है।[3] वेदों की भाँति यहाँ भी **सरस्वती देवी** का प्रथम नदी रूप में तत्पश्चात् देवता रूप में वर्णन मिलता है। स्वशुद्धि हेतु, यज्ञ का वहन करने की सरस्वती देवी से प्रार्थना की गई है।[4] जननी स्वरूपा देव, गन्धर्व, मनुष्य, पितरों एवं असुरों की माता **अदिति** ने सृष्टि की रचना किस प्रकार की, इसका दृष्टान्त भौतिकी यज्ञ की रचना के विवरण में मिलता है।[5] **दुर्गा देवी** का विस्तृत वर्णन तैत्तिरीयारण्यक में मिलता है। तांत्रिकों की दुर्गा देवी का आधार स्तम्भ यही वर्णन कहा जा सकता है। दुःस्वप्ननाशिनी दुर्गा देवी से अपने सब पापों को हरण करने की प्रार्थना की गई है।[6]

इनके अतिरिक्त **राका, सिनीवाली** आदि देवियों का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।[7] अष्ट चक्र, नवद्वारों वाले देवताओं के निवास-स्थान पुर (शरीर) का वर्णन है जिसमें हिरण्मय कोश ज्योति से आवृत कहा गया है।[8] वाक् का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सम्पूर्ण वाणी को ब्रह्म कहा गया है।[9] इस प्रकार ब्रह्म की एक व्यापक 'सत्' देवतामयी शक्ति का उपास्य रूप में वर्णन ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में मिलता है। वह शक्ति प्राणमयी, जीवनमयी, आनंदमयी तथा ब्रह्म के स्वभाव धर्मों को प्रकट करने वाली होने से सच्चिदानन्दमयी मानी जाती है। तांत्रिक ग्रन्थों में इस आद्याशक्ति

१—गोपथ ब्राह्मण, प्रपाठक १, कण्डिका ३१ से ३८ तक।

२—ऐतरेयारण्यक, अ० ?, ख० १ तथा ३।

३—तैत्तिरीयारण्यक, प्र० १०, अ० १६।

४—ऐतरेय ब्राह्मण, अष्टम अध्याय, प्रथम खण्ड, ऐतरेयारण्यक १-४ तथा शांखायनारण्यक, प्रथम अध्याय।

५—तैत्तिरीयारण्यक २-६ एवं १०-२१ तथा गोपथ ब्राह्मण २-१५।

६—तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक १० अनुवाक प्रथम (समस्त)।
सहस्रपरमा देवी शतमूला शतांकुरा। सर्वं हरतु मे पापं दूर्वा दुःस्वप्ननाशिनी।

७—ऐतरेय ब्राह्मण १५-४ तथा ३२-९।

८—अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः। स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः। —तैत्तिरीयारण्यक—१-२७।

९—शांखायनारण्यक ७-२३।

को शांकर वेदान्त के समान 'माया' अर्थात् मिथ्या नहीं माना गया है, क्योंकि अग्नि के दाह-प्रकाश धर्म को मिथ्या माना जाए तो अग्नि का स्वरूप कैसे स्थिर होगा ? इस त्रिपुर धाम की अधिष्ठात्री देवी को 'त्रिपुरा' के अतिरिक्त आरण्यक ग्रन्थों में **सुभगा, सुन्दरी, अम्बिका** आदि भी कहा है। यह धर्म, अर्थ, काम,-इन तीन पुरुषार्थों को सिद्ध करती है और ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—छः भग अर्थात् दिव्य गुणों को प्रदान करती है, इसीलिये इसे 'सुभगा कहते हैं। इसकी उपासना कराने वाले वेदकाण्ड को सौभाग्य काण्ड कहते हैं। शाक्तवाद के पारिभाषिक शब्द बिन्दु, बीज, नाद आदि के बीज आरण्यक के उपासना प्रकरणों में मिल जाते हैं।[1]

शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती देवी को 'पशु बलि' देने का वर्णन मिलता है।[2] सामविधान ब्राह्मण में भी रात्रिदेवी का उल्लेख किया गया है।[3]

उपनिषद् :

उपनिषदों में ब्रह्म में अन्तर्निहित शक्ति को ही सर्वप्रपंच का कारण माना गया है। ऋषियों ने ध्यानावस्थित होकर यह अनुभव किया कि ब्रह्म की निजशक्ति ही, जो उसके स्वरूप में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, कारण है।[4] जिस समय सर्वत्र अज्ञान का अन्धकार था और जब अहोरात्रि का भेद नहीं था,जिस समय जगत् कारण सत् अर्थात् व्यक्त नहीं था और असत् अर्थात् अव्यक्त भी नहीं था, जिस समय केवल ब्रह्म शान्त अर्थात् शिव रूप से स्थिर था, उस समय जगत का प्रसव करने वाले सविता का प्रार्थनीय अक्षर तेज उन्मुख हुआ और उसमें से प्राचीन कल्प की पुरातन 'प्रज्ञा' अथवा 'स्फुरणा' प्रकट हुई।[5] 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' अर्थात् ब्रह्म एक होने पर भी शक्ति के योग से अनेक रूप होता है। उसकी विविध शक्तियों में 'इच्छा, ज्ञान और क्रिया' प्रमुख मानी गई हैं।[6] फिर भी

१—द्रष्टव्य—'नर्मदाशंकर मेहता' कृत 'शाक्त सम्प्रदाय' संज्ञक ग्रन्थ।

२—शतपथ ३-९-१-७ तथा ५-५-४-१।

३—सामविधान ब्राह्मण ३-८।

४—ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देहात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १-३।

५—'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्नसन्नचासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।'-श्वेताश्वतर ४-१८।

६—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'
—श्वेताश्वतर ६-८।

शक्ति और शक्तिमान् का अभेद नित्य है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः)। वही स्त्री, पुरुष, कुमार वा कुमारी है।[1] भक्तजन अपने भावानुकूल उसके विग्रह की उपासना करते हैं। उसकी माया को 'प्रकृति' कहते हैं तथा मायापति को 'महेश्वर'।[2] वह परम सूक्ष्मतम वस्तु ही 'आत्मा' है और वह सत् स्वरूप से सर्वत्र व्याप्त है।[3] सृष्टि से पूर्व उस 'आत्मा' के अतिरिक्त कुछ भी न था।[4] अकेले होने के कारण ही वह रमण नहीं कर सका, अतः उसने दूसरे की इच्छा की। वह ऐसा था जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए होते हैं। उसने अपने इस रूप के दो भाग किये जिससे वे पति-पत्नी जैसे हो गए।[5] ब्रह्म की शक्ति 'उमा' 'हैमवती' है; उसी ने देवगण के परस्पर विवाद का निर्णय एवं उनकी शंका का समाधान किया।[6] वही पराकाष्ठा एवं परागतिः है।[7] वह शक्ति सत् चित् आनन्द की लहरी है; स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की परमशोभा है; वह भीतर बाहर व्याप्त रहती हुई स्वयं प्रकाशित हो रही है। वह समस्त दृश्य पदार्थों के पीछे रहने वाली वस्तु-सत्ता प्रत्यक-चिति है; वह आत्मा है, उसके अतिरिक्त सभी कुछ असत् और अनात्म है। वह नित्य, निर्विकार, अद्वितीय परमात्मा की परम दिव्य चेतना की आदि अभिव्यक्ति है।[8]

मैत्रेय्युपनिषद् में ब्रह्म के दो दो रूप कहे गए हैं; मूर्त्त तथा अमूर्त्त जो मूर्त्त है वह असत् है, जो अमूर्त्त है वह सत् है, वह ब्रह्म है और वही 'ज्योति' है।[9] शाक्तों ने संभवतः इन दोनों रूपों को समन्वित करके 'ब्रह्म'

१—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।' —श्वेताश्वतर ४-३.

२—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' श्वेताश्वतर ४-१०।

३—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।'
—छांदोग्योपनिषद ६-८-६ एवं ७।

४—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्।' —ऐत० १-१.

५—'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। सहैतावानास। यथा स्त्री पुरुष संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वैधायातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्'। —बृह० उप० १-४-३ तथा १-४-७.

६—केनोपनिषद् ३-२५, २६.

७—'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।' काठ० १-३-११.

८—'सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरंतरनुप्रविश्यस्वयमेकैव विभाति। सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा चिदाद्या द्वितीय ब्रह्म संवित्तिः।'
—बह्वृचोपनिषद् १—ख.

९—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चाथ यन्मूर्त्तं तदसत्यं, यदमूर्त्तं तत्सत्यं, तद्ब्रह्म, यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः।' मैत्रेय्यु०—५-३.

को ही 'शक्ति' की संज्ञा दी है। कैवल्योपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति अचिन्त्य अलौकिक कही गई है। उसी शक्ति के बल पर वे बिना पैर के चलते हैं, बिना हाथ के ग्रहण करते हैं, बिना नेत्रों के देखते हैं, और बिना कान के सुनते हैं।[१] अग्नि जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् चिति-शक्ति से व्याप्त है।[२] 'या सरस्वती, या श्रीः, या गौरी, या प्रकृतिः, या विद्या इत्यादि नामों से उसी चिति-शक्ति का निर्देश किया गया है। इनका जप करने से अमृत की प्राप्ति होती है।[३] इसीलिए नारायणोपनिषद् में विविध प्रकार से इनका आह्वान किया गया है।[४]

इनके अतिरिक्त शक्तिवाद के १४ उपनिषदों में शाक्त मत की विशद व्याख्या की गई है, तथा शक्ति के विविध स्वरूपों का विवेचन किया गया है। शाक्त-मत की आधारभित्ति ये ही उपनिषद् हैं।

१. त्रिपुरोपनिषद्—यह ऋग्वेद की उपनिषद् है। इसमें भगवती चिच्छक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप तीनों शरीरों में, देवयान, पितृयान तथा महायान रूप तीनों पथों में, 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षरों में मातृका रूप में और जीव में विराजमान है। ब्रह्मादि देवताओं की भी महिमा है। वह अजरा एवं चिरन्तना है।[५] उसके नव चक्रों, नव योनि, नव योग, नव योगिनी, नव भद्रा, नव मुद्रा, आदि का वर्णन है।[६]

२. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्—इसमें श्रीविद्या की स्थूल एवं सूक्ष्म पूजन-पद्धति का विवरण है तथा गायत्री मन्त्र का शाक्तवाद की दृष्टि से तात्पर्य वर्णित है।[७]

१—'अपाणिपादोऽहमचिंत्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स श्रृणोम्यकर्णः।' २-११.

२—बृहज्जाबालोपनिषत् २-८, २-६, ३-१.

३—नारायणोपनिषद् २-७, २-१०, २-३४, २-३५ तथा २-४२.

४—नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ४-६ से ४-१०।

५—तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥१॥

६—नवयोनिं नव चक्राणि दीधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथाः स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ॥२॥

७—अथैतस्मिन्नंतरे भूर्भुवः स्वस्त्रीणि स्वर्गभूपातालानि त्रिपुराणि हरमायात्मकेन ह्रींकारेण हृल्लेखाख्या भगवती त्रिकूटावसाने निलये विलये धाम्नि महसा घोरेण प्राप्नोति। सैवायं भगवती त्रिपुरेति व्यापद्यते ॥१-१.

३. देव्युपनिषद्—इसमें वाक्सूक्त के मंत्र हैं तथा श्रीविद्या की पंचदशाक्षरी वर्णित है। सब देवों ने देवी से पूछा कि हे महादेवी! तुम कौन हो? देवी ने कहा कि 'मैं ब्रह्मस्वरूपिनी हूँ। मुझसे प्रकृति पुरुषात्मक सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्दों की आनन्द हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् मैं ही हूँ।'[1]

४. भावनोपनिषद्—यह अथर्ववेद की उपनिषद् है। इसमें देवी के परस्वरूप का वर्णन है। शाक्ताद्वैतवाद की भित्ति इसी उपनिषद् पर आधारित है। इसमें स्थूल देह में 'श्रीचक्र' की भावना की गई है। इसका कारण बताते हुए कहते हैं: 'नवत्व साम्यात् नवरन्ध्र रूपोदेहः। नवशक्ति रूपं श्रीचक्रम्।.....क्रिया शक्ति पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छा शक्तिर्महात्रिपुर सुन्दरी। ज्ञाता होता। ज्ञानमर्घ्यम्। ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेद भावना श्री चक्र पूजनम्।' इस भावना का फल बताते हुए कहा है: 'एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवताऽऽत्मैक्यसिद्धिः चिन्तितकार्यायत्नेन सिध्यन्ति स एव शिवयोगीति कथ्यते।'

४. सरस्वती रहस्योपनिषद्—इसमें ऋग्वेद संहिता के सरस्वती सम्बन्धी सारभूत मन्त्रों का संकलन है और उनका तान्त्रिक विनियोग है :—

या सांगोपांगवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥७॥

६. सीतोपनिषद्—इसमें सीता रूप में शक्ति का वर्णन है :—

मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता।
प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरित्युच्यते ॥२॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्दकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥७॥

७. बह्वृचोपनिषद्—इसमें शक्ति सम्प्रदाय की 'कादि' और 'हादि' विद्या का वर्णन है और 'ललिता' नाम से शक्ति की विशद व्याख्या की गई है।

८. सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद्—इसमें निष्कामियों को ही श्रीविद्या की सिद्धि होती है। सकामियों को नहीं—ऐसा वर्णित है :—

१—'साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च। अहमानंदानानंदाः विज्ञानाविज्ञाने अहम्। ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये।१। ....अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत्............।२।

'निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः । न कदाऽपि सकामानामिति ।' १–९ इसमें नवचक्र में देवी की उपासना विधि भी बताई गई है ।[1]

इन आठ उपनिषदों के अतिरिक्त-काली, तारा, अद्वैत भाव, कौल, श्रीविद्या तारक और अरुणा–उपनिषद् तांत्रिक ग्रन्थमाला की ११वीं जिल्द में प्रकाशित है । वे १०८ उपनिषदों के समूह में नहीं मिलते । अतः वाममार्ग के प्रचार के बाद प्रकाश में आये प्रतीत होते हैं । कदाचित् इनका सम्बन्ध शाक्तमत की उसी शाखा विशेष से है ।

वेदांग :

व्याकरणागम में पुण्यराज कृत भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' में 'वाक्' को चैतन्य का बहिर्गामी वेग माना गया है । अन्तर्निष्ठ प्रत्यगात्मा का अन्य प्राणी को प्रबोध देने के प्रयत्न का नाम 'शक्ति' और वह आत्म वस्तु में से स्रवित होती है । अर्थ से अपृथक् यह शक्ति सूक्ष्म 'वाक् देवी' है । भर्तृहरि के ब्रह्मकाण्ड में इस आत्म चैतन्य शक्ति को सम्पूर्ण शब्दों और अर्थों की प्रकृति कहा गया है । यह 'देवी वाक्' इस प्रपंच में बिखरी हुई दीखती है ।[2]

वैयाकरण—सिद्धान्त–मंजूषा में कहा गया है कि परमेश्वर की सर्जन करने की इच्छा से मायावृत्ति प्रकट होती है । उसमें से तीन गुणों वाला अव्यक्त बिन्दु प्रकट होता है । उस बिन्दु रूप अव्यक्त को ही शक्ति तत्व समझना चाहिये । बिन्दु का जड़ अंश 'बीज', चैतन्यांश 'अपर बिन्दु' और मिश्रांश 'नाद' है ।[3]

शक्ति सम्बन्धी सूत्र तथा स्तोत्र साहित्य :

सूत्र साहित्य में अगस्त्य का 'शक्ति सूत्र' दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि उतने महत्व का नहीं है तथापि शक्ति सम्बन्धी-सूत्र साहित्य का श्री गणेश अवश्य करता है । बादरायण के ब्रह्म-सूत्र की भाँति ही 'अथातो शक्तिजिज्ञासा' से ये सूत्र प्रारम्भ होते हैं । परन्तु बादरायण के सूत्रों के समान इनका दार्शनिक महत्व नहीं है । इसकी अपेक्षा अगस्त्य कृत 'शक्ति-महिम्नः स्तोत्र' का

१—For these eight Upnisads see. The Sakta Upanisads with the commentary of Shri Upanisad Brahma-Yogin. edited by Pandit A. Mahadeva Sastri. B. A. Director. Adyar Library.

२—वाक्यपदीय १-१० तथा २-१५६ ।

३—श्री नर्मदा शंकर मेहता लिखित 'शक्ति सम्बधी साहित्य' से उद्धृत (कल्याण का शक्ति अंक) ।

अधिक महत्व है। 'श्री विद्या दीपिका' नामक ग्रन्थ भी अगस्त्य के नाम से कहा जाता है; इसमें पंचादशी मन्त्र की व्याख्या है, जिसे उन्होंने हयग्रीव से प्राप्त किया था।

दुर्वासा ऋषि के 'ललिता स्तव-रत्न' तथा 'परा-शम्भु स्तोत्र' आगमसाहित्य की विपुल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। प्रथम में उन्हें सकलागमाचार्य चक्रवर्ती कहा जाता है द्वितीय परा-शम्भु-स्तोत्र कई भागों में विभक्त है, जिसमें क्रियाशक्ति, कुण्डलिनी, मात्रिका, आदि पर विचार किया गया है। इनके 'त्रिपुरा महिम्नः स्तोत्र' तथा 'आर्यापंचाशत्' आदि ग्रन्थ विशेष अध्ययन करने योग्य हैं।

दत्तात्रेय की 'दत्त-संहिता' में अठारह हज़ार श्लोक थे। उसका संक्षेप परशुराम ने छः हज़ार सूत्रों में किया, जो पचास काण्डों में विभक्त था। हारीत गोत्र के सुमेधा ने उपर्युक्त संहिता तथा सूत्रों का संक्षेप करके दत्तात्रेय और परशुराम में परिसंवादात्मक शैली में ग्रन्थ लिखा जो श्री गोपीनाथ कविराज जी के मत में 'त्रिपुरा रहस्य' से मिलता जुलता है। शाक्तमत के दूसरे विद्वान् उसे 'दशखण्डी' नाम से प्रसिद्ध मानते हैं। जिसमें 'दीक्षा खण्ड', 'गणेश पद्धति', 'ललिता क्रम', 'पन्द्रह नित्या' तथा 'प्रधान देवता' कालयांग पूजन, श्री चक्रपूजनपद्धति, काम्य प्रयोग, निष्काम प्रयोग, सम्पूर्ण मन्त्रों की सामान्य पद्धति, समयाचार संग्रह, कौलाचार आदि विषयों का विवरण है। भास्कर राय के शिष्य उमानन्दनाथ ने इस पर 'नित्योत्सव' नामक निबन्ध लिखा और उनकी शिष्य परम्परा में रामेश्वर ने इस पर वृत्ति लिखी।[1]

भास्कर राय की सप्तशती तथा ललिता सहस्रनाम की टीका के अनुसार नागानन्द ने भी शक्ति-सूत्र लिखे।

श्री क्षेमराज के शक्ति-सूत्र काश्मीरी त्रिक्दर्शन की परम्परा में 'प्रत्यभिज्ञामत' पर आधारित हैं। श्री गोपीनाथ कविराज जी सौभाग्य भास्कर पृष्ठ ६६,६७ के आधार पर इन्हें भास्कर राय कृत मानते हैं। उनके मत में क्षेमराज जी सूत्रों के मात्र व्याख्याकार हैं।[2]

१—नर्मदा शंकर मेहता लिखित लेख के आधार पर (शक्ति अंक, कल्याण)।

२—History of Philosophy. Eastern & Western 'Saiva and Sakta School' note 16.

महर्षि अङ्गिरा के दैवी मीमांसा दर्शन के सूत्र हैं। उनके पहले पाद का नाम रसपाद है। उसमें ब्रह्म के रसात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे उत्पत्तिपाद में शाक्त-अद्वैतानुसारिणी शाक्तवाद की प्रक्रिया है, जिसमें ब्रह्म और शक्ति का अभेद प्रतिपादित किया गया है।[१]

श्री शंकराचार्य के परम गुरु श्री गौड़पादाचार्य ने 'श्री-विद्या-रत्न सूत्र' लिखे, जिस पर शंकरारण्य ने टीका लिखी।[२] यह ग्रन्थ दार्शनिक दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण न होते हुए भी शाक्त-साहित्य का ही ग्रन्थ है। इनका 'सुभगोदय स्तुति' भी उल्लेखनीय है।

शंकराचार्य कृत 'सौन्दर्य लहरी' तथा 'आनन्द लहरी' शक्ति सम्बन्धी स्तोत्र ग्रन्थों में अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। शाक्तमत की विशेषतः 'समयि मत' की आधारभित्ति मूलतः इन्हीं स्तोत्र ग्रन्थों के आधार पर आधारित है। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें लक्ष्मीधर की सौभाग्यवर्धनी व्याख्या उच्चकोटि की मानी गई है। इनके अतिरिक्त भारद्वाज के 'शक्तिधर्म' के सूत्र मिलते हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

पौराणिक-साहित्य में शक्ति तत्व :

पौराणिक साहित्य में 'कालिका पुराण' शाक्तवाद का स्वतन्त्र पुराण है। 'महाभागवत पुराण' में भी अधिकांशतः शक्ति-सम्बन्धी रहस्य और तत्व का ही विवेचन है। 'देवीपुराण' नामक एक उपपुराण भी प्राप्त होता है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' के दूसरे भाग के अन्तर्गत 'ललिता सहस्र' नामक ३२० श्लोकों का प्रकरण प्राप्त होता है। 'मार्कण्डेय पुराण' में देवी महात्म्य अथवा 'सप्तशती' प्रकरण आया है। शाक्त सम्प्रदाय में इसका बहुत महत्व है। इसमें सरस्वती को भी विष्णु की शक्ति के रूप में एवं जगद्धात्री-रूप में वर्णित किया गया है। इसी में लक्ष्मी को अम्बिका रूप में कहा गया है।[३]

'विष्णु पुराण' में लक्ष्मी अथवा श्री का वर्णन जगन्माता के रूप में मिलता है। इसमें उसे वेदगर्भा, यज्ञगर्भा, सूर्यगर्भा, देवगर्भा, दैत्यगर्भा आदि वर्णित किया गया है।[४]

१—नर्मदाशंकर मेहता के शक्ति सम्बंधी साहित्य संज्ञक लेख के आधार पर।

२—सरस्वती भवन बनारस द्वारा प्रकाशित—महामहोपाध्याय श्री नारायण खिस्ते द्वारा संपादित संस्करण।

३—द्रष्टव्य: श्लोक २३-३० एवं ४८।

४—,, , अंश १, अ० ८; अंश ५, अ० २ तथा ७-१२।

'कूर्म पुराण' में अर्धनारीश्वर देवता का वर्णन है जिसके पुरुष अंश से रुद्र उत्पन्न हुए और स्त्री अंश से अन्य शक्तियाँ प्रगट हुईं।[1]

'नारदीय महापुराण' में यक्षिणी, दुर्गा, ललिता, महालक्ष्मी, राधा आदि शक्तियों का वर्णन है। इसमें मन्त्र-सिद्धि, दीक्षाविधि, जप, गणेशमन्त्र, यन्त्र-विधि, देवी मन्त्र आदि तान्त्रिक पूजा-पद्धति विशेष रूप से निरूपित है।[2]

'वामन पुराण' में शिव और शक्ति का सम्मिलित रूप निरूपित है। 'मत्स्यपुराण' में विष्णु के साथ साथ शिव-शक्ति की आराधना तथा उनके महात्म्य का विस्तृत वर्णन है। इन तीनों देवताओं की साधनाओं का सुन्दर समन्वय श्रीमद्भागवत् तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में मिलता है। देवी भागवत् में देवी की महिमा एवं उसकी पूजा-विधि का वर्णन 'देवी गीता' संज्ञक प्रकरण में मिलता है।

'पद्म पुराण' में वैष्णवी तथा चामुण्डा शक्तियों द्वारा दैत्यवध का उल्लेख है। कामाक्षा देवी का वर्णन भी इसमें प्राप्त होता है। राधा को यहाँ कृष्ण की शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है।[3]

'शिव पुराण' में सती पार्वती की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। उमा संहिता में देवी के चमत्कार का वर्णन है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणों में तथा महाभारत में भी देवी-सम्बन्धी अनेकों प्रसंग हैं। उदाहरणतः सूत सहिता के यज्ञ वैभव खण्ड के सैंतालीसवें अध्याय में आया हुआ शक्ति-स्तोत्र एवं देवी भागवत में आया 'देवी गीता' नामक प्रकरण और उस पर लिखी नीलकण्ठ की टीका शाक्त मत की अमूल्य निधि है।[4]

महाभारत में पाशुपत भागवत सम्प्रदायों के साथ साथ शाक्त सम्प्रदाय की भी चर्चा मिलती है। विराट पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा देवी की उपासना का वर्णन है, जिसमें देवी को श्रीकृष्ण की भगिनी कहा गया है।[5] भीष्म पर्व में कुमारी, काली, कपाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, शाकम्भरी, उमा, कात्यायनी, चंडी आदि देवियों का उल्लेख है। शल्य पर्व में देवी का परा या निर्घोषा वाणी के रूप में दार्शनिक विवेचन भी मिलता है।[6] वन पर्व में

१—श्री नर्मदा शंकर मेहता लिखित 'शक्ति सम्बंधी साहित्य' से उद्धृत।

२—पूर्वाद्ध ८२-८६।

३—खंड १, अध्याय ३१, पाताल खण्ड १२ तथा पाताल खण्ड ६६–८३।

४—श्री नर्मदा शंकर मेहता लिखित 'शक्ति सम्बंधी साहित्य' लेख से उद्धृत।

५—अध्याय ६।

६—अध्याय ४६।

रुद्र के साथ हलिमा, मालिनी, पलाला आदि मातृकाओं की उपासना का सम्बन्ध जोड़ा गया है।[1] इसी में भानुमति 'दिन की देवी', राका 'रात की देवी', सिनीवाली 'अमावस्या' तथा कुहू 'शुद्ध अमावस्या' आदि का भी वर्णन है।[2] इनके अतिरिक्त महाभारत में कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा आदि को भी देवियों के रूप में स्वीकार किया गया है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आर्य-सभ्यता पितृप्रधान ही रही है तथापि उपनिषद्, पुराण तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में माता को पिता से अधिक महत्ता प्राप्त हुई है। 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यमान्, पुरुषो वेद' में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है। इस विवेचन से भारत में मातृ-प्रधान संस्कृति का वैदिक काल में भी कितना अधिक प्रभाव एवं मान्यता थी, इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।

तंत्र-साहित्य :

शाक्तों के प्रमुख चौंसठ तन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं[4]—

१. महामाया—'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार इसका नाम मायोत्तर तंत्र है।

२. शम्बर—'कुलचूडामणि' तंत्रानुसार इसका नाम महासारस्वत तंत्र है।

३. योगिनी जालशम्बर।

४. तत्वशम्बर—सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर के मतानुसार उपर्युक्त नं० २,३,४, एक तन्त्र हैं, शम्बर वागजुष्ट और वामदेव पृथक् तन्त्र माने गए हैं।

५–१२. आठ भैरव—असितांग, चरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपालि, भीषण और संहार।

१३–२०. बहुरूपाष्टक—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा और शिवदूती।

२१–२८. आठ यामल—ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल, और ग्रहयामल।

२९. महोच्छ्रय—'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार इसका नाम तन्त्रज्ञान है जबकि लक्ष्मीधर के मतानुसार 'चन्द्रज्ञान' है।

१—अध्याय २२८।

२—अध्याय २१३।

३—महाभारत आदि पर्व ६६·१५।

४—यह सूचि वामकेश्वर तत्र और भास्कर राय के अनुसार दी जा रही है।

३०. वातुल—'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार इसका नाम 'वासुकि', तथा लक्ष्मीधरानुसार 'मालिनी' (समुद्रयान विद्या)।

३१. वातुलोत्तर—'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार 'महासम्मोहन' (लक्ष्मीधर के अनुसार यह वाममार्ग का तन्त्र है)।

३२. हृद्भेद—यह कापालिक मत का तन्त्र है।

३३. तन्त्र भेद—कूलचूडामणि तन्त्रानुसार 'महासूक्ष्म'। यह अभिचार विरुद्ध प्रयोगों का तन्त्र है।

३४. गुह्यतन्त्र—यह भी अभिचार विरुद्ध प्रयोगों का तन्त्र है।

३५. कामिक—यह कामशास्त्र का तन्त्र है।

३६. कलावाद–कुलचूड़ामणि तन्त्रानुसार 'कलापक अथवा कलापद'।

३७. कलासार-- इसमें वर्णोत्कर्ष विद्या वर्णित है।

३८. कुब्जिकामत—यह आयुर्वेद विषयक तन्त्र है।

३९. तन्त्रोत्तर--कुलचूडामणि तन्त्रानुसार इसका नाम वाहन है।

४०. वीणातन्त्र—यह यक्षिणी प्रयोग का तन्त्र है।

४१. त्रोडल
४२. त्रोडलोत्तर } —ये दोनों गुटिका, अञ्जन और पादुका सिद्धि के प्रयोग के हैं।

४३. पंचामृत—इसमें पंचभूतों के देहस्थ पुट किस प्रकार अजर अमर रहते हैं इस विषय का वर्णन है।

४४. सूर्यभेद
४५. भूतोड्डामर } —ये दोनों मारण प्रयोगों के तन्त्र हैं।

४६. कुलसार

४७. कुलोड्डीश

४८. कुलचूडामणि—'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार इसका नाम वाहनोत्तर है।

४९, ५०. महाकाली मत–'कुलचूडामणि' तन्त्रानुसार 'मातृभेद' है।

५१. महालक्ष्मी मत—लक्ष्मीधरानुसार अरुणेश।

५२. सिद्ध योगेश्वरी—लक्ष्मीधरानुसार मोहिनीश।

५३. कुरूपिकामत—लक्ष्मीधरानुसार विकुंठेश्वर।

५४. देवरूपिका मत—लक्ष्मीधरानुसार देवी मत।

५५. सर्ववीर मत

५६. विमला मत—नं० ५० से ५६ तक के तन्त्र कापालिक मत के हैं।
५७. आम्नाय—पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, उत्तराम्नाय।
५८. निरुत्तर
५९. वैशेषिक
६०. ज्ञानार्णव
६१. वीरावलि—यह जैन मत का तन्त्र है। 'कुलचूड़ामणि' तन्त्रानुसार इसका नाम विश्वात्मक है।
६२. अरुणेश
६३. मोहिनीश
६४. विशुद्धेश्वर

इन चौंसठ तन्त्रों में ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्मविद्या, शक्तितत्व, जगत् की सृष्टि और संहार क्रम का वर्णन है। तत्वविभाग आदि पारमार्थिक तथा धर्म, अर्थ, काम को सिद्ध करने वाले व्यावहारिक विषयों का समावेश हुआ है।

समयिमत की पाँच संहिताएँ—ये संहिताएँ उनके कर्त्ताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं—१. वशिष्ठ संहिता, २. सनक संहिता, ३. शुक संहिता, ४. सनंदन संहिता, एवं ५. सनत्कुमार संहिता। ये पाँचो शुभागमों के अन्तर्गत हैं और इन्हें शुद्ध तन्त्र माना जाता है।

शाक्तों की प्रयोग-पद्धति का निरूपण हमें निम्न तन्त्रों में मिलता है—

१. योगिनी तन्त्र।
२. वाराही तन्त्र।
३. कात्यायनी तन्त्र।
४. मरीचि तन्त्र।
५. डामर तन्त्र।
६. हरगौरी तन्त्र।
७. शक्तिसंगम तन्त्र।
८. लक्ष्मी तन्त्र।
९. सम्मोहन तन्त्र।
१०. नेत्र तन्त्र।
११. श्री चक्र संभार तन्त्र।
१२. सर्वोल्लास तन्त्र।
१३. महानिर्वाण तन्त्र।
१४. शातानन्द तरंगिणी।
१५. कुलार्णव तन्त्र।
१६. निरुत्तर तन्त्र।

शंकराचार्य कृत 'प्रपंचसारतन्त्रम्' तथा 'प्रयोगकर्मदीपिका' उच्च कोटि के आगम ग्रन्थ हैं। 'प्रपंचसार' देवी त्रिपुरा के त्रिविध स्वरूप का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करता है।

लक्ष्मण देशिक का 'शारदा तिलकम्' मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से श्रेष्ठ ग्रन्थ है। अभिनव गुप्त का तन्त्रालोक' तो शैव शाक्त दर्शन का एनसाइक्लोपीडिया ही कहा जाता है। महेश्वरानंद की 'महार्थमंजरी', पुण्यानंद का 'कामकला-

विलास' तथा इनके शिष्य अमृतानंद कृत 'योगिनी-हृदय-दीपिका' जो 'वामकेश्वर तंत्र' के 'नित्यषोडषिकारण्व' के 'योगिनी हृदय' संज्ञक भाग की टीका है, तंत्र शास्त्र के बहुमूल्य ग्रन्थ हैं। 'सौभाग्य सुभगोदय' भी अमृतानंद की ही रचना मानी जाती है। श्री स्वतंत्रानंद का 'मात्रिका-चक्र-विवेक' शाक्त तंत्र का रहस्य ग्रन्थ है। श्री भास्कर राय आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ शाक्त विद्वान कहे जाते हैं। 'नित्यषोडषिकारण्व' की 'सेतुबन्ध' संज्ञक व्याख्या इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। 'सम्भवानंद कल्पलता', 'वरिवास्य रहस्य', 'वरिवास्य प्रकाश' ग्रन्थ तथा 'कौल', त्रिपुरा, भावना उपनिषदों एवं 'ललिता सहस्रनाम', 'सप्तशती' पर टीकाएँ, आगम साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले ग्रन्थ हैं। विशेषतः 'वरिवास्यरहस्य' मंत्र शास्त्र और उपासना को परिस्फुट करने वाला अपूर्व विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें शैव-शाक्त और वैष्णव मत का समन्वय किया गया है।[1] इसी समन्वय का सुव्यवस्थित रूप हमें अपने प्रमुख आलोच्य ग्रन्थ 'शक्ति-भाष्य' में मिलता है।

श्री पूर्णानंद स्वामी का 'षट्चक्र निरूपण', 'श्यामा रहस्य', 'शाक्त क्रम', 'श्री तत्वचिंतामणि', 'योगसार', तत्वानंद तरंगिणी', 'कालिका कारकूट' आदि ग्रन्थ भी विशेष महत्व के हैं। इनके अतिरिक्त काश्मीरियों के उत्तराम्नायविषयक ग्रंथ भी शाक्त मत के प्रमुख व्याख्यान ग्रंथ माने जाते हैं, जो निम्न हैं[2]—

१. संविित्सिद्धि।	८. षट्त्रिंशतत्व संदोह।
२. अजडप्रमातृ सिद्धि।	९. स्पंद संदोह।
३. तंत्रराज।	१०. स्पंद कारिका।
४. तंत्रसार।	११. विज्ञान भैरव।
५. तंत्रसुधा।	१२. त्रिंशो भैरव।
६. तंत्रवटधानिका।	१३. मालिनी विजय।
७. परात्रिंशिका।	१४. प्रत्यभिज्ञा वृत्ति विमर्शिनी आदि।

नीलकण्ठ का 'शक्ति-तत्व विमर्शिनी' नामक ग्रंथ भी शाक्त मत का विचारपूर्ण ग्रन्थ है। 'कुलगह्वर', 'परमानंदतंत्र', 'आगमरहस्य', 'अभेद कारिका', 'आज्ञावतार' एवं 'त्रिपुरारहस्य' (ज्ञानखण्ड) आगम दर्शन के

१—See History of Philosophy. Eastern & Western ch. XV. D. p. *402. 3.* 4.

२—श्री नर्मदा शंकर मेहता लिखित 'शक्ति सम्बंधी साहित्य' से उद्धृत।

महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके अध्ययन के बिना शाक्त दर्शन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। विशेषतः 'त्रिपुरा रहस्य', 'ज्ञान खण्ड' तो शाक्त मत की अमूल्य निधि है।

'कालीज्ञान', 'कालोत्तरा', 'महाकाल संहिता', 'व्योमकेश संहिता', 'जयद्रथ यामल', 'उत्तर तंत्र', 'शक्ति संगम तंत्र (काली भाग)' आदि ग्रंथ श्री काली माई के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त नीलकण्ठ ने शक्तिविशिष्टाद्वैत मत के आधार पर ब्रह्म-सूत्रों का भाष्य किया, जिसके २२ वें अध्याय में शक्ति अद्वैत सिद्धांत का निरूपण किया गया है। शेष ग्रंथ में वीर शैव मत के रहस्यों को भलीभाँति समझाया गया है।

शिवयोगी रेणुक के 'सिद्धांतशिक्षामणि' के अध्याय २, श्लोक १२, १३ में शक्ति को शिव की धर्मचारिणी पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है। अतः वह अन्य पाँच **कला शक्तियों** तथा कुण्डलिनी से अधिक उत्तम है।

मायी देव के 'अनुभव सूत्र' में शक्ति को शिव के अनुग्रह की प्रतिमूर्त्ति कहा गया है। वह शिवप्रसाद माला निग्रह तथा शिवानुभूति प्रतिमा कला वर्णित की गई है। वस्तुतः वीर शैव मत में वामाचारी शक्ति को ही प्रधानता देते हैं।

इस ऊपर की ग्रन्थ-सम्पत्ति के दर्शन से 'शाक्त-सम्प्रदाय' के विपुल साहित्य का दिक्दर्शन तो होता ही है साथ ही भारतीय विद्वानों के उस चिन्तन, एवं साधना के असीम विस्तार का भी परिचय मिलता है जो 'जगन्माता शक्ति' को केन्द्र स्वरूप मानकर शताब्दियों से अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में चला आ रहा है।

शक्तिवाद और अन्य सम्बन्धित सिद्धान्त

तन्त्र-मत

(परंपरागत शाक्त-मत)

समस्त भारतीय साधनाओं की कुञ्जी 'तंत्र' को माना गया है। तंत्र का अर्थ ही है—तनयति, विस्तारयति ज्ञानमनेन इति तंत्रम्'। कहा जाता है कि शिव के ईशानादि पाँच मुखों से ही समस्त मूल तंत्रों का आगमन हुआ और 'देवी' ने इसे सुना। इसी से इसका 'आगम' नाम प्रसिद्ध हुआ। यह 'अति गुह्य विद्या' है, जिसे इस विषय के ज्ञाता गुरु से ही ग्रहण किया जा

सकता है, ग्रन्थ पढ़कर नहीं। इसमें श्रुति की अपने ही ढंग से व्याख्या की गई है जिससे वेदान्त का एक विशिष्ट रूप प्रतिभासित होता है। शांकर वेदान्त से मूलतः 'जीवात्मा और परमात्मा' की एकता के सिद्धांत में एकमत होते हुए भी, यह बहुत-सी अन्य बातों में भिन्न है।[१] तंत्र शास्त्र वस्तुतः साधना शास्त्र है। लगभग सभी हिन्दू सम्प्रदायों--शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि--की सब प्रकार की साधना का गूढ़ रहस्य तंत्र शास्त्र में निहित है। इसमें स्थूलतम साधन प्रणाली से लेकर अति गुह्य मंत्र शास्त्र का समावेश है। इसी से इसका 'तंत्र' नाम बंगाल को छोड़कर भारत में अन्य कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता। काश्मीर, दक्षिण भारत तथा विन्ध्याचल आदि प्रदेशों में तो इसे 'मंत्र शास्त्र' की संज्ञा ही दी जाती है। ईश्वरोपासना के निमित्त मंत्र की अनिवार्यता होने से 'मंत्र शास्त्र' की महत्ता स्वतः सिद्ध है। इसके अतिरिक्त अतिगुह्यतर योग साधनादि के समस्त क्रियाकलापों का भी इसमें विस्तृत विवरण मिलता है, जो 'योग' से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है। बौद्ध तंत्रों में हठयोग का समावेश भी इसी आधार पर हुआ, परंतु यहाँ हम इसके विस्तृत ज्ञान-सागर में अवगाहन न कर इसकी मात्र एक धारा 'शाक्तमत' पर ही विशेष विचार करेंगे।

'शाक्तवाद' का पूर्ण विकास यद्यपि मध्य युग में हुआ तथापि इस मत के यत्किंचित् तत्त्व प्रागैतिहासिक सिंधु घाटी सभ्यता काल तथा वैदिक युग में भी मिले हैं। उदाहरणार्थ मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त वे सीलें, जिनके एक ओर यन्त्र तथा दूसरी ओर देवी की मूर्ति है एवं ऋग्वेद में वर्णित उषा, सरस्वती, वाक् आदि देवियों के सूक्त इस मत के आदि स्रोत हैं। अथर्ववेद में तो तांत्रिक साधना के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उपनिषदें भी अछूती नहीं हैं। उनमें शक्ति हैमवती (ब्रह्मविद्या) रूप में वर्णित है। वेदांत में वही माया है तो मीमांसा में 'धर्म' तथा 'मंत्र' रूप भी वही 'शक्ति' है। सांख्यों की अव्यक्त 'प्रकृति' और बौद्धों की 'तारा' भी उस 'महाशक्ति' के ही स्वरूप भेद हैं।[२] वास्तविक तंत्र युग ५०० ईस्वी से ६०० ई० तक माना जाता है।[3] यद्यपि श्री गोपीनाथ कविराज जी इसे और आगे १२०० ई०

१—अधिक विस्तार के लिए देखिए इसी ग्रन्थ के अन्य अध्याय।

२—इस विषय का पूर्ण विवरण इसी ग्रन्थ के पिछले प्रकरण 'शक्ति सम्बंधी उपलब्ध साहित्य' में देखिए।

३—See The Religious Quest of India by Farquhar. ch. V. p. 167.

तक मानते हैं।[१] इस युग की चार विशेषताएँ हैं :—(१) देवी या शक्ति की महत्व-वृद्धि, (२) मंत्र प्रयोग वृद्धि, (३) कुंडलिनी योग में विश्वास वृद्धि एवं (४) पंचमकारोपासना की प्रभाव वृद्धि।[२] इस युग में 'सम्मोहन'[३] तन्त्र के अनुसार शाक्तों के ६३ तन्त्र, ३२७ उपतंत्र और उनके यामल, डामर, संहिता आदि, शैवों के ३२ तंत्र, १२५ उपतंत्र और उनके यामल, डामर, पुराणादि, वैष्णवों के ७५ तंत्र, २०५ उपतंत्र और उनके यामल, डामर, संहिता आदि, तथा गाणपत्य एवं सौर सम्प्रदायों के बहुत से ग्रन्थों की रचना हुई। बौद्ध, जैन, पाशुपत, कापालिक, पांचरात्र और भैरव आदि २२ आगमों के लगभग ५०० तंत्रों तथा इतने ही उपतंत्रों की रचना भी इसी काल में हुई। इस प्रकार तंत्र मत की विपुल ग्रन्थ-राशि का उल्लेख मिलता है परंतु उपलब्ध सामग्री अभी बहुत कम संकलित हो पाई है।

'सम्मोहन तंत्र' के ही आधार पर शाक्त सम्प्रदाय नौ 'आम्नाय' और चार सम्प्रदायों (केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास) में विभक्त था। आंतरिक और बाह्य उपासना के आधार पर इनके भी आगे दो-दो भेद हो जाते हैं।[४] आजकल बंगाल और आसाम में शाक्तमत का अधिक प्रचार है। बंगाल में 'दुर्गा पूजा' और आसाम में 'देवी कामाख्या' की पूजा अधिक प्रचलित है।[५] आचार-विचार की दृष्टि से शाक्त मतावलम्बी तीन प्रमुख सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं।—

१. कौल :

कौल मार्गी वामाचारी तांत्रिक हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से ये लोग अर्थ और काम को ही प्रधानता देते हैं।[६] इनके चौसठ भैरव तंत्रों में भोग द्वारा मुक्ति का ही अधिक वर्णन है। ये पंचमकारों (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा

१—See History of Philosophy. Eastern and Western. ch. XV. P. 402.

२—See The Religious Quest of India. P. 150.

३—See 'Sammohan Tantra'- ch VI & VII.

४—सम्मोहन तंत्र,अ० ५।

५—'कामाख्या' के लिए देखिए—The Mother Goddess of Kamakhya by Benikanta Kakti. ch IV.

६—'सौन्दर्यलहरी', मैसूर संस्करण (भूमिका भाग), पृ० ३.

और मैथुन) से उपासना करते हैं। इनमें भी पूर्वकौल तो पंचमकारों के संकेतों एवं प्रतीकों का उपयोग करते थे। यथा मैथुन के स्थान पर पुष्प विशेष का विशिष्ट आसन से चढ़ाना, मदिरा के स्थान पर दुग्धादि का पान, मांस के स्थान पर फलों का ग्रहण करना, आदि आदि। उपासना में भी ये लोग भोजपत्र अथवा रेशमी वस्त्र पर यन्त्र रेखांकित कर उसकी उपासना करते थे। परंतु उत्तर कौल मार्गी तो जीवित सुन्दर स्त्री के गुप्तांग की पूजा मांस-मदिरा आदि का सेवन करके करते हैं।[1] ये लोग जादू, मारण, उच्चाटन आदि मंत्रों का भी उपयोग करते हैं। परंतु इस विचित्र ढंग की उपासना का अधिकार उन्हीं को है जो आध्यात्मिक विकास की बहुत ऊँची स्थिति में पहुँच गये हों, जिनका आत्मसंयम पराकाष्ठा को पहुँच गया हो और जिनके मन में विकार का बड़े से बड़ा कारण उपस्थित रहने पर भी विकार न आता हो। मन को आकर्षक लगनेवाली वस्तुओं द्वारा ही यहाँ मन को स्थिर किया जाता है। 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार जिससे बन्धन है वही मुक्ति का भी कारण बन सकता है, यही इस सिद्धांत का मूल आधार है। प्रत्येक वस्तु अथवा क्रिया का सद्गुरु सम्मत प्रयोग गुणकारक होता है अन्यथा उससे हानि ही होती है। वस्तु स्वय अपने में बुरी अथवा भली नहीं होती। मनुष्य का प्रयोग ही उसे भला या बुरा बनाता है। जैसे वासना मनुष्य को जहाँ गर्त में धकेल सकती है, वहीं उसके सदुपयोग से मनुष्य ऊँचा भी उठ सकता है। इसीलिए यह साधना दुर्बल इन्द्रिय वालों के लिए विनाशकर तथा स्थिर चित्तवान् साधकों के लिए हितकर बताई गई है। ऐसे साधक को 'वीर' की उपाधि दी जाती है। उसके लिए कहीं कोई विधि निषेध नहीं रहता। 'श्मशान-साधना' सब से भयंकर कही गई है, जिसका उद्देश्य घृणा, भय, लज्जा आदि मनोवेगों पर विजय पाना होता है। लाश पर बैठकर साधक स्वतः अपने को उन परिस्थितियों में डालते हैं जिनसे मन क्षुब्ध हो और फिर अपने को निराकुल रखने का अभ्यास किया जाता है।[2] इसीलिए कहा है— 'कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'।[3] ऐसा साधक परमहंस होकर पुनः पुण्य और पाप में लिप्त नहीं होता। इस स्थिति में शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य, द्वैत-अद्वैत आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं यही कौलावस्था है।

१—द्रष्टव्य—'आनन्दलहरी' लक्ष्मीधर कृत टीका पृष्ठ १३०।

२—विस्तृत विवरण के लिये देखिये—'कुलार्णव तंत्र' तथा 'कौलावलि निर्णय' संज्ञक ग्रंथ।

३—'आचार सार' अध्याय ७ का अंतिम श्लोक।

२. मिश्र :

मिश्र-मार्गी साधक वामाचार और दक्षिणाचार का समन्वय करता हुआ चलता है। धर्म के दोनों अंगों–कर्म और उपासना–का मिश्रण इसके आठ तंत्रों में मिलता है। यौगिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी को जगाने का जहाँ वर्णन है वहाँ साथ ही मूर्ति-पूजा का भी विधान किया गया है। चंद्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बारहस्पत्या, दौर्वासा, ये आठ तंत्र इस मत के सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं। इस मार्ग के अनुयायी दिव्य साधक कहे जाते हैं। वे मुद्रा, मंत्र, मण्डल आदि को धारण किये रहते हैं। आंतरिक रूप से वे वामाचार के प्रति विशेष रुचि रखते हैं। मिश्र मार्गी धन, सम्पत्ति, स्त्री वा अन्य भोग सामग्री का मर्यादा का उल्लंघन करके सेवन करते हैं और फिर इनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं। कौलाचारी जहाँ कुलस्त्री, कुल-गुरु तथा कुल-देवी की उपासना करते हैं वहाँ मिश्रमार्गी, वामाचारी किसी भी स्त्री को बलपूर्वक लाकर उसकी पूजा करते और पंचमकार अपनाते हैं।[१] कापालिक शैवों से इनकी अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है।

३. समयि :

समयि मतावलम्बी दक्षिणाचारी तांत्रिक कहलाते हैं। ये 'मोक्ष' को ही मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। पार्थिव ससीमता से अपार्थिव असीमता प्राप्त करना इनका चरम उद्देश्य होता है। ये कर्म द्वारा मुक्ति-प्राप्ति का उपदेश न देकर जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलन पर बल देते हैं। 'समयि' शब्द का अर्थ ही है सह + मया = वह मेरे साथ है।[२] इसी सत्य को अनुभव करने के लिए साधक को शक्ति की उपासना करना बताया गया है। वह शक्ति जो समस्त जड़ चेतनात्मक विश्व के कण कण में व्याप्त है, विश्व की जन्मदात्री, पोषणकर्त्री तथा लयकर्त्री है। इसीलिए इस मत के अनुयायी बाह्यपूजा की सर्वथा अवहेलना करते हैं और ध्यान एवं आत्म साक्षात्कार पर ही विशेष बल देते हैं। कहा भी है।

'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव सर्वं यावदनुष्ठेयम्।'[३]

१—द्रष्टव्य—'हंस विलास' पृ० १०४ तथा 'सौंदर्यलहरी' का भूमिका भाग।
२—द्रष्टव्य—'सौंदर्यलहरी' मैसूर संस्करण (भूमिका भाग), पृ० ४।
३—'आनन्दलहरी' लक्ष्मीधर टीका भाग, पृ० ११०।

इस मत के तंत्र शुद्ध तन्त्र कहलाते हैं। इनमें वैदिक मार्ग का अनुसरण करते हुए 'श्रीविद्या' का प्रतिपादन किया गया है। ये वशिष्ठ संहिता, सनक संहिता, सनंदन संहिता, सनत्कुमार संहिता तथा शुक संहिता के रूप में पाँच प्रकार के हैं।[1] इनके साधकों को 'पशु' की संज्ञा दी जाती है, जो मर्यादा-वादी होते हैं। वे प्रभात स्नान, सन्ध्या वंदन, मध्याह्न में जप, खीर-शक्कर आदि का सात्विक भोजन, तथा अपनी स्त्री के साथ भोग ही विधेय मानते हैं। मदिरादि का सर्वथा निषेध करते हैं। अन्य विधि-निषेध का भी पूर्णतया पालन करते हैं। देवी के अतिरिक्त अन्य देव, ऋषि, पितर मनुष्यादि के लिए नित्य पंचयज्ञ का भी इनके मत में विधान है।

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य दक्षिणाचारी मातृ-उपासक भी माने जाते हैं। शक्तिपीठों की स्थापना तथा सौंदर्यलहरी, आनंदलहरी आदि शक्तिस्तोत्र एवं 'प्रपंचसार' संज्ञक तंत्र ग्रन्थ इसके प्रमाणरूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। हमारे प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र के शक्तिभाष्य' के प्रणेता 'श्री पंचानन तर्करत्न' भी समयि मतावलम्बी दक्षिणाचारी ब्राह्मण थे अतः 'शाक्त मत' की इसी धारा विशेष का, शंकराचार्य के वेदांत भाष्य के साथ, तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन, प्रस्तुत निबंध का प्रमुख विषय है।

तत्व विचार

ब्रह्म :

शाक्त मतावलम्बी, सच्चिदानन्दमयी भगवती पराशक्ति को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। 'शक्लृ शक्तौ' तथा 'शक् आमर्षणे धातुओं से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'शक्ति' शब्द सिद्ध होता है जो सामर्थ्य एवं ज्ञानवाचक है। वस्तु में कार्योत्पादनोपयोगी अपृथक् सिद्ध जो धर्म विशेष है वही 'शक्ति' है।[2] 'यह शक्ति शब्द स्त्रीलिंग होते हुए भी शब्दानुशासन की रीति से जैसे एक ही अर्थ के वाचक शब्द विभिन्न लिंग के हो सकते हैं, तथा जैसे एक ही स्त्रीलिंग 'भार्या' वाचक शब्द 'दार' (पुलिंग), 'कलत्र' (नपुंसकलिंग) एवं 'गृहिणी' (स्त्रीलिंग) प्रभृति तीनों लिंगों में व्यवहृत होता है, वैसे ही विश्व जननी वाचक 'आत्मा' शब्द 'पुलिंग', 'ब्रह्म' शब्द नपुंसकलिंग और 'शक्ति' शब्द

१—द्रष्टव्य—कल्याण के शक्ति अंक का 'पंचमकार का आध्यात्मिक रहस्य' संज्ञक लेख।

२—शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः। स्वरूपे नैव दृश्यन्ते, दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः ॥२॥ —अहिर्बुध्न्य संहिता.

स्त्रीलिंग है। इसी को श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' आदि शब्दों से कहा गया है।'[1] वह चिद्रूपिणी आद्या शक्ति सम्पूर्ण भूतों में चैतन्य रूप में विद्यमान है।[2] वह भावि चराचर का बीज है जिसके उन्मुखी भाव ग्रहण करने पर जगत् रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है।[3] आधुनिक भौतिक विज्ञान भी समस्त बाह्य अथवा आन्तरिक प्रपञ्च का कारण 'शक्ति' को ही मानता है।[4] यहाँ तक कि सृष्टि उत्पादन के निमित्त शक्ति ही स्वभर्त्ता आदिनाथ की परिकल्पना करती है।[5] जैसे कृशानु की दाहकता कृशानु से भिन्न नहीं होती, वैसे ही पराशक्ति भी शक्तिमान (शिव) से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है।[6] अतः शिव+शक्ति अथवा चिच्छक्ति उस एक ही परम तत्व का नाम है। जैसे शक्ति के बिना 'शिव' शव हैं, निष्क्रिय हैं, वैसे ही शिव के बिना शक्ति भी जगत् सृजन कार्य में सर्वथा असमर्थ है। दोनों का संयोग ही सर्ग समर्थ कहा गया है।[7] जैसे कोई परम सुन्दर नरेश निमल दर्पण में अपनी छवि निहारकर ही अपनी सुन्दरता का अनुभव प्राप्त करता है वैसे ही प्रकाशस्वरूप परम शिव, निर्मलादर्श

१—कल्याण के 'शक्ति अक' में श्री पंचानन तर्क रत्न लिखित 'ब्रह्मसूत्र में शक्तितत्व' संज्ञक लेख से उद्धृत।

२—या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते। चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्॥ —सप्तशती पाठ एक.

३—यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥२४॥ —परात्रिंशिका.

४—Herbert Spenorr, the Philosopher of Modern Science says that the universe whether Physical or phychical, whether within or without us, is a play of Force..... See Shakti and Shakta, p. 303.

५—तं विलोक्य महेशानि सृष्ट्युत्पादनकारणात्। आदिनाथं मानसिकं स्वभर्त्तारं प्रकल्पयेत्॥ —शक्तिसगम तन्त्र.

६—शक्तिशक्तिमतोर्यद्वद भेदः सर्वदा स्थितः। १
न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते। २ } —विज्ञान भैरव

७—शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं। न चेदेवं देवा न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥१॥ —आनन्दलहरी.

विमर्श-रूपा शक्ति द्वारा ही स्व-स्वरूप की उपलब्धि करते हैं।[१] शक्ति ही ब्रह्म का नैसर्गिक स्फुरण है जिसके योग से शिव जगत् का सृजन, पोषण और संहार करते हैं।[२] जगत् का ज्ञान करानेवाली होने से ही वह ज्ञानशक्ति कहलाती है।[३] ब्रह्मादि भी उसके स्वरूप को नहीं जानते इसी से वह 'अज्ञेया' है। अन्तहीन होने से अनन्ता है, अलक्ष्या है। उसे कोई उत्पन्न नहीं करता इसी से वह 'अजा' है। वही एक सर्वत्र व्याप्त होने से 'एका' है। सब भूत उसी का निर्देश करते हैं, इसीसे वह 'अनेका' है।[४]

श्रीविद्या :

'विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते' अथवा 'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी' या विद्ययाऽ 'मृतमश्नुते' आदि श्रुति वाक्यों में जिस मोक्ष-प्रदायनी 'विद्याशक्ति' का वर्णन किया गया है वही भगवती 'श्रीविद्या' शाक्त सम्प्रदायों में ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुर सुन्दरी, बाला, पंचादशी और षोडशी आदि विभिन्न नामों से विख्यात है। यही ब्रह्म-विद्या है, यही आत्मशक्ति है। भक्तों के उपासना-सौकर्य के लिए इस आत्मशक्ति 'श्रीविद्या' के स्थूल, सूक्ष्म, और पर–ये तीन स्वरूप प्रकट हैं। उनमें पहला अर्थात् स्थूल रूप कर–चरणादि अवयवों से भूषित निरतिशय सौन्दर्यशाली रूप मंत्र-सिद्धि-प्राप्त साधकों के नेत्र तथा करके प्रत्यक्ष का विषय है। वे नेत्रों से उस लोकोत्तराह्लादक तेजोराशि का दर्शन करते हैं तथा हाथ से चरण स्पर्श करते हैं। दूसरा मन्त्रात्मक रूप पुण्यवान् साधकों के कर्णेन्द्रिय तथा वागेन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय है। अर्थात् मंत्र वर्णों में ही देवी के शरीरावयवों की कल्पना करने से वह मंत्रात्मक स्वरूप मंत्र ध्वनि श्रवण रूप में कर्णेन्द्रिय से तथा वागेन्द्रिय से प्रत्यक्ष किया जाता है; क्योंकि 'ललिता सहस्रनाम' में कहा है कि वाग्भवकूट–पञ्चदशी–मंत्र के प्रथम पाँच वर्ण ही देवी का मुखकमल है :—'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपंकजा'। देवी का तीसरा 'पर' रूप महापुण्यवान् साधकों के केवल मन-इन्द्रिय से गृहीत होता है क्योंकि

१—द्रष्टव्य —'कामकला विलास' श्लोक २ का व्याख्या भाग।

२—नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्तते शक्तिः। तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति।।४।। —वरिवास्या रहस्य.

३—'ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।' मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, अ० ३, श्लोक ७।

४—द्रष्टव्य—देव्युपनिषद्—१७।

चैतन्य रूपा महाशक्ति के चैतन्य का अनुभव मन से ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त देवी के तुरीय रूप का, जो वाक्, मन आदि सब इन्द्रियों से अतीत है, केवल मुक्त लोग ही अखण्ड अहन्ता रूप में अनुभव करते हैं। वही देवी का अखण्ड रूप है।[1] चिति शक्ति का यह स्वरूप प्रकाशस्वरूप है। उसके इसी प्रकाश से समस्त प्रपंच प्रतिभासित होता है।[2] जहाँ उसका प्रकाश नहीं वहाँ कुछ भी प्रकाशित नहीं है, प्रत्युत अप्रकाश में भी वही चिति शक्ति प्रकाशित होती है।[3] निर्मल दर्पण में नगर के समान यह समस्त जगत् उसी चिति शक्ति में प्रतिभासित होता है।[4] 'श्रीविद्या' ही साक्षात् जगन्माता हैं। इनका अभिन्नत्व ही 'श्रीविद्या' का रहस्यार्थ कहा गया है।[5] 'श्रीविद्या' ही बुद्धिरूपा हैं. ये ही बुद्धि-शक्ति से सर्व प्रपंच की आधार रूपा हैं।[6] इस चिदानन्दलहरी 'श्रीविद्या' का ध्यान किस रूप में करें, इसका सुन्दर चित्रण मातृ-भक्त श्री शंकराचार्य ने 'आनंदलहरी' में इस प्रकार किया है :—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥८॥

कुण्डलिनी :

आद्या शक्ति ही व्यष्टि रूप से मनुष्य में जीवनी शक्ति कहलाती है। कुण्डलिनी योग में इस जीवनी शक्ति को ही 'कुण्डलिनी' संज्ञा दी गई है। शरीरस्थ समस्त गति और क्रिया शक्ति का आधार यही कुण्डलिनी शक्ति है। मानव शरीर में यह शक्ति उस महाशक्ति की प्रतिनिधि है जो विश्व को

१—कल्याण के शक्ति अंक में पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते लिखित 'श्रीविद्या' लेख से उद्धृत।

२—एवंविधं हि भारूपं ग्रस्तसर्वप्रपंचकम्। भाति स्वतन्त्रतः स्वस्मिन् सर्वत्राऽपि च सर्वदा ॥४३॥ —त्रिपुरारहस्य (ज्ञान खण्ड).

३—यदा सा न प्रकाशेत प्रकाशेत् तदा न किम्। अप्रकाशेनापि सैव चितिशक्तिः प्रकाशते ॥६१॥ —त्रिपुरारहस्य (ज्ञान खण्ड).

४—वही, श्लोक ४३, चतुर्दशोऽध्याय।

५—साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता। अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥१०७॥ — वरिवस्या रहस्य, भाग २.

६—द्रष्टव्य—भास्कर राय कृत 'वरिवस्या रहस्य' मलयालम संस्करण, अंतिम दो श्लोक।

उत्पन्न और धारण करती है।[१] 'यह शक्ति मातृगर्भस्थ सन्तान में जाग्रत् रहने पर भी सन्तान के भूमिष्ठ होते ही निद्रित सी हो जाती है। मुमुक्षु साधक आत्म-कल्याण के निमित्त इस कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्व गतिवाली करके, क्रम से षट्चक्र भेदन द्वारा, सहस्रार में ले जाने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस स्थिति में उसका दिव्यनेत्र खुल जाता है और वह अपने ज्ञानस्वरूप को देखकर कृतकृत्य हो जाता है।[२] 'तंत्रशास्त्र' में 'पूर्णाहिता' कहकर इसी अवस्था का वर्णन किया गया है। उपनिषदों में इसे 'परमंसाम्यम्' कहा है। इस मूल वस्तु में नाम रूप की कल्पना नहीं होती, इसका चिंतन नहीं होता। यह अवाङ् मनस्गोचर है। इसे 'तत्व' पद कहा जाता है। यह विश्वात्मक होता हुआ भी विश्वातीत है।[३] साधारणतः मनुष्य जब सोता है तब यह शक्ति जाग्रत् रहती है और जब वह जागता है तब यह सोती रहती है। मानव शरीर में इसका स्थान मेरुदण्ड के उभय पार्श्व में इड़ा और पिंगला नामक दो नाड़ियाँ हैं। इन नाड़ियों के मध्य में एक अति सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी है, जिसके नीचे के भाग में चतुर्दल कमल है। इस कमलासन पर, जिसे कंद स्थान भी कहा जाता है, कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाड़ियों को वेष्ठित करती हुई साढ़े तीन आँटे देकर अपनी पूँछ मुख में दबाकर सर्पाकार स्थित है।[४] यहाँ यह सुप्तावस्था में विराजमान है और इसकी संज्ञा 'कुमारी' कही जाती है। पंचादशी मंत्र के जप द्वारा अथवा प्राणायाम द्वारा उसे जगाया जाता है। शक्ति जागने पर स्वाधिष्ठान चक्र में

१—'Kundalini is the static Shakti........It is the individual bodily representative of the great cosmic powers (Shakti) which creates and sustains the universe.'

—The Serpent Power by Aurthor Avalon.

२—द्रष्टव्य— 'कुण्डलिनी जागरण की विधि' संज्ञक स्वामी ज्योतिर्मयानन्द जी का लेख (कल्याण का शक्ति अङ्क)।

३—श्री गोपीनाथ कविराज लिखित 'कुण्डलिनी तत्व' लेख से उद्धृत द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ)।

४—'पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा। तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा।
संवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः। मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरेस्थिता॥

—शक्ति अंक, पृष्ठ ४५५.

प्रवेश करती है। इसके पश्चात् बड़े प्रयत्न से इसे क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा चक्रों में ले जाया जाता है। यहाँ इसकी संज्ञा 'योषिता' हो जाती है। यहाँ तक की आराधना निकृष्ट आराधना कहलाती है। इससे आगे सहस्रदल कमल युक्त सहस्रार चक्र में आवरण देवतादि सहित समग्र देवी चक्र की उपासना की जाती है। यहीं सत् और चित् का वास्तविक निवास स्थान है। यहाँ आन्तर अद्वैत धाम में क्रमशः बाह्य चक्रादि का लय हो जाता है और साधक परा पूजा का नित्य अधिकार प्राप्त कर परमानन्द लाभ करता है।[१]

शब्द-ब्रह्म :

तन्त्र शास्त्र में शब्द अचेतन व्यापार मात्र नहीं है प्रत्युत वह शिव + शक्ति रूप है। वह आत्मा है, जो शब्द और अर्थ रूप में स्वानुभव करता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये तीनों उसके क्षणिक व्यापार हैं।[२] 'प्रजापतिर्वै इदं आसीत, तस्य वाग् द्वितीया आसीत्, ताम् मिथुनम् संभवत्, सा गर्भं आधत्त सा असमद् अपाक्रमत् सा इमाः प्रजाः असृजत् सा प्रजापतिम् एवा पुनः प्रविशत्'[३] इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा भी वाक् को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जो चैतन्य रूप से सब भूतों में विराजमान है। मानव शरीर में वह कुण्डलिनी रूप में स्थित है।[४] मूलाधार में जो प्रथम ध्वनिरूप शब्द प्रस्फुटित होता है वह पराशक्ति है। वही जीव को जीवन प्रदान करती है। श्वास के भीतर प्रवेश तथा बाह्य निष्कासन के द्वारा प्राणी प्रत्येक समय एक महान् मंत्र का जप करता है जो तंत्र शास्त्र में 'हं सः' 'सोहं' अथवा अजपाजप' कहलाता है।[५] 'हं' शिव या पुरुष तत्व और 'सः' शक्ति या प्रकृति तत्व कहलाता है।

१—'सौंदर्यलहरी', भूमिका भाग।

२—See- General Introduction to Tantra Philosopy by S. N. Dass Gupta. P. 263. 264.

३—काठकोपनिषद् १२-५ तथा २७-१.

४—चैतन्यं सर्व्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः। तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।१३। —शारदा तिलक

५—The Garland of letters by Woodroff. P. 260. तथा निरुत्तर तन्त्र का यह श्लोक—'हंकारेण बहिर्याति सः कारेण विशेत्पुनः। हंसेति परमं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥

यही सहज जप 'कालध्वा' या 'प्राणध्वा' भी कहा जाता है। 'इसका कहीं कहीं नाद के नाम से भी वर्णन मिलता है। यह अभिधेय बुद्धि का बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय एवं प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति अवस्था में भी इसकी निवृत्ति नहीं होती।'[१] मूलाधार से वायु द्वारा ऊपर उठकर परावाणी स्वाधिष्ठान चक्र में प्रवेश करती है। यहाँ इसकी संज्ञा अक्षर बिंदु हो जाती है। यह स्वयं प्रकाशित और वर्णों के अविभाग के कारण क्रमहीन है। इसके पश्चात् अनाहत चक्र में वाणी का निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ संयोग होता है, जिसे शास्त्र में वाणी की मध्यमावस्था कहा जाता है। यह प्राणवृत्ति के अतीत श्रोत का अविषय है तथा चिंतन के रूप में भीतर ही भीतर चलनेवाला व्यापार है। यही स्थूल शब्द का मूल कारण है। इसके आगे श्रोत्र ग्राह्य स्थूल शब्द है। कण्ठ द्वारा निर्गत पराग्रहण संभव यह वाणी की वैखरी अवस्था है। यह वाक्य रूपा है, और समस्त प्राणी वर्ग का व्यवहार इसी से चलता है।[२] 'अ' से 'ह' तक के वर्ण समुदाय में समस्त वाणी का प्रवेश है और इनके सप्त वर्गों में देवी सप्त महामातृ रूप में विराजमान है, यथा :—

अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा।
चवर्गे तु महेशानी तवर्गे तु कुमारिका॥
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका।
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु सवर्गिका॥
एताः सप्त महामातृः सप्तलोकव्यवस्थिताः॥[3]

सृष्टि प्रक्रिया :

शाक्त मतावलम्बी पूर्णतया अद्वैतवादी होते हुए भी शंकर की भाँति संसार को मिथ्या नहीं मानते, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस आद्या शक्ति का विलास मात्र है। जब वह शक्ति सत् है तो उसका विलास असत् कैसे होगा?

१—कल्याण के साधनांक में 'तांत्रिक साधना' संज्ञक श्री गोपीनाथ कविराज जी के लेख से उद्धृत।

२—वाणी के विशेष विवरण के लिये देखिए—'ललिता सहस्रनाम' तथा 'नित्य तन्त्र ग्रंथ'।

३—द्रष्टव्य—'स्वच्छन्द तंत्र' प्रथम पटल।

जन्य और जनक में पूर्णतः अभेद है।[१] इनके मत में वस्तु परिणामी होने पर भी सत् हो सकती है। शांकर के विवर्त्तवाद की अपेक्षा इनका मत काश्मीरी शैवों के 'आभासवाद' को ही मान्यता देता है। क्योंकि यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् उस 'स्वतंत्रा चिति' शक्ति में विराजमान है और जैसे निर्मल दर्पण में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के प्रतिबिम्ब पड़ने पर विभिन्न रूप आभासित होते हैं वैसे ही यह संसार भी एक ब्रह्म में नाना रूप में प्रतिभाषित होता है। इस प्रकार 'परासवित्' विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी विश्वात्मक है। 'प्रकाश' और 'विमर्श' दोनों उस एक परमसत्ता के आकार मात्र हैं। वही 'पूर्णाहन्ता' अथवा 'अहं' है। 'अ' प्रकाश स्वरूप और 'ह' विमर्श रूप है। दोनों का संयोग 'म्' बिंदु है। निर्विकल्प दशा में वह पराशक्ति'चिच्छक्ति'रूप कही गई है परन्तु स्वातंत्र्य के उन्मेष से जब वह इस अन्तर्लीनावस्था को छोड़कर विकल्पाभिमुखी होती है तो उसकी संज्ञा 'महामाया' हो जाती है। परंतु जब यह विकल्पदशा को प्राप्त हो जाती है तो उसे अविद्यात्मक जड़ शक्ति कहा जाता है।[२]

तात्विक दृष्टि से उपर्युक्त 'प्रकाश' को शिव तत्व और 'विमर्श' को शक्ति तत्व कहते हैं। शिव और शक्ति ही क्रमशः अम्बिका और शान्ता शक्ति कही जाती हैं। ये दोनों साम्यभावापन्न होकर बिंदु रूप में परिणत होती हैं, 'जिससे पारमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिंग रूप में प्रकटित होता है। यही बिंदु तांत्रिक परिभाषा में 'कामरूपपीठ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य 'स्वयम्भूलिंग' के नाम से परिचित है। इस पीठ में महाशक्ति का आत्म प्रकाश परावाक् रूप में प्रख्यात है।'[३] यह पर बिंदु ही काम है।[४] जैसे अग्नि के संयोग से घी पिघल कर बहने लगता है वैसे ही उक्त साम्य भंग होने से यह बिंदु रक्त और शुक्ल दो बिंदुओं में

१—'जन्यजनकयोर्भेदाभावाद्वाच्यस्य वाचकेनापि। ब्रह्मणि जगतोज गति च विद्याभेदात्तु संप्रदायार्थः ॥८१॥ —वरिवस्या रहस्य.

२—'प्रलयादिनिर्विकल्पदशायां चिच्छक्तिरूपता, तदन्ते विकल्पाभिमुख्यद-शायांमायाशक्तिरूपता, विकल्पदशायामविद्यात्मकजडशक्तिरूपतेति।'
—त्रिपुरारहस्य ज्ञान खण्ड, चतुर्थोऽध्याय, पृष्ठ २३७।

३—कल्याण का शक्ति अंक श्रीगोपीनाथ कविराज लिखित 'शक्ति साधना' संज्ञक लेख से उद्धृतांश।

४—Vaisnavism, Saivism & minor religious Systems—'The Shaktas or Shakti worshipers'. P. 207.

प्रकट होता है। इसे 'हार्दकला' कहते हैं।[१] इसी को शास्त्र में 'संवित्' अथवा 'चैतन्य' कहा गया है। यही 'चित् कला' है। उपर्युक्त शान्ता शक्ति यहाँ इच्छा रूप में और अम्बिका शक्ति वामा रूप में प्रकट होती है। इन दोनों के सम्मिलित बिंदु को 'पूर्ण गिरीपीठ' तथा इस चिद् विकास को 'वाणलिंग' कहा जाता है।[२] शास्त्रीय दृष्टि से यह 'पश्यंतीवाक्' की अवस्था है। तात्विक दृष्टि से यह 'सदाशिव' तत्त्व है।[३] यहाँ कारण कार्य से भिन्न रूप से भासता हुआ भी सदा एक रूप रहता है। यहाँ 'अहमिदं' विमर्श होता है। इस 'सदाख्य' तत्त्व के आगे 'ईश्वर' तत्त्व है, जहाँ ज्ञान शक्ति का उदय होता है।[४] यह शक्ति की 'उच्छूनावस्था' अथवा घनीभूतावस्था है। यहाँ ज्ञान का जगत् के साथ पूर्ण अभेद हो जाता है। अव्यक्त 'इदम्' 'इदमहम्' के जड़ात्मक रूप में प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त सदाशिव तत्व की यह वाह्यावस्था है। ज्ञानशक्ति यहां शिवांश–ज्येष्ठा शक्ति के साथ अद्वैत भाव में मिलकर "जालन्धर पीठ" रूम सामरस्य बिन्दु की सृष्टि करती है। इससे अभिव्यक्त चैतन्य 'इतरलिंग' कहलाता है।[५] शास्त्रीय दृष्टि से यह 'मध्यमा-वाक्' की स्थिति है। पंचम तत्त्व 'सद्विद्या' अथवा 'शुद्धविद्या' कहा गया है, जो क्रिया शक्ति प्राधान्य है।[६] शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच की अवस्था होने के कारण इसे 'परापर दशा' अथवा 'चिद्चिदश' भी कहा गया है। यहां 'अहम्' और 'इदम्' का समानाधिकरण होता है अर्थात् शक्ति जगत् को अपने से भिन्न रूप में देखते हुए भी उसे अपना ही अंश एवं अपने से सम्बद्ध मानती है।[७] क्रिया शक्ति, शिवांश रौद्री शक्ति के साथ साम्यभाव को प्राप्त होकर 'उड्डीयान पीठ' को जन्म देती है और इसका

१—द्रष्टव्य—'योगिनी हृदय दीपिका' व्याख्या भाग, द्वारा श्री गोपीनाथ कविराज।

२—शक्ति अंक, पृष्ठ ५७ से उद्धृत।

३—'इच्छाप्राधान्ये सदाशिवतत्त्वम्' तन्त्रसार, पृष्ठ ७२।

४—'ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्' तंत्रसार, पृष्ठ ७२।

५—शक्ति अंक, पृष्ठ ५७ से उद्धृत।

६—'क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम्'—तंत्रसार, पृष्ठ ७२।

७—पाँचों तत्त्वों के लिए देखिए—'त्रिपुरा रहस्य', ज्ञान खण्ड, श्लोक ६२-६४।

लिंग 'परालिंग' कहलाता है।[1] तान्त्रिक दृष्टि से इन चारों पर-विन्दुओं-श्वेत बिन्दु रक्त बिन्दु और मिश्र बिन्दु अथवा मध्य बिन्दु, विन्दु, बीज और नाद का-सम्मिलन हा 'कामकला' कहलाता है और यही सृष्टि का उद्गम स्रोत है।[2]

उपर्युक्त पांचों तत्त्व (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्ध विद्या) सृष्टि की बीजावस्था के द्योतक हैं। पदार्थ समूह अभी अपने चैतन्य स्वरूप से विलग नहीं हुआ परन्तु इससे आगे माया शक्ति का साम्राज्य है जो भेद बुद्धि द्वारा 'अहम्' और 'इदम्' को पृथक्-पृथक् कर देती है। यह स्वयं बोधरूपा होते हुए भी कर्त्ता के भावों में भेद बुद्ध उत्पन्न कर देती है।[3] माया यहां शांकरमतानुसार रहस्यमयी 'अनिर्वचनीय' शक्ति नहीं है प्रत्युत यह ब्रह्म की स्वतत्र शक्ति है, जो सत् चित् स्वरूपा है। यह माया अपने पंचकंचुकों-१. कला, २. विद्या, ३. राग, ४. काल, और ५. नियति-द्वारा परमसत्ता के क्रमशः सर्वकर्त्तृत्व को किंचित्कर्त्तृत्व, सर्वज्ञत्व को किंचिज्ञत्व, नित्यतृतत्व को तृष्णा; नित्यत्व को आयु की परिमितता और स्वातंत्र्य को परतंत्रता में परिवर्तित कर देती है।[4] इन पांचों आवर्तनों से संकुचित चिति ही 'पुरुष'कहलाती है।[5] प्राणियों के अनादि कर्मों की वासना एवं संस्कारों का सामूहिक रूप 'प्रकृति तत्त्व' कहा गया है। अन्तस् से चित्प्रधाना होते हुए भी प्राणियों के कर्मफल त्रिविध (सुख-दुःख एवं मोहात्मक) होने से प्रकृति भी सत्वरजस्तमोमयी त्रिगुणात्मिका कहलाती है।[6] सांख्य के समान प्रकृति यहां जड़ न होकर चेतन है। प्रकृति तत्व में प्राणियों की वासनाएँ सुषुप्तावस्था में रहती हैं परन्तु जब वे जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था धारण करती है तब वे 'चित्त' कहलाती हैं। यह 'चित्त' देहभेद से अनेक रूप धारण

१—शक्ति अंक, पृ० ५७ से उद्धृत।

२—Vaisnavism, Saivism & Miror Religious Systems. p. 207.

३—भेदधीरेव भावेषु कर्त्तुर्बोधात्मनोऽपि या। मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यदा। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३।२।६.

४—See History of Philosophy: Eastern & Western. p. 409. तथा त्रिपुरा रहस्य, ज्ञान खण्ड, श्लोक ६८,६६ एवं भूमिका भाग।

५—भेदप्रचुरसंवीता चितिः संकुचितात्मिका। पंचकंचुकसब्याता पुरुषत्वं प्रपद्यते ।।६४।। —त्रिपुरा रहस्य, ज्ञान खण्ड।

६—त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड देखिए श्लोक ७०, ७१ तथा भूमिका भाग।

करता है। जीवों की विविधता का यही रहस्य है। यह 'चित्' क्रियाभेद से त्रिविध-अहंकार, बुद्धि और मन कहा गया है। इसके पश्चात् पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचसूक्ष्मभूत तथा पंचस्थूलभूत आदि ३६ तत्व उस आद्याशक्ति के बाह्याभास मात्र ही हैं।[1] इनमें प्रथम पांच शुद्ध तत्त्व हैं, उससे आगे के सात शुद्धाशुद्ध, तथा अन्तिम चौबीस अशुद्ध तत्व कहलाते हैं।

जीव-साधना और मोक्ष :

शाक्त मतानुसार जीव वस्तुतः चित् स्वरूप ही है। जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दर्पणों में अनेक हुआ भासता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म नाना देह भेद से नाना जीव रूप धारण करता-सा प्रतीत होता है, अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा परिच्छिन्न है और पराशक्ति अपरिच्छिन्न। जीव का अपने को ब्रह्म से भिन्न समझना ही उसका जीव भाव है। उसकी यह अल्पज्ञता, सीमितता एवं परतन्त्रता ही उसके दुःख का कारण है। चित् जब 'चित्त' रूप में व्यक्त होता है तब उसकी सब दैवी उपाधियाँ घट जाती हैं और अशुद्धांश बढ़ जाता है। आगम भाषा में इन अशुद्धांशों को 'मल' कहा जाता है। प्रथम 'आणव' मलावस्था में सीमितता की भावना उदय होती है। तदनन्तर वासना जाग्रत् होती है जो 'कार्ममल' का निर्माण करती है। अन्तिम 'मायीय मल' कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर का मूल कारण होता है। इन्हीं को क्रमशः कला-शरीर, पुर्यष्टक-शरीर (तत्व शरीर) तथा भुवनज-शरीर कहा जाता है। प्रत्येक प्रकार का अनुभव जीव को इन्हीं मलों द्वारा होता है। ये ही मल जीव को उसके वास्तविक स्वरूप से भिन्न दिखाते हैं। ये तीनों मल जीवात्मा को सदैव घेरे रहते हैं। पारिभाषिक दृष्टि से संसारी जीव की संज्ञा स-कल कही जाती है क्योंकि वह शरीर तथा इन्द्रियों आदि से संयुक्त रहता है। यह जीव अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लोकों में घूमता रहता है। परन्तु प्रलय काल में उसके 'मायीय' मल की निवृत्ति हो जाती है और वह सब क्रियाओं से मुक्त होकर 'माया' के साथ संयुक्तावस्था में रहता है। शेष दो मल तब भी जीव का पीछा नहीं छोड़ते। कर्मसंस्कार तथा मूल अज्ञान उसे घेरे ही रहते हैं। ऐसे जीव की संज्ञा 'प्रलयाकल अथवा प्रलय-केवलिन' कही गई है। विवेक ज्ञान द्वारा जब उसके कर्म क्षय हो जाते हैं तब वह माया से ऊपर उठकर भी 'अणुरूपेण' विद्यमान रहता है। उसके इस अणुत्व एवं परिमितता का क्षय तभी

१—त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड देखिए श्लोक ७७ तथा उसका व्याख्या भाग।

होता है जब भगवती की 'कृपा' उस पर होती है। जीव (पशु) की यह सर्वोच्च स्थिति है और यहां उसकी संज्ञा 'विज्ञानाकल अथवा विज्ञान-केवलिन' हो जाती है। यही कैवल्य है। दैवी अनुग्रह से दिव्य ज्ञान का उदय होता है उसे ही शुद्ध-विद्या का आरम्भ समझना चाहिए।[1]

उक्त 'दैवी अनुग्रह' आगम शास्त्र में 'शक्तिपात' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह शक्तिपात 'पर' तथा 'अपर' भेद से दो प्रकार का होता है। 'पर' शक्तिपात, परिच्छिन्नात्मा का पूर्ण चिदात्म रूप में प्रकाशित होना है। यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन अनवच्छिन्न चैतन्य ही उसका स्वस्वरूप है। इसके विपरीत 'अपर' शाक्तपात में पूर्ण चिदात्मा का प्रकाश होने पर भी अवच्छेद का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि इस प्रकाश में भोगांश तथा अधिकारांश से कुछ अवच्छेद रहता ही है।[2] अधिकार भेद से यह 'शक्तिपात' समयि, पुत्रक, साधक एवं आचार्य इन चार भागों में विभक्त है। पुनः मात्रा-भेद से तीव्र, मध्य और मन्द भेद से प्रथमतः तीन प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक के तीव्र, मध्य तीव्र तथा मन्द तीव्र भेद से अवान्तर तीन तीन भेद हैं।[3] विस्तार भय से इन सबका विस्तृत विवेचन यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

स्पष्टतः शाक्तमत स्वयं में एक गहन साधना का विषय है। यह साधना शुद्ध अद्वैतवादी साधना है। द्वैत का एकत्व में लय ही इसका प्रधान उद्देश्य है। साधक का शरीर ही उसका मन्दिर होता है, और उसकी आत्मा उस मन्दिर की प्रतिमा। वह साधक सृष्टि के कण-कण में 'माँ' के दर्शन पाता है। उसके लिए ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि का भेद मिट जाता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही होती है कि वह त्रिपुर सुन्दरी को अपने से अभिन्न समझे। इसीलिए वह स्त्री जैसा व्यवहार करता है। स्त्री के प्रति उसके अनन्य सम्मान प्रदर्शन का यही रहस्य है। इस अन्तः साधना के साथ-साथ निम्न अधिकारी के लिए बाह्य पूजा का भी विधान है। श्रीचक्रोपासना उसमें सर्वोत्तम मानी गई है।

१—See— History of Philosophy: Eastern & Western. p. 419.

२—कल्याण के साधना अंक में श्री गोपीनाथ जी कविराज कृत लेख 'शक्तिपात' से उद्धृत।

३—अधिक विस्तार के लिये देखिये 'कल्याण का साधना अंक' श्री गोपीनाथ जी कविराज कृत 'शक्तिपात' लेख।

श्रीयन्त्र :

जैसे शिव का पूज्य चिह्न शिवलिंग है तथा विष्णु का शालिग्राम की शिला वैसे ही शक्ति का प्रतीक अथवा पूज्याकृति सबिन्दु त्रिभुज है △ ।[१] सभी प्रकार के यन्त्रों के मध्य में यह त्रिभुज अवश्य विद्यमान रहता है। 'श्रीयन्त्र' का अर्थ ही है 'श्रीविद्या का घर'। यह समस्त विश्व उस परम सत्ता का गृह-स्थान है। दो-दो त्रिकोणों के परस्पर संश्लेष द्वारा पिण्डाण्ड के भीतर ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर पिण्डाण्ड का समावेश सूचित किया जाता है। मानव शरीरस्थ नव रन्ध्रों की समानता में 'श्रीचक्र' भी नवयोन्यात्मक है। वे नवयोनि इस प्रकार हैं-धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, जीव, ग्राह्य और प्रमा। नव त्रिकोणों में पांच अधोमुखी त्रिकोण निर्मातृ शक्ति सूचक और चार ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण वह्नि (शिव) अथवा प्रलयकारक चक्र हैं।[२] इस प्रकार यह श्रीचक्र सृष्टि, स्थिति और प्रलयात्मक माना गया है। इसे सर्व सिद्धि प्रदाता, सर्वार्थ साधक और तीनों लोकों की समृद्धि का हेतु कहा गया है—

सर्व सिद्धिप्रदाद्यात्तु चक्रे सर्वार्थ साधके।
लोक त्रय समृद्धीनां हेतुत्वाच्चक्रनायिका ॥[३]

मन्त्र :

तन्त्रशास्त्र में मंत्र का विशेष महत्व है परंतु ये मन्त्र तभी सिद्ध होते हैं जब इनका मानसिक जप दिव्य भाव के साथ किया जाता है। इसके विपरीत यदि मन को एकाग्र किये बिना केवल जिह्वा से जप किया जाता है तो वह व्यर्थ जाता है। उससे फलसिद्धि नहीं होती। 'मंत्र' कई प्रकार के होते हैं। उनमें कुछ तो योगसाधन के लिये उपयोगी होते हैं और कुछ का सांसारिक कार्यों में उपयोग होता है। पहले प्रकार के मंत्रों में जैसे 'ॐ' का जप भवबंधन से मुक्ति तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराता है।[४]

१—द्रष्टव्य— शाक्त सम्प्रदाय' नामक श्री नर्मदाशंकर मेहता का ग्रंथ, पृ० ७।

२—तत्त्छक्तिपंचकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम्।
पंचशक्ति-चतुर्वह्नि-संयोगाच्चक्रसम्भवः ॥८॥
—योगिनी हृदय दीपिका 'चक्रनिरूपण' भाग।

३—योगिनी हृदय दीपिका, श्लोक १४६ तथा श्री गोपीनाथ कविराज लिखित भूमिका भाग।

४—गौतमीय तंत्र १५।७४-७५.

दूसरे प्रकार के मंत्रों में जैसे 'ऊँ सं सां सिं सीं सुं सूं सें सैं सों सौं सं सः वं वां विं वीं वुं वूं वें वैं वों वौं वं वः हं सः अमृतवर्चसे स्वाहा।'[1] इससे रोग का नाश होता है। इनके अतिरिक्त' ह्रिम् क्रिम् श्रिम् एम् आदि अनेक बीजक भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति में प्रयुक्त होते हैं जैसे — 'ह्रिम्' माया के लिये, 'श्रिम्' लक्ष्मी के लिये, क्रिम् काली के लिए और 'एम्' सरस्वती के लिये प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः मन्त्र साक्षात्शक्ति के स्वरूप हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि तन्त्रशास्त्र अति गहन विषय है। कहा भी है :—

'अन्यान्यशास्त्रेषु विनोदमात्रं
न तेषु किंचिद् भुवि दृष्टमस्ति।
चिकित्सितज्यौतिषतन्त्रवादाः
पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति॥'[3]

समग्रतः यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। यहाँ तो इसके कतिपय अंशों का यत्किंचित् दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। शाक्ताद्वैत सिद्धांत की अन्य अद्वैत सिद्धान्तों यथा शांकराद्वैत वेदांत एवं काश्मीरी शैव-मत से पर्याप्त समता होने के कारण ही अगले प्रकरणों में उन्हीं का विवेचन किया जा रहा है।

शांकर-वेदान्त

वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के चरम शिखर पर पहुँच गई थी। अतः उपनिषदों को वेदान्त कहना अर्थात् वेदों का अंत कहना अत्यन्त युक्तियुक्त है। बादरायण ने उपनिषदों के उन्हीं मूल सिद्धांतों को अपने ब्रह्मसूत्रों में संकलित किया। उनके पश्चात् भाष्यकारों ने उन सूत्रों पर भाष्य लिखे। इनमें शंकर का भाष्य भारतीय जीवन को अत्यधिक अनुप्राणित करने में सफल सिद्ध हुआ। इसीलिये संभवतः 'वेदांत' शब्द शंकर के साथ रूढ़

१—उड्डीश तंत्र १६५।

२—शक्ति अंक में श्री देवराज जी विद्यावाचस्पति लिखित लेख 'तंत्र में यंत्र और मंत्र' से उद्धृतांश।

३—Taken from Introduction to Principles of Tantra by Woodroff Vol II. p. 501.

हो गया। कारण, यही एक ऐसा सिद्धान्त है जो यथार्थ की कसौटी पर ठीक उतरा है। उसके लिये विलियम जेम्स ने ठीक ही कहा है कि भारतवर्ष का वेदांत संसार के सभी अद्वैतवादों का शिरोमणि है—'एक अद्वितीय परब्रह्म और 'मैं' ही वह परब्रह्म हूँ। इससे एक ऐसा धार्मिक विश्वास उत्पन्न हो जाता है जिसमें मन को सन्तुष्ट करने की असीम शक्ति है। इसमें चिरस्थायी शान्ति और सुरक्षा का भाव निहित है।'[1]

शांकर वेदांत का उदय तैलंग के अनुसार ईसा की छठी शताब्दी के मध्य अथवा अन्त में हुआ था। सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर इसका समय सन् ६८० ई० के लगभग मानते हैं। परंतु पश्चिमी विद्वान् यथा मैक्समूलर, प्रो० मैक्डानल, प्रो० कीथ उसे क्रमशः अष्टम अथवा नवम शताब्दी में उद्भूत हुआ मानते हैं।[2] अस्तु, इतना तो निश्चित है कि शांकर वेदांत का उदय उस समय हुआ जब कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में निरीश्वरवादी बौद्धमत का एकछत्र राज्य विस्तृत था। ऐसे समय में शंकर ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके वेदों का राज्य पुनः स्थापित किया और 'ब्रह्म ही सत्य' है अन्य सब मिथ्या है, इसकी उद्घोषणा की।

तत्त्व विचार

ब्रह्म :

शांकर वेदांत में ब्रह्म निर्विशेष, निर्विकल्प, निर्गुण, चिन्मात्र और सत्स्वरूप कहा गया है। वह नित्य, सर्वज्ञ, सर्वगत, नित्यतृप्त, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला एवं विज्ञानमय आनंदघन ब्रह्म है।[3] पारमार्थिक दृष्टि से वह आकाश के समान सर्वव्यापी किंतु सर्वविक्रिया रहित, निरवयव, अनन्त ज्ञान स्वरूप, स्वप्रकाशित ब्रह्म है।[4] वह समस्त वस्तुओं, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं वाणी से पर है अतः किसी भी प्रकार उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। केवल निषेधात्मक यथा 'नेति नेति' वचन ही उसके

१—Indian Philosophy by Radhakrishnan. Vol II. ch. the Advaita Vedanta of Sankar. P. 447.

२—A History of Indian Philosophy by Surendranath Dass Gupta. Vol II ch. Sankar and his School.

३—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य १।१।४।

४—वही १।१।४।

निर्देशक हैं। इस दृष्टि से न वह जगत् का उपादान कारण है, और न निमित्त कारण। जीव और जगत् दोनों की संज्ञा इस धरातल पर मिथ्या मानी गई है, इनकी प्रतीति अज्ञानमात्र के कारण है। ज्ञान द्वारा अज्ञानावरण विनष्ट होने पर चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। शंकर इसी को परब्रह्म की संज्ञा देते हैं। इस परब्रह्म की कोई परिभाषा नहीं, क्योंकि परिभाषा उसी की संभव है जो परिच्छिन्न हो, ब्रह्म तो अनादि अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है, अतः उसकी क्या परिभाषा होगी? ब्रह्म का निर्देश करने वाले श्रुति वाक्य 'लिंग'[1] कहे गये हैं जो यत्किंचित् संकेत मात्र हैं। ब्रह्म के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तो स्वरूपानुभव से ही होता है। ये लिंग तो ब्रह्मजिज्ञासु के लिए ब्रह्म-विषयक अगाध सागर में केवल प्रकाशस्तम्भ का ही काम देते हैं। यथार्थतः वह इन सब से परे है, अतः उसका निर्वचन असम्भव है। पारमार्थिक दृष्टि से यही सत्य है।

ईश्वर :

व्यावहारिक दृष्टि से उक्त ब्रह्म माया से उपहित होकर जगत्कर्त्ता, जगत्पालक, जगत्संहारक आदि विशेषण युक्त 'ईश्वर' कहलाता है। यही मायाविशिष्ट स्वप्रधानता से जगत् का निमित्त कारण बन जाता है। यहीं 'ईश्वर' उपास्य और जीव उपासक बनता है, अतः उपास्य और उपासक दृष्टि से जगत् सत्य प्रतीत होता है और ईश्वर तत्सम्बन्धी अनेक गुणों से युक्त होने पर 'सगुण' कहलाता है। इस संसार में अनन्त जीव हैं। उनके भिन्न-भिन्न कर्मानुसार फलों की व्यवस्था करना सामान्य ज्ञान सापेक्ष नहीं है इसीलिए 'ईश्वर' को सर्वज्ञ, सर्ववित्, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वशक्ति सम्पन्न कहा जाता है।

शंकर इस 'ईश्वर' को 'मायावी' की संज्ञा देते हैं।[2] जिस प्रकार जादूगर अपने छल द्वारा अद्भुत इन्द्रजाल में भोले भाले मनुष्यों को फंसा लेता है और उन्हें चमत्कृत कर देता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी माया से अद्भुत सृष्टि रचना द्वारा अज्ञानी व्यक्तियों को भुलावे में डाल देता है। परन्तु ज्ञानी उसकी इस चालाकी को समझ लेते हैं—इसी से यह नानाविध सृष्टि रचना उनके लिए एक जादूगर का खेल मात्र प्रतीत होती है। वस्तुतः कर्तृत्व ब्रह्म का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह केवल बाह्य उपाधि मात्र है।

१—'लीनमर्थं गमयतीति लिंगम्'—व्यास।

२—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य २।१।९।

कोई गड़रिया जैसे मंच पर राजा का अभिनय करने पर नाटक की दृष्टि से राजा तथा वास्तविक दृष्टि से गड़रिया ही कहलाता है[1] उसी प्रकार जगत् रचना की दृष्टि से ब्रह्म को 'ईश्वर' एव वास्तविक दृष्टि से परब्रह्म ही समझना चाहिए। जैसे नाटक का राजा एवं गड़रिया एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं उसी प्रकार सगुण 'ईश्वर' और निगु'ण ब्रह्म अभिन्न ही हैं। जगत् की अपेक्षा से वह 'ईश्वर' है तो निरपेक्ष रूप में वह परब्रह्म। इसी प्रकार शंकर ने जो ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारणम्'[2] कहा है, उसे भी समझना चाहिए। अर्थात् माया विशिष्ट स्वप्रधानता से वह जगत् का निमित्त कारण है तो माया की प्रधानता से परिणामी होने पर उपादान कारण है। यह उसका तटस्थ लक्षण है।

माया :

शंकर माया को अभावात्मक न मानकर भावात्मक मानते हैं। माया उनके मत में ईश्वर की शक्ति है परन्तु यह ब्रह्म का नित्य स्वरूप नहीं है प्रत्युत एक इच्छा मात्र है। जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है उसी प्रकार माया भी ईश्वर से अभिन्न है। बृहदारण्यक में कहा गया है कि इन्द्र माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते बृ० २।५।१६) श्वेताश्वतर में तो स्पष्टतः माया को ब्रह्म की प्रकृति कहा गया है (मायांतु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्— श्वे० ४।१०) परन्तु ईश्वर स्वयं उस माया से मुग्ध नहीं होता (ब्रह्मसूत्र २।१।६)। माया के दो कार्य हैं, ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिपा देना तथा उसे संसार के नाना रूपों में आभासित करना। इस आवरण तथा विक्षेप शक्ति के कारण ही माया को भावरूप अज्ञान कहा जाता है। वह सत् असत् से सर्वथा विलक्षण अनिर्वचनीय है। अर्थात् शश-विषाण, वन्ध्यापुत्र एवं आकाश-कुसुम के समान माया सर्वथा असत् पदार्थ नहीं है परन्तु वह त्रिकाल-सत् पदार्थ भी नहीं है क्योंकि ज्ञानोदय होने पर मायाजन्य सृष्टि का लोप हो जाता है। यहाँ उसका स्वरूप समझाने के लिए शंकर रज्जु-सर्प का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं अर्थात् जैसे रस्सी को साँप समझकर अज्ञानी भयभीत हो जाता है ठीक वैसे ही ईश्वरीय माया जनित विविध सृष्टि रचना से मनुष्य भ्रमित हो जाता है। परन्तु ससार की सत्ता तो प्रतीत होती है

१—वही २।१।१८।

२—वही १।४।२३-२७।

अतः उसे अलीक भी नहीं कहा जा सकता। कदाचित् इसीलिए शंकर माया को भाव पदार्थ मानते हैं और पारमार्थिक सत्ता के अतिरिक्त एक व्यावहारिक सत्ता की कल्पना करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से यदि केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तो व्यावहारिक दृष्टि से संसार के सभी नाम रूपात्मक पदार्थ सत्य हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर सब असत्य हैं अतः सद-सत् विलक्षण हैं। इस माया की कल्पना समष्टि और व्यष्टि दो रूपों में की जाती है। ब्रह्म जब मायोपहित हो नाना रूपों में प्रकट होते हैं तब यह समष्टि रूप 'माया' कहलाती है और जब जीव अज्ञान के कारण एक ब्रह्म के स्थान पर नाना जीवों को अपने से भिन्न समझता है तब यह व्यष्टि रूप माया 'अविद्या' कहलाती है। यह अविद्या अथवा माया त्रिगुणात्मिका है, अव्यक्त है तथा कार्यों द्वारा ही अनुमेय है। कहा भी है :—

> 'अव्यक्तनारी परमेशशक्तिरनाथविद्या त्रिगुणात्मिका या ।
> कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥'

जीव :

शंकराचार्य के अनुसार शरीर अथवा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष एवं कर्म-फल के भोग करने वाले आत्मचैतन्य को जीव कहते हैं।[1] अर्थात् ब्रह्म का माया के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव है। उदाहरण के लिए जैसे एक ही चन्द्रमा का भिन्न-भिन्न जलाशयों पर प्रतिबिम्ब पड़ने पर जल की स्वच्छता अथवा मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ एवं मलिन दीख पड़ता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य मायाजनित भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है। इसी को 'प्रति-बिम्बवाद' कहते हैं।

वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप-सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी माया के कारण उसका अनुभव एवं ज्ञान का क्षेत्र सीमित हो जाता है। अनादि अविद्या के कारण ही जीव अपने को भ्रमवश स्थूल शरीर मात्र समझ लेता है, एवं अपने यथार्थ ब्रह्मस्वरूप को भूल जाता है। इसी से अपने को स्वल्प, क्षुद्र एवं दुःखी समझ कर संसार के नश्वर नाना विध विषय-जाल में फंस जाता है। अपने शरीर को ही आत्मा मानकर

१—'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपंजराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी—'
(शां० भा०, जीव प्रकरण)

'मैं' मोटा हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ आदि आदि व्यवहार करने लगता है। अज्ञान के कारण ही वह नाना कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता बनता है। वस्तुतः कर्तृत्व उसका स्वाभाविक गुण नहीं है क्योंकि कर्तृत्व होने पर फिर मोक्ष कैसे होगा? ज्ञान जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। वह उससे उसी प्रकार अलग नहीं हो सकता जिस प्रकार अग्नि से उष्णता।[1] आनन्द भी उसका स्वाभाविक गुण है क्योंकि सुषुप्ति दशा में बाह्यज्ञान के अभाव में भी आत्मा को आनन्दानुभव होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सोकर उठने के पश्चात् जीव कहता है-'मैं बड़े सुख से सोया' (सुखमहमस्वाप्सम्—)। इस दिशा में उसे साक्षी कहा गया है। उसकी तीन अवस्थाएँ हैं-जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति। परन्तु वह इनसे भी अतीत है, अतः 'तुर्यातीत' कहलाता है।

'अवस्थात्रय-साक्षी एकः अव्यभिचारी,
अवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते।'

(वेदान्त भाष्य, २. १. ६)

वह ब्रह्म से अभिन्न है, भेद केवल माया की सृष्टि है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का भी यही तात्पर्य है। यहाँ 'त्वम्' से जीव का अधिष्ठान रूप शुद्ध चैतन्य एवं 'तत्' से परोक्ष तत्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य ही अभिप्रेत है। प्रथम यदि अल्पज्ञत्व, अपरोक्षत्व आदि उपाधियों से युक्त है तो द्वितीय सर्वज्ञत्व, परोक्षत्व आदि से। इन उपाधियों के नष्ट होने पर शुद्ध चैतन्य ही शेष रह जाता है अतः दोनों में कोई भेद नहीं। भेद केवल उपाधि से ही प्रतीत होता है। जैसे 'घटागत' आकाश एवं विस्तृत आकाश में कोई अन्तर नहीं उसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी अभिन्न ही हैं। इस मत को शांकर वेदान्त में 'अवच्छेदवाद' की संज्ञा दी गई है।

जगत्

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जगद्ब्रह्मैव केवलम्' आदि वेदान्ताचार्य गौड़-पाद की यह उक्ति शंकर को भी मान्य है। परन्तु यहाँ संसार का मिथ्यात्व वन्ध्या पुत्र की भाँति सर्वथा असत् पदार्थ नहीं है। सत् तो वह है ही नहीं

१—'न स्वाभाविकं कर्तृत्वं आत्मनः सम्भवति, अनिर्मोक्ष प्रसंगात्। कर्तृत्व-स्वाभावत्वे हि आत्मनो, व कर्तृत्वान्निर्मोक्षः सम्भवति; अग्निरेव औ-ष्ण्यात्।' (शां० भा० २।३।४०)

क्योंकि उसका नाश हो जाता है। इसी से शंकर सदसत् विलक्षण 'अनिर्वचनीय' तत्व की कल्पना करते हैं। उनके मत में जगत् की प्रतीति ठीक ऐसी ही है जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, जो केवल आभास मात्र है वास्तविक नहीं। शंकर का यह मत 'विवर्त्तवाद' कहलाता है। जगत् रूपी कार्य को वे ब्रह्मरूपी कारण ही की अवस्था मात्र मानते हैं।[1] वस्तुतः ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। परिलक्षित होने वाला परिवर्तन केवल मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र है। इसे 'अध्यास' की संज्ञा दी जाती है। अविद्या ही हमें भ्रम में डालकर असत् में सत् का आभास कराती है। कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत् स्वरूप ही रहता है।[2] तमोगुण प्रधान तथा सत्व एवं रजोगुण से भी यत्किंचित् युक्त विक्षेप शक्ति सम्पन्न चैतन्य से, सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति होती है। फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी-इन पांच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। इन पांचों का पुनः पांच प्रकार से संयोग होता है जिससे पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। अनुपात की दृष्टि से १/२ आकाश + १/८वायु + १/८अग्नि + १/८ जल + १/८पृथ्वी मिलकर स्थूल आकाश, १/२वायु + १/८आकाश + १/८अग्नि + १/८ जल + १/८पृथ्वी मिलकर स्थूल वायु, १/२अग्नि + १/८आकाश +व१/८वायु + १/८जल + १/८पृथ्वी मिलकर स्थूल अग्नि, १/२जल + १/८आकाश + १/८ वायु + १/८अग्नि + १/८ पृथ्वी मिलकर स्थूल जल और१/२पृथ्वी + १/८आकाश + १/८वायु + १/८ अग्नि + १/८ जल मिलकर स्थूल पृथ्वी का निर्माण हुआ। यह क्रिया शांकर वेदान्त में 'पंचीकरण' के नाम से प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त सूक्ष्म भूतों तथा पंचतन्मात्राओं—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा-से मनुष्य का सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है तथा उपर्युक्त पंचीकृत स्थूल भूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव होते हैं। इनको लिंग शरीर भी कहा जाता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान-ये पंच प्राण एवं बुद्धि और मन ये सब सत्रह अवयव आकाशादिकों के सात्विक अंशों से क्रमशः अलग अलग पैदा होते हैं। यथा आकाश के सात्विक अंश

१—'कारणस्य एव संस्थानमात्रं कार्यम्।' (शां० भा० २।२।१७)

२—'कारणं ब्रह्म त्रिष्वपि कालेषु सत्वं न व्यभिचरति।' (शां० भा० २।१।१६)

से श्रोत, वायु के सात्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्विक अंश से चक्षु, जल के सात्विक अंश से जिह्वा और पृथ्वी के सात्विक अंश से घ्राण की उत्पत्ति होती है। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि एवं अनिश्चयात्मिका वृत्ति को मन कहा गया है। स्मृत्यात्मक चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में और गर्वात्मक अहंकार का अन्तर्भाव मन में ही हो जाता है। इसी से इन्हें अलग नहीं कहा गया। ज्ञानेन्द्रियाँ सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं और इससे युक्त चैतन्य को जीव कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं। स्थूल शरीर अन्न का विकार होने के कारण अन्नमय कोश कहलाता है। इसी प्रकार पंचीकृत महाभूतों से भूर्भुवः स्वः इत्यादि ऊपर के लोक तथा अतल वितल इत्यादि नीचे के लोक और दोनों को मिलाकर चौदह भुवनों की उत्पत्ति होती है। फिर उनमें बसने वाले जरायुज (मनुष्य पशु आदि) अण्डज (पक्षी-सर्पादि) उद्भिज्ज (वृक्ष-लतादि) तथा स्वेदज (जुएँ, मच्छरादि) चतुर्विध स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् उनके पालन-पोषणार्थ अन्न-पानादि की व्यवस्था है।[1] शांकर मत में यही सृष्टि की प्रक्रिया है।

मोक्ष

अविद्यामूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधिक ब्रह्मरूप हो जाना ही शांकर वेदान्त में मोक्ष कहलाता है। जो स्वयं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर चुका हो ऐसे गुरु के उपदेशों और ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी श्रुति वाक्यों के पुनः पुनः श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा ही जीव पूर्व पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों को क्रमशः विनष्ट कर पाता है। तभी उसे (अहँ ब्रह्मास्मि) अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस आत्म साक्षात्कार की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में पहुँच कर उसका जीव-भाव समाप्त हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप शरीर की स्थिति बनी रहती है। लेकिन तब वह अपने को शरीर नहीं समझता। सांसारिक प्रपंच के रहते हुए भी उसे किसी से न राग होता है न द्वेष और न किसी वस्तु की लालसा ही शेष रह जाती है। वह लाभ-हानि अथवा हर्ष विषाद से प्रभावित नहीं होता। संसार में रहते हुए भी वह निर्लिप्त रहता है। शांकर वेदान्त में इसे 'जीवन्मुक्ति' की संज्ञा दी गई है।[2] जिस प्रकार कुम्हार का चाक, दण्ड उठा लेने पर भी कुछ देर घूमता

१—वेदांत सार में वर्णित 'सृष्टि क्रम' के आधार पर।

२—'सिद्धं जीवतोऽपि त्रिदुषः अशरीरत्वम्।' (शां॰ भा॰ १।१।४)

रहता है और फिर वेग समाप्त होने पर शान्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान द्वारा यद्यपि संचित एवं क्रियमाण कर्मों का नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का वेग धीरे-धीरे शान्त होता है। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है तब उस दशा को 'विदेह-मुक्ति' कहा जाता है। शांकर वेदान्त में इन दोनों प्रकार की मुक्ति को अप्राप्त नहीं प्रत्युत स्वतः प्राप्त कहा जाता है। यह तो शाश्वत सत्य का अनुभव मात्र है। बन्धन तो केवल अज्ञान कृत ही था। इस अज्ञानावरण का भेदन ही यहाँ मुक्ति है।

काश्मीरीय शैव-दर्शन

(प्रत्यभिज्ञा दर्शन)

परिचय

काश्मीरीय शैव दर्शन का उदय नवम शताब्दी (ए० डी०) के पूर्वार्द्ध में काश्मीर में हुआ था। यह मत आगम शास्त्र की दृढ भित्ति पर आधारित है। परन्तु इसमें सर्वत्र अद्वैत तत्त्व की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इस मत को 'स्वतन्त्रवाद' की संज्ञा भी दी जाती है क्योंकि भगवान् की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही यहाँ विश्व का मूल कारण है।[१] इसे 'त्रिक-दर्शन' का नाम भी दिया गया है। कारण, तीन मूल तत्व-शिव, शक्ति एवं अणु-ही इसके आधार स्तम्भ हैं।[२] अन्ततः इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' भी कहा जाता है और आज इसी नाम से यह सर्वत्र प्रचलित है। ऐसा इसलिए है कि इसमें आत्मा अपने शिव रूप का प्रतिसंधान करता है। मैं ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूँ, यह जो आत्म साक्षात्कार है, यही 'प्रत्यभिज्ञा' है।[३]

ग्रन्थ

श्री वसु गुप्त विरचित 'स्पन्द कारिका' इस मत का प्रथम ग्रन्थ है। कतिपय विद्वान् इसे 'स्पन्दशास्त्र' का ग्रन्थ मानते हैं और इन्हीं के समकालीन

१—'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सूत्रकार श्री क्षेमराजाचार्य विरचित 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' से उद्धृत प्रथम सूत्र।

२—Abhinav Gupta : An Historical and philosophical study by K. C. Pandey. P. 170.

३—'अहमीश्वर एव नान्य इत्येवं यः साक्षात्कारः स प्रत्यभिज्ञेत्युच्यते।'
(सर्वदर्शन-संग्रह, पृष्ठ १६०)

सोमानन्द विरचित 'शिवदृष्टि' को 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' का प्रथम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार काश्मीरीय शैवागम को ये दो भागों में विभक्त मानते हैं।[1] परन्तु दूसरे विद्वान् इस विभाग को सर्वथा भ्रान्तिमूलक मानते हैं और वसुगुप्त को ही प्रथम आचार्य घोषित करते हैं।[2] सोमानन्द जी के शिष्य श्री उत्पलदेव जी ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-कारिका' तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत कर 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' को सुनिश्चित दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया।

परन्तु काश्मीरीय शैव-दर्शन का वास्तविक इतिहास आज यदि प्रस्तुत किया जा सका है तो इसका सम्पूर्ण श्रेय ४१ ग्रन्थों के प्रणेता उद्भट विद्वान् श्री अभिनव गुप्त को ही है। उन्होंने न केवल स्वगुरु श्री उत्पलदेव जी की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिकाओं पर' विवृत्ति 'एवं' विवृत्ति-विमर्शिनी संज्ञक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं प्रत्युत ६४ शैवागमों पर 'तन्त्रालोक' नामक बृहदाकार ग्रन्थ भी लिखा। 'परात्रिंशिका' और 'परमार्थ सार' एवं 'मालिनी विजय वार्तिक' तथा 'शिवदृष्टि आलोचन' आदि ग्रन्थ भी इसी विषय से सम्बन्धित उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। सारांश यह है कि शैवागम पर इतनी विपुल सामग्री उनके ग्रन्थों में संगृहीत है कि उसके पश्चात् कुछ कहना जैसे शेष ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि भास्करराय का शिवसूत्र वार्त्तिक तथा क्षेमराजाचार्य विरचित शिवसूत्र विमर्शिनी स्पन्द सन्दोह, स्पन्द निर्णय एवं प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, ही इस विषय पर शेष उल्लेखनीय प्रामाणिक ग्रन्थ रह जाते हैं।[3]

तत्त्व विचार

काश्मीरीय शैव दर्शन मूलतः अद्वैतवादी दर्शन है। भगवान शिव शंकर ही एक मात्र सत् स्वरूप हैं। वे निःसीम आत्मतत्त्व और निर्बाध स्वतन्त्ररूप हैं। यह स्वच्छन्दता ही उनका विशेष गुण है। वे अनिरुद्ध इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के स्रोत हैं।[4] वे स्वयं ही विषय तथा विषयि हैं,

---

१—Vaisnavism Saivism & Minor Religious System by R. G. Bhandarkar.

२—श्री गोपीनाथ कविराज कृत कल्याण के शिवांक में 'काश्मीरीय शैवागम' लेख से।

३—Kashmir Shaivism by Jagdish Chandra Chatterji. Ch. I.

४—'अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्-क्रियः शिवः' श्री सोमानन्द विरचित 'शिवदृष्टि' १-२।

अनुभव तथा अनुभवी हैं। वे अनुत्तर हैं अर्थात् उनसे अधिक कुछ नहीं हैं। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उनकी लीला मात्र है। नट जैसे स्वेच्छा से नाना प्रकार के अभिनय करता है वैसे ही वे नटराज अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार की भूमिकाओं को ग्रहण करते हैं परन्तु फिर भी निर्लिप्त हैं। वे निरपेक्ष भाव से चराचरात्मक विश्व में व्याप्त हैं। दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब की भाँति यह सृष्टि भगवान् आदिनाथ में आभासित होती है। वस्तुतः जैसे दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित बिम्ब के प्रभाव से मुक्त रहता है उसी प्रकार भगवान शिवशंकर भी निर्गुण निर्लिप्त सत् स्वरूप ही हैं। सर्वशक्ति सम्पन्न यही उनकी परावस्था है। अपरावस्था में वे जगत् के नाना रूपों में प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार वे विश्वमय भी हैं और विश्वोत्तीर्ण भी हैं।

वे स्वभावतः पंचकृत्यकारी हैं; सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय आदि,पञ्चकृत्यों के निमित्त उन्हें किन्हीं बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं रहती। सृष्टि रचना के लिये उन्हें प्राणियों के कर्म की भी अपेक्षा नहीं क्योंकि कर्म अचेतन हैं। साथ ही कर्मावलम्बी होने पर भगवान् का पूर्ण स्वातंत्र्य भी सिद्ध नहीं होगा। योगी जैसे मृत्तिकादि उपकरणों के अभाव में भी घटादि की रचना में समर्थ होते हैं,[1] ठीक वैसे ही वे आदिनाथ तूलिकादि बाह्य उपकरणों के बिना ही जगच्चित्र रचना में पूर्ण समर्थ हैं।[2] वे परम उद्योगी एव महा ऐश्वर्यशाली हैं। इसी से उनकी 'महेश्वर' संज्ञा है।

शक्ति :

शांकराद्वैत की भाँति काश्मीरीय शैवदर्शन में किसी 'अनिर्वचनीय' माया शक्ति की कल्पना नहीं की गई प्रत्युत 'महेश्वर' स्वयं ही अपनी चिदानंद दृक् क्रियात्मिका इच्छा शक्ति द्वारा बाह्य जगत् के उपकरण रूप में उद्भासित होते हैं। इनमें प्रथम चिच्छक्ति प्रकाशस्वरूपा है।[3] द्वितीया आनंद शक्ति पूर्ण स्वतंत्र आह्लादात्मक है।[4] ज्ञान और क्रिया दोनों यहाँ स्वतः सिद्ध हैं।

१—योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्। घटादि जायते तत्तत्स्थिर-भावक्रियाकरम्—सर्वदर्शनसंग्रह।

२—निरुपादानसभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने—सर्वदर्शनसंग्रह।

३—'प्रकाशरूपता चिच्छक्ति।' (तन्त्रसार, आ० १)

४—'आनन्दः स्वातन्त्र्यम् स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।' (तन्त्रसार, आ० १)

ज्ञान शक्ति स्व-आत्म चेतना में पूर्व रूप से विराजमान तत्वों को बाह्यतः स्पष्ट प्रकाशित करती है।[1] ब्रह्म अपनी इस शक्ति द्वारा अपने अथाह पदार्थ समूह में से केवल कुछ पदार्थों का ही बाह्यतः प्रकाशन करता है। इसी से सब पदार्थ समूह वास्तव में प्रकाशस्वरूप ही है।[2] इस दृष्टिकोण से संसार के सभी पदार्थ सत् पदार्थ हैं, परन्तु उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे सब शिव-रूप ही हैं। ब्रह्म की इस प्रक्रिया को 'आभासवाद' की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म अपनी विमर्शशक्ति द्वारा जगत्रूप में आभासित होते हैं। इसीलिए संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थ आभास रूप ही हैं।[3]

यह सम्पूर्ण सृष्टि अथवा प्रत्यक्ष जगत् क्रियाशक्ति का ही परिणाम है। यह शक्ति अपने तीन क्रियात्मक नियमों—१. भेदाभेद, २. मानतत्फलमेय तथा ३. कार्यकरण-द्वारा रचनात्मक शक्ति में परिवर्तित होकर सम्पूर्ण संसार की रचना करती है। इस प्रकार इस दर्शन में एक ही ब्रह्म (शिव) के 'अहं' एवं 'इदं' दोनों रूप हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में संभवतः इसीलिए यह 'अद्वैत-सिद्धान्त' ईश्वराद्वयवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। आचार्य अभिनव गुप्त इस सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हैं।

अणु (जीव) :

जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं प्रत्युत अभिन्न ही है। वह अज्ञानवश ही अपने को क्षुद्र और सीमित समझता है। अपने इस पारमार्थिक स्वरूप से अनभिज्ञ होने से ही उसकी 'अणु' संज्ञा है। आणव अर्थात् स्वाभाविक, मायीय अर्थात् माया द्वारा बद्ध, एवं कार्मीय अर्थात् भले बुरे कर्म का अज्ञान–इन तीन मलों से वह जीव आवृत है।[4] चिदात्मा परमेश्वर जब स्वातन्त्र्य से अभेद व्याप्ति में निमग्न होकर भेद व्याप्ति का अवलम्बन करता है तब उसकी इच्छा-शक्तियाँ असंकुचित होते हुए भी संकुचित-सी प्रतीत होती हैं। उसी समय यह मलावृत संसारी होता है। 'अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूप' इच्छा शक्ति संकुचित होती हुई अपूर्ण मान्यता रूप आणव मल को प्रकट करती है। ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच होने पर भेद में सर्वज्ञत्व को किंचिज्ज्ञत्व की प्राप्ति

१—वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्। अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना। (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, श्लोक ३२)

२—'प्रकाश एव अर्थानां स्वरूपम्'—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका।

३—'तत्र आभासरूपा एव जड़चेतनपदार्थाः–प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी।

४—'चिद्वत्तच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी' ॥६॥ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

कराती है और अत्यन्त संकोच ग्रहण करने से शिव से भिन्न बन्ध रूप 'मायीय मल' को अन्तःकरण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि की प्राप्तिपूर्वक प्रकट करती है।'[1] क्रियाशक्ति क्रम से सर्वकर्तृत्व रूप आत्मा में किंचित् कर्तृत्व रूप संकोच के द्वारा कर्मेन्द्रिय ग्रहण पूर्वक अत्यन्त अल्पता का रूप धारण करती है और इस प्रकार शुभाशुभ अनुष्ठानमय 'कार्म मल' को प्रकट करती है। इस प्रकार सर्व कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ संकोच ग्रहण करती हुई यथाक्रम कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप से प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में यह 'जीव' शक्ति दरिद्र संसारी कहलाता है और स्वशक्ति के विकास होने पर शिव हो जाता है। जैसे ईश्वर पंच कृत्यकारी है वैसे ही जीव भी है।[2] भेद केवल समष्टि और व्यष्टि मात्र का है। देह प्राणादि स्थानों में प्रवेश करते हुए चिद् रूप महेश्वर बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नीलादि अर्थ को नियत देश काल के द्वारा आभासित करते हैं तब नियत देशकाल आदि के आभास में उनका 'सृष्टित्व' है और अन्य देशकालादि के आभास अंश में 'संहारकत्व' है। जीवादि के आभासांश में उसका 'स्थापकत्व' है। भेद से आभासांश में उसकी 'विलयकारिता' है। प्रकाश रूप से अनुग्रह है।[3]

जगत् :

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सृष्टि क्रम भी अपने में एक रोचक विषय है। यहाँ परम शिव सर्वोच्च सत्ता हैं जो परासंवित्, निर्गुण और तत्वातीत हैं। 'प्रकाश' और 'विमर्श' उनके दो रूप हैं। विमर्श रूप 'शक्तितत्व' कहलाता है एवं प्रकाश रूप शिवतत्त्व कहलाता है। प्रथम 'अहं' है तो द्वितीय 'इदं'। प्रकाश ज्ञान-स्वरूप है तो विमर्श क्रिया स्वरूप। इसी क्रियात्मक स्वरूप का परिणाम यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् है। विमर्श रूपा शक्ति का उन्मेष सृष्टि एवं निमेष प्रलय कहा गया है।[4] तीसरा तत्त्व सदाशिव कहलाता है। यह परम शिव का हृदय है। यह तत्त्व भगवान् के सत् स्वरूप को प्रकट

१—श्री स्वामीजी महाराज पीताम्बरापीठ दतिया जी द्वारा रचित प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के व्याख्या भाग से उद्धृत, पृष्ठ १३।

२—'तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति'—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र १०।

३—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र १० (व्याख्या भाग, पृष्ठ १४)।

४—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ २ 'अस्यां हि चिति प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति ...... निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।'

करता है इसी से इसको 'सदाख्या तत्त्व' भी कहा जाता है। इच्छा शक्ति यहाँ प्रबल रूप धारण कर लेती है, और अहं की प्रधानता रहती है। चतुर्थ तत्त्व 'ईश्वर' है। यहाँ इदं की प्रधानता है। यह ब्रह्म का बाह्य उन्मेष कहलाता है।[१] क्रिया शक्ति यहाँ प्रबल रूप धारण कर लेती है। जगत् प्रधान होने लगता है और चैतन्य गौण। सदाशिव तत्त्व ब्रह्म की 'निमेष' अन्तर्मुखावस्था है तो ईश्वर उसकी 'उन्मेष' अर्थात् बाह्यीकरणावस्था है। संसार इसी से प्रकट होता है। यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता है। पंचम तत्त्व 'शुद्ध-विद्या' है। यह 'अहं' और 'इदं' का सन्तुलन है।[२] इसे भेदाभेदात्मक भी कहा गया है।[३] यह सांसारिक अनुभव कराने वाला प्रमुख तत्त्व है। चेतन तत्त्व और जड़ तत्त्व यहाँ समान होते हैं। मूलतः शुद्ध ज्ञान का स्वरूप होने पर भी परा अपरा दो प्रकार की शुद्ध विद्या है। यह सब कुछ मेरा ही है[४] ऐसा ज्ञान होता है। ये पाँचों तत्त्व इस काश्मीरीय शैवागम के प्रमुख अंग माने गये हैं।[५]

शुद्ध विद्या के पश्चात् जब जड़ तत्त्व का प्रभाव बढ़ जाता है तब यह माया तत्त्व कहलाता है। इसे 'अशुद्धाध्वम्' अथवा 'मायाध्वम्' भी कहा जाता है। यह तिरोधानकारी है।[६] प्रकाश और विमर्श को लुप्त कर सांसारिक उपलब्धि को यह प्रमुख बना देता है। परिमितता एवं भेद-बुद्धि उत्पन्न करना इसके दो मुख्य कार्य हैं। इससे अगले पाँच तत्त्व माया के ही अंगभूत हैं जो पंच कंचुक कहलाते हैं—१. कला, २. विद्या, ३. राग, ४, नियति एवं ५. काल—नाम से कहे गये हैं।

कला—सीमित कर्तृत्व, सर्वकर्तृत्व, सीमित कर्तृत्व में बदल जाता है और अर्धनिद्रित जीव अपने को कुछ भी कार्य करने में अपूर्ण समझने लगता है।

विद्या—सीमित ज्ञान; सर्वज्ञानत्व सीमित ज्ञान में बँध जाता है।

राग—सीमित स्वार्थ, पूर्णत्व, किसी वस्तु विशेष के राग में उलझ जाता है।

१—'ईश्वरो बहिरुन्मेषः'–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा iii, i, *3*।

२—'सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंद्वयोः'–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा iii i, *3*।

३—'भेदाभेदविमर्शनात्मकमन्त्ररूपा (सद्विद्या) स्वच्छन्द तंत्र iv, 95 ।

४—'सर्वो ममायं विभवः' ईश्वर प्रत्यभिज्ञा iv, i, 12।

५—'श्री अभिनव गुप्त रचित' परमार्थ सार के श्लोक ५२ के आधार पर।

६—'तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः'–ईश्वर प्रत्यभिज्ञा iii, i. *7*।

नियति—निरोध अथवा व्यवस्था; जीव का व्यापकत्व नियति की सीमा में बद्ध हो जाता है।

काल—भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का ज्ञान; जीव का नित्यत्व काल में बद्ध हो जाता है।

ये पाँचों शिव की शक्तियाँ हैं जो मिल कर चैतन्य को आवृत्त करती हैं। जीव प्रथम बार अपने को जगत् के साथ एक समझने लगता है। वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूल जाता है। इनके पश्चात् शक्ति स्थूल सृष्टि रूप में परिणत हो जाती है। सांख्य का पुरुष ही यहाँ जीव है। वस्तुतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप होते हुए भी माया द्वारा जीव भाव को प्राप्त होता है, फिर भी अपरिवर्तित ही रहता है। वह एक से अनेकत्व को प्राप्त होता है, फिर भी अक्षय है। केवल माया द्वारा सीमित होने के कारण 'पूर्णत्व' के अभाव में वह 'अणुत्व' को प्राप्त होता है।[1]

प्रकृति से सर्वप्रथम मन, बुद्धि, अहंकार का उदय होता है, तत्पश्चात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं वाक्, पाणिः, पाद, पायु, उपस्थ, पंच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर पंच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी एवं पंच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इति सांख्य के २४ तत्त्व ज्यों के त्यों यहाँ स्वीकृत कर लिए गये हैं। जीव को मिलाकर कुल ३६ तत्त्व काश्मीरीय शैवागम में माने गये हैं। संसार इन्हीं ३६ तत्त्वों की समष्टि है। इनके परे जो है वह तत्त्वातीत है। शाक्त मत में भी ३६ ही तत्त्व माने गये हैं। 'भेद केवल इतना है कि जहाँ शैव मत में शिवतत्त्व प्रधान है और शक्ति तत्त्व गौण। वहाँ शाक्तागम में शक्ति तत्त्व प्रधान है और शिवतत्त्व गौण। परन्तु जहाँ शिव और शक्ति दोनों एकरस हैं वहाँ न शिव का प्राधान्य है और न शक्ति का। वह साम्यावस्था है जो तत्त्वातीत है। शैवों का परमशिव और शाक्तों की पराशक्ति यही है। पद्धति के भेद को छोड़कर तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई प्रमुख भेद प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार सांख्य और योग में निकट सम्बन्ध है उसी प्रकार शैव और शाक्त मत में भी है।[2]

वस्तुतः संसार उस तत्त्वातीत परम शिव, परम सत्य की बाह्य अभि-

१—पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वाद् अणुत्वम् ;—प्रत्यभिज्ञा वृत्ति III, ii, 4।

२—कल्याण के शक्ति अंक में लिखित श्री गोपीनाथ कविराज के लेख से उद्धृत।

व्यक्ति मात्र ही तो है। इसीलिए जगत् मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य है क्योंकि परम सत्य की अभिव्यक्ति असत्य कैसे हो सकती है? शांकर वेदान्त की भाँति यहाँ संसार किसी अनिर्वचनीय माया की अभिव्यक्ति न होकर पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकटीकरण में परमशिव में कोई अन्तर आता हो ऐसा नहीं है। जगत् के रूप में आभासित होने पर भी शिव पूर्णतः निर्विकार निर्लिप्त रहते हैं। यही इस आभासवाद की विशेषता है। जगत् के मूल कारण में कोई भेद नहीं आता, एवं प्रत्यक्षतः भेद होते हुए भी ब्रह्म और जगत् की सत्ता एक है। इस प्रकार यहाँ आभासवाद का चरम उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है।[1]

साधना एवं मुक्ति :

अन्य अद्वैत दर्शनों की भाँति यहाँ भी जीव ब्रह्म रूप ही है। शिव की भाँति वह स्वातन्त्र्यपूर्ण है। स्वच्छन्दता उसका आन्तरिक स्वभाव है, परन्तु अज्ञानावरण में आवृत होने से यह स्पष्टतः लक्षित नहीं होता। 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' इसी सत्य का पुनः दिग्दर्शन कराता है। इसके लिए वह तीन उपाय बताता है —[2]

१. **आणवोपाय**—यह प्रारम्भिक उपासकों के लिये है। उपासना, अर्चना, एवं मानसिक संतुलन द्वारा यह मार्ग पार किया जाता है। इसमें योग भी स्वीकृत है।

२. **शाक्तोपाय**—इसमें अन्तःकरण का संस्कार गुरु की सहायता से किया जाता है। पुनः पुनः चैतन्य के विमर्श से आध्यात्मिक प्रकाश प्रस्फुटित होता है। अतः माया के नाश के लिये तत्त्व का पुनः पुनः परामर्श आवश्यक है।

३. **शाम्भवोपाय**—विकल्परहित स्थिति ही शाम्भवावस्था है। जड़ या परिमिति तत्त्व के निमज्जन से सहसा बोध प्राप्त हो जाने पर जो तादात्म्य

१—इदं विश्वं ......एकस्यां व परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेण आस्तेवर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्। अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—३२ तथा 'उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'—प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृ० ६।

२—तन्त्रालोक जिल्द ३ आ० १, पृष्ठ २०९, २१० तथा मालिनी विजयोत्तर तन्त्र की भूमिका द्वारा मधुसूदन कौल, पृष्ठ २०।

प्राप्त हो जाता है वह शाम्भवावेश कहा गया है। यह एक प्रकार का आभ्यन्तर ध्यान है जिसमें सहसा ही चैतन्य जाग्रत हो जाता है और किसी प्रकार की बाह्य साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

संक्षेप में अपने सत् स्वरूप को पुनः पहचानना ही इस दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। जो व्यक्ति इस तथ्य को अनुभव कर लेता है वह मुक्त हो जाता है। वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है और परम शिवरूप हो जाता है। इस प्रकार शिवरूप प्राप्त कर जीव के सभी सुख-दुःख समाप्त हो जाते हैं और वह पूर्ण ब्रह्मरूप हो जाता है। अज्ञान के कारण सभी भले-बुरे कर्म, जो जीव को घेरे रहते हैं, विशिष्ट ज्ञान के उदय होने पर समाप्त हो जाते हैं—यही उसकी मुक्तावस्था है।[1]



१—प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृष्ठ २।

द्वितीय अध्याय

शक्तिभाष्य में वर्णित विषयों की संक्षिप्त व्याख्या

विषय-प्रवेश :

> नमामो गौतमव्यासौ गोत्रसूत्रप्रवर्त्तकौ ।
> शंकराचार्यगंगेशोपाध्यायादींश्च सद्गुरून् ॥३॥

शक्तिभाष्य के मंगलाचरण का यह पद्य, स्पष्टतः श्री शंकराचार्य के प्रति श्री पंचानन तर्करत्न की भक्ति-भावना का प्रकाशन करता है। इससे यह भी लक्षित होता है कि इस भाष्य में पण्डित जी जगद्गुरु के अद्वैत वेदांत तथा गंगेश उपाध्याय के नव्य न्याय दोनों का समन्वय करके चले हैं। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ शांकर भाष्य शम दमादि साधन चतुष्टय सम्पन्न संन्यासी के ज्ञानार्थ रचा गया, वहाँ श्री पंचानन गृहस्थाश्रम को ही एकमात्र प्रमुख आश्रम मान कर गृहि—साधारण को भी इस ज्ञानमंदिर में प्रवेश करने का अधिकारी मानकर ज्ञान-काण्ड का द्वार खोल देते हैं। इस प्रकार शक्ति-भाष्य में शांकरभाष्य के विरुद्ध वाद का प्रतिपादन होने पर भी शांकर मत से इसका विरोध नहीं है क्योंकि 'लोकोत्तर गुरुजन' शिष्यों के जिज्ञासाभेद से विभिन्न प्रकार के उपदेश दिया करते हैं। उनका किसी एक मत विशेष में पक्षपात नहीं हुआ करता। इसका पुष्ट प्रमाण शंकर रचित 'प्रपञ्चसार' और 'सौंदर्यलहरी' में वर्णित 'गृहि साधारण' के लिये किया गया मोक्ष-मार्ग का उपदेश है। वस्तुतः श्री पञ्चानन जी इन्हीं दो ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लिखित शक्तिवाद का आश्रय लेकर उक्त भाष्य को लिखने में प्रवृत्त हुए हैं।[1] इसमें जहाँ कहीं सूत्रों के अर्थों में शंकर से भेद किया गया है तथा पदों में वर्णों का विश्लेषण किया है, वह कोई अपूर्व कल्पना द्वारा नहीं

१—'तैरेव भगवद्भिराचार्य्यचरणैर्गृहिसाधारणमोक्षमार्गोपदेशश्च प्रपंचसारे योऽसौ सप्रसादं सप्रयोगं सरहस्यं चोक्तः, आनन्दलहरीति गौडमण्डल-प्रसिद्धायां सौन्दर्य्यलहर्य्यां यस्य चाभ्यर्हणं तमेव विभिन्नप्रस्थानं शक्तिवादमाश्रित्यास्माभिरेतद्व्याख्यानमुपक्रम्यते ।'

(शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, उपोद्घात, पृष्ठ ४)

किया गया प्रत्युत श्रुति के अनुसार ही किया गया है। जैसे 'प्रणव' को अक्षर कहकर अप्रश्लिष्ट रूप में एक ही अक्षर माना गया है। पाणिनि के 'अवतेष्टिलोपश्च' में भी प्रणव को अप्रश्लिष्ट ही माना गया है, परन्तु 'माण्डूक्य' उपनिषद् में उसको तीन वर्णों 'अ, ऊ, म्' से घटित किया गया है। इसी पद्धति का शक्तिभाष्य में भी अनुसरण किया गया है।[1]

एक शास्त्रत्व :

इसके अतिरिक्त श्री पञ्चानन जी ने एक और मौलिकता प्रस्तुत की है और वह है पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का एक शास्त्रत्व प्रमाणित करना। उनके मतानुसार पूर्व मीमांसा जहाँ प्रवृत्ति धर्म वालों के लिये है वहाँ उत्तर मीमांसा निवृत्ति धर्म वालों के लिये है। कर्म, उपासना और ज्ञान धर्म का यही शाश्वत क्रम है। जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा द्वादशाध्यायी है और व्यास कृत उत्तर मीमांसा चतुरध्यायी है। संकर्षणकाण्ड के चार अध्याय न तो जैमिनी कृत हैं और न व्यास कृत। अतः वह मीमांसा शास्त्र के अन्तर्गत न होकर वेद के मध्यम काण्ड (उपासना काण्ड) के आश्रित है। मीमांसा शास्त्र दो मुनियों द्वारा रचित होने पर भी एक शास्त्र है और वह षोडशाध्यायी है। श्री मध्वाचार्य ने 'दिग्विजय' में भी यही माना है।[2] चतुर्दश विद्याओं की गणना में भी एक मीमांसा पद से ही दोनों का कथन है।[3] अतः इन दोनों का एक शास्त्रत्व संगत ही है, ऐसा पञ्चानन जी मानते हैं। अपने मत में सबसे पुष्ट प्रमाण देते हुए वे कहते हैं कि 'पूर्व मीमांसा के 'स्मृतेर्वास्याद् ब्राह्मणानाम्' इस अन्तिम सूत्र में जो ब्राह्मण शब्द आया है वह ब्राह्मण जाति विशेष का बोधक है और 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः'

१—'केचन मन्त्राः सूत्रतः श्रुतिभ्यश्चोपदर्शिताः तत्र चाक्षरविश्लेषपद्धतिः श्रुत्युपात्तदिशैवादृता; तथाहि माण्डूक्योपनिषदि–'अवतेष्टिलोपश्च'(१३६) इति पाणिनीयोणादिसूत्रेणाप्रश्लिष्टरूपतया सिद्धस्यापि प्रणवस्य प्रश्लिष्टवर्णत्रयघटितत्वमुक्तमेवमन्यत्रापीति तथाविधदिगनुसरणं नापूर्वकल्पनापदमारोहति।' (शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, मुखप्रबन्ध, पृष्ठ २)

२—द्रष्टव्य–शं० दि० १-५०-१५ तथा शक्तिभाष्य पृष्ठ नवम में उद्धृत पद्य।

३—'पुराणन्याय-मीमांसा-धर्म्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्दश॥'

(इति याज्ञ० १-७ शक्तिभाष्य, पृष्ठ ६)

इस व्याख्या के कारण यह शब्द ब्राह्मण से भिन्न 'ब्रह्म' पदार्थ को भी उपस्थित करता है। इस 'ब्रह्म' पद के दो अर्थ हैं-प्रथम वेद और द्वितीय परमात्मा। इस अन्तिम अर्थ (परमात्मा) को ही श्री पञ्चानन जी महाशक्ति कहते हैं।[1]

अपने मत को व्याकरण द्वारा पुष्ट करते हुए श्री पञ्चानन जी का तर्क है कि 'ब्राह्मणानाम्' इस षष्ठि विभक्ति की प्रकृति के अर्थ से भी ब्राह्मणत्व जाति, वेदज्ञत्व और परमात्मज्ञत्व तीनों का बोध होता है। यहाँ बहुवचन का प्रयोग भी इसी का द्योतक है।[2] अतः ब्राह्मण शब्द से जिसकी जिज्ञासा प्रारम्भ हुई है अथवा पूर्व मीमांसा के अन्तिम शब्द ब्राह्मण के द्वारा उठाई आकांक्षा, तद्विषयक ब्रह्म, उसकी जिज्ञासा, यही उत्तर मीमांसा के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ है। यहाँ पण्डित जी ब्राह्मण शब्द का 'वेदज्ञ' अर्थ न लेकर 'ब्रह्मज्ञ' अर्थ लेना ही उपयुक्त मानते हैं। 'अथ' पद का अर्थ है— 'व्यास के शिष्य जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा पढ़ लेने के अनंतर व्यासकृत उत्तर मीमांसा पढ़ो।' शंकर भी 'अथ' शब्द का अर्थ आनंतर्य करते हैं परन्तु उन के मत में 'शमदमादि साधन चतुष्टय के अनंतर उत्तर मीमांसा पढ़ो,' यह अर्थ है। जबकि श्री पञ्चानन के मत में पूर्व मीमांसा के अन्तिम अधिकरण में ब्राह्मण पद से जिस ब्रह्म की आकांक्षा हुई है उसके निवर्त्तक रूप में 'अथ' शब्द आया है।[3]

शंकर जहाँ तत्त्वज्ञानी का कर्मकाण्ड में कोई अधिकार नहीं मानते वहाँ पञ्चानन जी ब्रह्मज्ञ के ऋत्विक् होने में कोई बाधा नहीं मानते। प्रत्युत उनके मत में ब्रह्मज्ञानी के हवन आदि के कर्मों का फल अनंत होता है। श्रुति में तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य का राजर्षि जनक से 'गौ' आदि का ग्रहण (ऋत्विक् कर्म) कहा गया है। अतः इससे सिद्ध है कि श्री पञ्चानन का मत कपोल कल्पना मात्र नहीं है प्रत्युत उसके पीछे श्रुति की दृढ़ आधार भित्ति है। ब्रह्म-ज्ञान के भी वे दो भेद मानते हैं—परोक्ष तथा अपरोक्ष। अपरोक्ष के पुनः दो भेद हैं—प्रथम 'अविद्या संस्कार अनुविद्ध और द्वितीय अविद्या संस्कार अननु-विद्ध।' अर्थात् प्रथम में अपरोक्ष ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी अविद्या का संस्कार बना ही रहता है परन्तु द्वितीय में यह संस्कार भी समाप्त हो जाता है। यही चरमावस्था है। इसी को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'जब तक ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष नहीं होता तब तक अविद्या संस्कार का अनुवेध (प्रसंग) बना रहता है

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, पृष्ठ नवम।

२—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, पृष्ठ दशम।

३—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश।

और तभी तक भेदज्ञान होने के कारण ऋत्विक् होना भी विरुद्ध नहीं है।'[1] और इस प्रकार जो ब्रह्म को जानने वाला श्रेष्ठ ऋत्विक्, वेदज्ञ ब्राह्मण है उसी से ब्रह्म जिज्ञास्य है और उस जिज्ञास्य ब्रह्म का निरूपण ही उत्तर मीमांसा शास्त्र का विषय है। अतः पूव मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) के इस प्रकार एकशास्त्रत्व का प्रतिपादन हो जाने से दोनों की एकवाक्यता ही है, पारस्परिक विरोध नहीं है।

यदि 'जिज्ञासा' पद का अर्थ मीमांसा (पूज्य विचार) हो तो भी जिज्ञासा को सगति का हेतु कहा जा सकता है। 'ज्ञातुं इच्छा इति जिज्ञासा'—साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान–उसके विषय की इच्छा, यही जिज्ञासा का अर्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिज्ञासा के लिये ही शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। यहाँ जिज्ञासा मीमांसा (पूर्व) के द्वारा ही उत्पन्न की गई है और जिज्ञासा का विषयभूत ज्ञान ही प्रमा (यथार्थ ज्ञान) है, और वह जिज्ञासा को लेकर ही उपदेश देने वाली है। उत्तर मीमांसा शास्त्र ब्रह्म के निर्णय का उपदेश देता है। अतः जिज्ञासा के द्वारा उत्तर मीमांसा शास्त्र का आरम्भ सर्वथा संगत ही है। इस प्रकार पूर्व मीमांसा द्वारा सामान्यतः ज्ञात ब्रह्म के विशेष ज्ञान का दिग्दर्शन कराने के लिए ही उत्तर मीमांसा का प्रणयन हुआ है, और न केवल इस प्रयोजन के लिये ही शास्त्रारम्भ है प्रत्युत इस प्रयोजन को निमित्त मात्र बना कर परम पुरुषार्थ मोक्ष का ज्ञान कराना ही उत्तर मीमांसा शास्त्र का परम उद्देश्य है। लोक–कल्याण की भावना से जैसे अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् श्री कृष्ण ने जगन्निस्तारक गीता शास्त्र का उपदेश दिया था और जैसे गार्गी को निमित्त करके महामुनि याज्ञवल्क्य ने अक्षर ब्रह्म का उपदेश दिया था उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये, ऐसा श्री पञ्चानन जी का मत है।[2]

श्रीचक्र के उपासक समयिमतावलम्बी भी संकर्षणकाण्ड के उपासनापरक होने से, उसके प्रसंग से प्रधान उपासना के उपदेश के लिये ही उत्तर मीमांसा का उपदेश है, ऐसा मानते हैं।[3]

२—'ब्रह्मज्ञानं यावदपरोक्षं न भवति तावत्तेन भेदापरोक्षज्ञानस्यानिवृत्तेः, अविद्यासंस्कारानुवेधे च············ सम्भवाच्चार्त्विज्योपपत्तेः'।

(शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ चतुर्दश)

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १५,१६।

२—'अत्र श्रीचक्रविदः समयिनस्तु संकर्षणकाण्डस्योपासनापरत्वात्, तत्प्रसंगेन प्रधानोपासनोपदेशायोत्तरमीमांसोपदेश इति वदन्ति।'

(शक्तिभाष्य, उपोद्घात, पृष्ठ एकादश)

इसके अतिरिक्त पूर्व मीमांसा का दूसरा नाम धर्म मीमांसा भी है, और धर्मादि, 'महाशक्ति' की विभूति रूप खण्ड शक्तियाँ हैं। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि श्रुति विहित 'प्रोक्षण अवहनन' आदि क्रिया के द्वारा यज्ञ सामग्री में 'शक्ति विशेष' उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही यज्ञ की साधन ब्रह्मस्वरूप अग्नि की सप्त शक्तियों का सप्तजिह्वा रूप में वर्णन है। 'काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनी विश्वरुची च' (मुण्ड० १।२।४) में काली–संहरण शक्ति–दाहिका शक्ति कही गई है। कराली–भयजनन शक्ति, मनोजवा–वैद्युतिक शक्ति, सुलोहिता–मृदादि की लौहित्य हेतु शक्ति, सुधूम्रवर्णा–धूमोद्गारिणी शक्ति, स्फुलिंगिनी–स्फुलिंगनिर्वर्त्तिनी शक्ति तथा विश्वरुची–निखिल प्रकाश अथवा विश्व प्रीणनी शक्ति–ये सब अग्नि शक्ति के अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार वेद के कर्मकाण्ड भाग में अनेकों खण्ड शक्तियों का उपदेश है। उनमें से अधिकांश का धर्म मीमांसा (पूर्व मीमांसा) में विचार किया गया है परन्तु उन सब की नियन्त्री महाशक्ति का वहाँ उल्लेख नहीं है। उत्तर मीमांसा में उसी (महाशक्ति) की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे भी मीमांसा शब्द में पूर्व और उत्तर दोनों भागों का समावेश हो जाता है अतः इनका एक शास्त्रत्व युक्तियुक्त ही है।[1]

यद्यपि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का 'एकशास्त्रत्व', ज्ञान कर्म समुच्चयवादी भास्कराचार्यादि आचार्य भी पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा को मिलाकर विंशत्यध्यायात्मक कह कर, स्वीकार करते हैं; परन्तु आचार्यपाद श्री पंचानन जी ने जिस प्रकार इन दोनों शास्त्रों का एकशास्त्रत्व प्रतिपादन किया है तथा जिस प्रकार गृहस्थियों को भी उत्तर मीमांसा का अधिकारी सिद्ध किया है वह उनकी मौलिक उद्भावना शक्ति का परिचायक है। उनके द्वारा प्रदर्शित उभय शास्त्र की यह एकवाक्यता अधिक सुसंगत, युगोपयोगी, और अधिक युक्तिपूर्ण होने के कारण दार्शनिक विद्वानों का इस विषय में पूर्ण समाधान करती है।[2]

शक्ति-ब्रह्म का स्वरूप

या नित्या श्रुतिशीर्षदर्शिततनुर्ब्रह्मा यदाद्यप्रजा
विश्वेषां जननस्थिती विदधती मातेति या गीयते।

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, उपोद्घात, पृष्ठ ८।

२—इस समुच्चयवाद एवं एकशास्त्रत्व के लिये देखिये—'ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, अनन्तकृष्ण शास्त्री द्वारा सम्पादित' (क० सं० सिरीज़ नं०)१, पृ० २–४.

अंके सुप्तमिवात्मजं वहति या कल्पावसन्नं जगत्
तां दुर्गां चिदचिन्मयीं परतरानन्दाय वन्दामहे ॥१॥[1]

शङ्कर ने जिस आदि तत्त्व को ब्रह्म के नाम से कहा है उसी श्रुतिशीर्ष दर्शित (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि) नित्य स्वरूप को पंचानन जी ने शक्ति (दुर्गा) नाम से स्मरण किया है। वही सर्व प्रपंच को धारण किये है। सबका लय भी उसी में है। केवल एक भेद है और वह यह कि जहाँ ब्रह्म केवल चित् स्वरूप है वहाँ शक्ति (दुर्गा) 'चिदचिन्मयी' है। इसी प्रमुख भेद के कारण 'शक्तिभाष्य' की विशेष महत्ता है। यह 'शक्तितत्त्व' कोई नया विषय नहीं है प्रत्युत सब उपनिषदों में निगूढ़ है, सम्पूर्ण मन्त्रशास्त्र (तन्त्रों) में प्रसिद्ध है। अनेकों मुनियों के वचनों में समूढ़–समाया हुआ है, 'समयिमत विशिष्ट' है अर्थात् दुर्गापूजा के मत से युक्त है, अमृत के समान मीठा है और सम्पूर्ण संसार का अभीष्ट है। इसी की व्याख्या इस ग्रंथ (शक्तिभाष्य) का प्रमुख विषय है।[2]

जैसा कि प्रथम अध्याय में भी सूचित किया जा चुका है, कि श्री पंचानन जी ने 'शक्तिभाष्य' में, परम्परा से प्रचलित 'शाक्तमत' का आश्रय नहीं लिया है अपितु उन्होंने 'स्व-प्रतिपादित' 'स्वरूपाद्वैतवाद' को प्रमुख स्थान दिया है। इसी आधार पर शक्ति ब्रह्म की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है— 'नित्यसम्बद्धचिदचित्पर्य्याप्त-सत्ताविशेषः शक्तिरिति ब्रह्मेति परमात्मेत्यादिनामभिश्च व्यपदिश्यते। स चैकः। तद्व्याप्याश्च नित्यानित्यभेदभिन्नाः शक्तयोऽनन्ताः।'[3] अर्थात् शक्ति को उन्होंने चिदचिदुभयपर्याप्त सत्ता मात्र माना है और वह एक है। शंकर भी ब्रह्म को 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्'[4] कहते हैं। अर्थात् वह ब्रह्म नित्य शुद्ध (निर्विकार) बुद्ध (सर्वगत) मुक्त स्वभाव वाला है, सर्वज्ञ है, विज्ञानस्वरूप और आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति देखने से 'बृह्' धातु 'बृहि बृद्धौ बृंहणाद्ब्रह्मेति के

१—शक्तिभाष्य 'मंगलाचरण', पृष्ठ १।

२—उपनिषदुपगूढं मन्त्रशास्त्रेषु रूढं मुनिवचनसमूढं नित्यविभ्रष्टमूढम्।
समयमतविशिष्टं यत् सुधास्वादमिष्टं तदिह जगदभीष्टं शक्तितत्त्वं प्रदिष्टम् ॥४॥ (शक्तिभाष्य, मंगलाचरण, पृष्ठ १)

३—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, मुख प्रबन्ध, पृष्ठ १।

४—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, प्रथम सूत्र, व्याख्या भाग तथा चतुर्थ सूत्र व्याख्या भाग (निर्णयसागर संस्करण) पृष्ठ ४२ तथा ६६।

अनुसार ब्रह्म के इन्हीं गुणों की प्रतीति होती है। वह देशकाल से अपरिच्छिन्न होने के कारण नित्य है और अविद्यादि सर्वदोष शून्य होने से शुद्ध है। जाड्यादि रहित होने से बुद्ध है और सर्वबन्धनों से मुक्त होने के कारण मुक्त है—मोक्ष स्वरूप है। इसी से आनन्द स्वरूप है। इसी को और स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं 'इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्य तृप्तं निरवयं स्वयंज्योतिःस्वभावम् ।'[1] 'सत्ता रूप' में शक्ति भी कूटस्थ नित्य है, व्योमवत्सर्वव्यापि है। सम्पूर्ण संसार माता के अंक में सुप्त बालक के समान उसमें स्थित है। परन्तु वह चिन्मात्र ब्रह्म के समान सर्वथा क्रियारहित नहीं है। चिदंशेन निर्विकार निर्विशेष होने पर भी अचिदंशेन शक्ति, क्रियाशील है। इससे अद्वैत भंग होने की आशंका नहीं की जा सकती; क्योंकि मूल रूप से सत्ता एक है चित् अचित् उसके दो स्वरूप मात्र हैं। इन दोनों में नीर क्षीर वद् संयोग सम्बन्ध है। चिन्मात्र ब्रह्म जनन क्रिया का अपादान नहीं हो सकता। उपाधि से मानने पर भी रज्जौ सर्पः इस प्रयोग से ब्रह्म में अपादानत्व सिद्ध नहीं होता, जबकि ब्रह्म में जनन का अपादान श्रुति से सिद्ध है।—'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।'[2] वृक्ष में अवच्छेदक भाव से जैसे शाखावच्छेदेन कपि संयोग रहता है किन्तु मूलावच्छेदेन कपि संयोग का अभाव रहता है उसी प्रकार ब्रह्म में (शक्ति में) चित् के अवच्छेद से निर्गुणत्व और अचित् के अवच्छेद से सगुणत्व रह जाएगा। अतः शक्ति-ब्रह्म ससंग भी है और निःसंग भी है। इस प्रकार अद्वैत-श्रुति व्याकुपित भी नहीं होगी। सत्ता रूप से दोनों एक हैं इसी से अद्वैत है।[3]

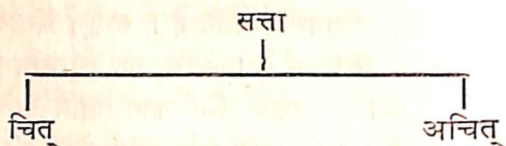
ब्रह्म के लक्षण में सत् चित् आनन्द को ही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण वेदान्त में माना गया है। किन्तु इनमें 'सत्-ब्रह्म' यही लक्षण प्रधान होने से चित् और आनन्द के लिये आधार सा उपस्थित करता है। कारण यह है कि ब्रह्म, सद्रूप में ही प्रत्यक्ष गोचर है। 'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' कह कर श्रुति भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। सत् घटः सत् पटः इस प्रतीति में भी घटाद्यवच्छिन्न सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतएव 'अस्तीत्येव बोद्धव्यम्' में सत्ता के बोध के लिये ही 'एव' अवधारणार्थक अव्यय के प्रयोग का स्वारस्य स्पष्ट है।

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, पृष्ठ ७३।

२ द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ २३, २७।

३—द्रष्टव्य— वही वही, पृष्ठ ३२।

स्वरूपाद्वैतवाद में 'सत्' स्वरूप को ही स्प रूप से प्रधानता दी गई है। चित् और अचित् तो उसके दो Modes ही हैं और इस प्रकार सत्ता के ये दो स्वरूप–चित् और अचित् उभय पर्यात लक्षण के रूप में प्रस्तुत दर्शन में वर्णित किये गए हैं। अद्वैत में चित् ही ब्रह्म है अथवा विशिष्टाद्वैतवाद में चिदचिद् विशिष्ट ही ब्रह्म है। इन दोनों का सुन्दर समन्वय, स्वरूपाद्वैतवाद में हो जाता है।



परम्परागत शाक्त मत से भी इस मत का यही प्रमुख भेद है। वहाँ शक्ति को 'चिति' माना गया है।[१] यहाँ चित् अचित् दोनों। चित् शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति और अचित् शक्ति अर्थात् प्रकृति शक्ति–क्रियाशक्ति, इन दोनों के नित्य-सम्बन्ध को 'बलशक्ति' कहते हैं। चिति शक्ति को ही पुरुष की संज्ञा दी जाती है। शंकर कृत प्रपंचसार में भी लिखा है—'प्रकृतिः पुरुषश्चेति नित्यौ कालश्च सत्तमः'[२] सत्ता यद्यपि स्वयं एक और अद्वितीय है तथापि द्विविध नित्यवस्तुओं का अवलम्बन करने से वह सर्वव्यापक कही जाती है। इन दोनों में एक (चित्) अपरिणामी नित्य है और द्वितीय (अचित् परिणामी नित्य है। इस द्वितीय को माया, गुणत्रयात्मिका प्रकृति आदि नामों से भी कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य एक रहते हुए भी वस्त्र परिवर्त्तन करता है, उसी प्रकार वस्तु के (सत्ता) एक रहते हुए भी अवस्थादि में परिवर्त्तन होता रहता है। इसी परिवर्त्तन का नाम परिणाम है। उदाहरणतः प्रकृति का प्रथम परिणाम महत्त्वादि है।

सत्ता स्वप्रकाश है। वही सत्ता चित् और अचित् के नित्य सम्बन्ध रूप में है। इसीलिये चित् और अचित् के सम्मेलन-सूत्र को 'काल' की संज्ञा दी गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ज्ञान, बल और क्रिया को स्वाभाविकी शक्ति कहा गया है। इसमें 'बल' शक्ति ही कालस्वरूपिणी है। यही ज्ञान (चित्) शक्ति और क्रिया (अचित्) शक्ति इन दोनों का सम्मेलन सूत्र है और यह सम्मिलित रूप नीर क्षीर के समान है।[3] स्वरूपाद्वैतवाद की यही प्रमुख

१—द्रष्टव्य—क्षेमराजाचार्य कृत 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' प्रथम सूत्र।

२—वही—प्रपंच सार, अ० १ सू० २१।

३—वही-कल्याण का शक्ति अंक श्री पंचानन कृत 'ब्रह्मसूत्रों में शक्ति' लेख।

विशेषता है जो इसे परम्परागत शाक्त मत से भिन्न श्रेणी में उपस्थित करती है।

ब्रह्म, शक्ति स्वरूप ही है

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥'

श्रुति में स्पष्टतः 'देवात्मशक्ति' का निर्देश होने से ब्रह्म का शक्तिस्वरूपत्व सिद्ध हो जाता है। इसमें ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न होने से यह मत अयुक्त है, ऐसी शंका करना उचित नहीं, क्योंकि 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्' (श्वे॰ १–१) इस पूर्व मन्त्र में ब्रह्म की जिज्ञासा का उपक्रम करके 'देवात्मशक्तिम्' इस उत्तर वाक्य द्वारा उसका समाधान किया गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—ब्रह्म का यह लक्षण 'देवात्मशक्ति' में ही घटता है। उसी को ऋषियों ने 'ध्यानयोग' से देखा, क्योंकि ब्रह्म ही 'ध्यानयोग' से लक्ष्य है। 'यतः आद्यस्य जन्म' इसके द्वारा भी लक्षण का संग्रहण होने से जैसे तरंग के जन्म का अपादान जल है और तरंग जनित बुदबुदमाला का अपादान भी वही जल होता है उसी प्रकार जो शक्ति आद्य के जन्म का हेतु है वही आद्य से जनित समस्त प्रपंच के जन्म का अपादान कारण भी है, यह कथन युक्तियुक्त ही है। अथवा जैसे सांख्य मत में मूल प्रकृति का 'महदादि' से सृष्ट अहंकारादि का अपादानत्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार यहाँ भी शक्ति आद्य का भी अपादान है और आद्य कृत सम्पूर्ण भूतों का भी।[1]

'देवात्म शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार 'दिव' धातु 'क्रीडार्थक' है। 'देवात्मा'—क्रीड़ा सहित आत्मा। 'क्रीडा' ही अचित् शक्ति है और 'आत्मा' चित् शक्ति है। यह उभयरूप शक्ति ही ब्रह्म है। 'देवात्मशक्ति' पद का समास 'देवात्मनः शक्ति' इस षष्ठी तत्पुरुष की अपेक्षा 'निषादस्थपतिन्याय' से 'देवात्मैव शक्ति' ऐसा कर्मधारय का ग्रहण ही युक्तिसंगत है। इसके अतिरिक्त शांकर मतानुसार ब्रह्म और आत्मा में अभेद होने के कारण 'कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः' इस उक्ति के अनुसार आत्मा का अधिष्ठातृत्व और ब्रह्मवृत्तित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अधिष्ठेय–अधिष्ठातृ भाव में भेद की अपेक्षा रहती है अतः 'उभयात्मक' ब्रह्म मानने से प्रत्येक में (चित्

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६,५०।

अचित्) 'उभयपर्याप्त' धर्मावच्छिन्न भेद की दृष्टि से अधिष्ठातृत्व स्वयमेव सिद्ध हो जाएगा। इसलिये ईक्षण श्रुति से शक्ति ही ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ।[1] 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इस श्रुति का शंकर के स्वप्रकाशित (स्वयं ज्योति) ब्रह्म से भेद नहीं है क्योंकि 'सर्वशक्तिसमन्वितम्' ब्रह्म का 'स्वगुणेन गूढत्वं' युक्त ही है। अन्यथा अपने गुणों में गूढ़ न होने से 'ब्रह्मसाक्षात्कार' सदैव सर्व सुलभ होने से सब का मोक्ष हो जाएगा। श्रुति भी इसीलिये 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' कहती है। अतः शक्ति ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं अपितु ब्रह्म रूप ही है।[2]

शक्ति पद के स्त्रीवाचक होने से उसके ब्रह्मपरत्व होने में शंका नहीं की जा सकती। कारण, स्वयं श्रुति 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' का प्रतिपादन करती है।[3] शंकर ने भी 'सौंदर्यलहरी' में शक्ति को शिव (परब्रह्म) से उच्चतर माना है। शक्ति रहित शिव स्पन्दन में भी असमर्थ है।[4] केवल पुरुष का कामना विरहित होने से कर्तृत्व उपपन्न नहीं होता। श्रुति में भी कहा है 'आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर-मनुसंज्वरेत्॥' (बृह० ४–४ ब्रा० १२) अतः ब्रह्म चिन्मात्र नहीं है प्रत्युत चिदचिद्विशिष्ट शक्ति स्वरूप ही है।[5] शक्ति किसी पर (शक्तिमान् पर) आश्रित ही हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं क्योंकि 'देवात्मशक्ति' में 'आत्म' शब्द हेतु है। 'बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेत्यात्मैव गीयते' के अनुसार ब्रह्म 'आत्मा' ही कहा गया है। इसकी मूलभूत श्रुतियाँ हैं 'एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि। योगसूत्रादि में 'दृक् शक्ति' आदि पदों का प्रयोग 'आत्मा' का ही सूचक है। अतः शक्ति स्वतंत्र ही है।[6]

'ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति यत् 'सत्' तदमृतं यत् 'ति' तन्मर्त्यम् अथ यद् य तेनोभे यच्छति' (छान्दोग्य० ८–३) 'सतीयमिति' सत्यम् के इस पदच्छेद में स्वयं श्रुति चिदचिद्रूप ब्रह्म का ही निर्देश करती है। 'सकार' अमृत पदवाची अपरिणामी सत्ता का प्रकाशक है और वह चित् रूप है। 'तकार' मर्त्य पदार्थ के परिणामी सत्ता

१,२—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ५०,५१।
३— वही वही , पृष्ठ ८२।
४—सौन्दर्यलहरी, प्रथम सूत्र।
५—द्रष्टव्य—शक्ति भाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६।
६—वही वही वही , पृष्ठ ५८-५६।

का द्योतक है और वह अचित् रूप है। 'अथ यद् यं' अर्थात् जिसका दोनों के द्वारा नियमन किया जाता है या जो इसके द्वारा नियंत्रित होते हैं उसी को 'यम्' कहते हैं और यह सम्बन्ध प्रतिपादक है। यह सम्बन्ध 'काल' से घटित है और 'काल' प्रकृति का 'रजोंऽशविशेष' है, उसकी शक्ति 'बलाख्या' है। दोनों (चित् अचित्) विभु पदार्थ हैं। काल उन्हें जोड़ता है। अतः नित्यद्वित्व रूप से उनका नित्य संयोग है। 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपं मूर्तं चामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च' (बृह० २।३ ब्रा०) 'क्षरं प्रधानमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे० १।१०) तथा 'संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वे० १।८) इस प्रकार श्रुति स्वयं सत्ता का उभयवृत्तित्व और शक्ति का ब्रह्मत्व प्रतिपादन करती है अतः यह सिद्धान्त 'अशब्द' अर्थात् श्रुति रूप शब्द प्रमाण से प्रमाणित नहीं है—ऐसी शंका नहीं की जा सकती।[1]

मूल-शक्तिः आत्मा

'आत्म' शब्द यद्यपि नानार्थवाची है तथापि लाघव से अचित् मात्र से भिन्न में उसकी शक्ति है और भेद (अभाव) का अधिकरण रूप से लाघव है। अतः आत्म पद का मुख्य अर्थ चिदचिदात्मक मूलशक्ति ही है। श्रुति भी कहती है—'सः य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्।' यहाँ 'अणिमा' शब्द से मूलशक्ति का ही ग्रहण किया जाता है क्योंकि 'शक्तिमद्' शब्द से जिसका व्यवहार करते हैं उसकी शक्ति उस (शक्तिमद्) की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है, जिसे कोई निपुण (ब्रह्मज्ञ) व्यक्ति ही अनुमान द्वारा वर्णन कर सकता है। प्रत्यक्ष में जैसे अनेक प्रकार की वनस्पतियों में नाना शक्तियाँ निहित हैं लेकिन साधारण जन की अपेक्षा भिषग् (वैद्य) भी उनमें से कुछ को ही जानकर उनका प्रयोग करता है, सब को नहीं, उसी प्रकार सूक्ष्मों में सूक्ष्मतम सबकी मूलभूत आद्यशक्ति को भी कोई विरला ही जान पाता है। वही साक्षात् मोक्ष हेतुक ज्ञान का विषय-,आत्म स्वरूपा है। सभी शक्तिमान् तथा उनकी शक्तियाँ उससे उद्भूत हुई हैं। इसी से 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' कहा है।[2]

'आत्मा हि नाम स्वरूपम्' अर्थात् आत्मा तो वास्तविक स्वरूप ही है[3] और वह देह से पृथक् है। क्योंकि यदि ऐसा न माने तो 'ब्रह्मात्मत्व' का

१—वही वही वही , पृष्ठ ३६,३८,३९,५१,५२ तथा ५५।

२—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ६०,६१।

३— " शांकरभाष्य, प्रथम अध्याय, अधिकरण ५, सूत्र ६।

उपदेश किससे होगा ? साथ ही परलोक जिनका फल है ऐसे विधिवाक्यों की उपपत्ति नहीं होगी। 'उपलब्धिस्वरूप एव च नः आत्मा'—अतः 'आत्मा' उपलब्धिस्वरूप ही है और उपलब्धि नित्य है, देह नित्य नहीं; क्योंकि जब देह निश्चेष्ट रहता है, तब भी स्वप्न में नाना प्रकार की 'उपलब्धि' देखी जाती है इससे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व ही युक्तियुक्त है।[1] आत्मा और परमात्मा का अभेद है। अतः ब्रह्म ही 'आत्म' पद से निर्दिष्ट है— 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचित् मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत०१।१।१) 'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐत० आ० २।३।२-१) 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघृत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः,' 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां० ८।१४।१) 'स वा एष महानज आत्मा यो यं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) तथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छां० ६।१४।३) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मपद से परमात्मा का ही ग्रहण कराती हैं। ब्रह्म ही सब का आत्मा है, वही एक 'सर्वभूतेषु गूढ' सर्वव्यापी, सर्वान्तरात्मा स्वरूप भूत है। शंकर और पंचानन जी यहाँ तक तो एकमत हैं परन्तु शंकर जहाँ केवल चिन्मात्र ब्रह्म को आत्मस्वरूप मानते हैं वहाँ पंचानन जी अचित् सत्ता से भिन्न चित् सत्ता के ज्ञान के लिये ही चिन्मात्र आत्मत्व स्वीकार करते हैं। उनके मत में 'सः' 'सत्' और तत्' पदार्थ वाची है, इससे चिदचिदुभयवृत्ति सदाश्रय ही इसका अर्थ है। 'य एष अणिमा' अर्थात् जो शक्ति धर्म्मिभूत होने पर भी धर्मवद् व्यवहृत होती है वही वस्तुतः सर्वतः सूक्ष्मा आद्याशक्ति है। 'अणु' पद का अर्थ यहाँ परमाणु विशेष नहीं है क्योंकि उस अणु-परिमाण वाली वस्तु के परिच्छिन्न होने पर फिर शक्ति में 'सर्वात्मत्व' कथन असम्भव हो जाएगा। चिन्मात्र पुरुष के 'आत्मत्व' का उपदेश (शांकर) यथा 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता' (श्वेता० १।६) अथवा अचित् से भेद रूप का उपदेश, यथा 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' (कठ० १।३।११) अचित् सत्ताव्यतिरिक्त चित् सत्ता के ज्ञापन के लिये ही किया गया है। क्योंकि उसके (चिन्मात्र के) ज्ञान के बिना उभयात्मक ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उभयात्मक सत्ता रूप मूलशक्ति का ही आतम शब्द से ग्रहण करना युक्ति-युक्त है।[2]

१—द्रष्टव्य—वही , तृतीय अध्याय, पाद तृतीय, अधि० ३०, सूत्र ५३,५४।
२— " शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ६१,६२।

शक्ति-तुरीय और आनन्द ब्रह्म

'तुरीयया माययान्त्यया निर्दिष्टं परमं ब्रह्म', 'अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति' तथा 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादि श्रुतियों से तुरीय पद ब्रह्मपरक ही सिद्ध होता है। यहाँ तुरीय शब्द प्लुत स्वर की मात्रा विशेष से कहा गया है।[1] जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ जीव की हैं, चतुर्थ तुरीयावस्था ब्रह्म की है। ब्रह्म और जीव का यहाँ अभेद है। सभी अद्वैत सिद्धान्त यद्यपि यहाँ एक मत हैं तथापि शंकर सुषुप्ति में भी उपाधि के शान्त होने से तथा स्वस्वरूप की प्राप्ति होने से आत्मा को सुषुप्ति स्थान मानते हैं। उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता; अतः सुषुप्ति में जीव का आधार ब्रह्म ही है। स्वप्न और जागरित में तो उपाधि के सम्पर्क से (जागरित में स्थूल और सूक्ष्म शरीर तथा स्वप्न में सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि के सम्पर्क से) भिन्न रूप की प्राप्ति सी होती है। परन्तु सुषुप्ति में 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस श्रुति के अनुसार सत् के साथ जीव एकीभूत हो जाता है, और अपने तात्विक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[2] श्रुति भी कहती है 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' ॥ (काठ० १।३।१०-११) अर्थात् पुरुष (ब्रह्म) से परे कोई नहीं है।[3] वह सर्व इन्द्रियातीत है, मन वाणी का अविषय है। वह प्रत्यगात्मा रूप नित्य शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाला है इसीलिये उसे 'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इत्यादि श्रुति में निषेधतः (वह ऐसा नहीं, वह ऐसा नहीं) निर्देश किया गया है अर्थात् उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ब्रह्म सभी दृश्यमान वस्तुओं से परे है। प्रथम 'नेति' से उसके सभी कल्पित आकारों का निषेध किया गया है। द्वितीय 'नेति' से वही परिशेष है अर्थात् उसके अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है। वह सत्य का भी सत्य है—परम सत्य है। वही एक अस्तित्व स्वरूप, सत्ता स्वरूप है; (अस्तीत्येवोपलब्धव्यः क० ६।१३) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। स्मृति भी उसे 'अव्यक्त अचिन्त्य और अविकारी' कहती है। (अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते–भग०

१—द्रष्टव्य— शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १४१, २४७।

२— " –शांकर भाष्य, अध्याय ३, पा० २, अधि० २ सूत्र ७, व्या० भाग।

३— " — वही , अध्याय १, पा० ४, अधि० १, सूत्र १, वही।

गी० २।२५) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।३।६) उससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं, वही सर्वद्रष्टा है ।[१] वह 'ज्योतिषां ज्योति' है 'परं ज्योतिः' 'स उत्तम पुरुषः' (छा० ८।१२।३) 'एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (छान्दो० ३।१२।६) इत्यादि श्रुतियाँ उस परम सत् स्वरूप ब्रह्म की महिमा का दिग्दर्शन कराती हैं । अतः वही अनुत्तर है, उससे परे कुछ नहीं है ।[२]

ब्रह्म ही सबको धारण करने वाला सेतु है । उन्मान अर्थात् महत् परिमाण है, वही सेव्य-सेवक भाव, शास्य-शासक भाव, तथा नियन्तृ-नियन्तव्य भाव रूप सम्बन्ध का प्रतिपादक है । जीव से भिन्न उसके हिरण्यमय पुरुषत्व का वर्णन है । अतः इन चारों कारणों से वही सबसे श्रेष्ठ है । जैसे कार्षापन सिक्के के चार भाग होते हैं, उसी प्रकार व्यवहार की प्रचुरता के लिये ब्रह्म के उक्त चार पाद कहे जाते हैं । अन्यथा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है वह 'आयाम' व्यापक है ।[३]

संसार में जो कुछ उपलब्ध होता है वह सब ब्रह्मरूप ज्योति द्वारा ही उपलब्ध होता है । यदि ब्रह्म अन्य के द्वारा भाष्य होता तो सूर्यादि उसके भासक होते, परन्तु ब्रह्म तो स्वयं ज्योतिःस्वरूप है अतः अन्य (सूर्यादि) से भासित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, प्रत्युत वह सबका (सूर्य चन्द्र आदि) का भासक और प्रेरक है । जैसे लोग राजा आदि के शासन में प्रवृत होते हैं उसी प्रकार यह अग्नि, सूर्यादि जगत् उसी ब्रह्म से डरते हुए विनय पूर्वक स्व-स्व व्यापार में प्रवृत्त होते हैं ।[४]

शंकर की भाँति श्री पंचानन जी भी शक्ति (ब्रह्म) को 'स्थूलेषु सूक्ष्माः, सूक्ष्मेषु सूक्ष्मतराः सूक्ष्मतमाश्चेति' मानते हैं । परन्तु वह सूक्ष्म शक्ति न तो केवल चित् स्वरूप है न केवल अचित् स्वरूप प्रत्युत उभय स्वरूपा है । यही प्रमुख भेद है । सर्व अपर शक्तियां (खण्ड शक्तियाँ) उसी एक अखण्ड-परा शक्ति के आश्रित हैं ।[५] आधुनिक विज्ञान भी सब स्थूल शक्तियों के मूल में एक सूक्ष्म शक्ति को मानता है । इसी दृष्टि से 'शक्ति भाष्य' अधिक समी-

---

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अध्याय ३, पा० २, अधि० ६ सम्पूर्ण ।
२— " — वही , अध्याय १, पा० १, अधि० १० सम्पूर्ण ।
३— " — वही , अध्याय ३, पा० २, अधि० ७ सम्पूर्ण ।
४—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, प्रथम अध्याय, पाद तृतीय, सूत्र २२ तथा ३९ ।
५— " —शक्ति भाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ६१ ।

चीन है। वह तुरीय शक्ति-'ब्रह्म' ज्योति रूपा है, गायत्री भी 'भर्गोज्योतिः' रूप होने से देवी परक है। दोनों में 'चरणाभिधानात्' समानता है। यथा 'चतुष्पाद ब्रह्म' (छा० ३।१८।२) तथा 'सैषा चतुष्पदा गायत्री' (छा० ३।१२।५) आम्भृणी वाक् को भी तेजोमयी होने के कारण ब्रह्म रूप मानते हैं 'तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) अथवा 'वाग् वा इदं सर्व्वं भूतम्' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।[1] यहाँ यह स्मरणीय है कि परम्परागत शाक्तमतावलम्बी भी वाक्-सूक्त को देवी सूक्त की संज्ञा देते हैं और उसका शाक्त तन्त्रों में प्रमुख महत्त्व है।

शंकर के समान पंचानन जी भी आत्मा को ही सुषुप्ति स्थान मानते हैं क्योंकि जीव यहाँ ब्रह्म-स्वरूप में लीन हो जाता है। 'अथ य एष सम्प्रसादो स्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम्' (छा० ८।३।४) 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः (बृ० २।१।२०) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सुषुप्ति ही आत्मा का परम स्थान है।[2] इससे अतीत तुरीयावस्था विशुद्ध ब्रह्मावस्था है। ब्रह्म और आत्मा (जीव) यद्यपि एक है तथापि उपाधि के कारण भेद है। इस प्रकार श्री पंचानन जी भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे जीव प्रकरण में की जाएगी। 'नेति नेति' शब्दों को जहाँ शंकर ने अन्य सब का निषेध करके ब्रह्मपरक माना है वहाँ पंचानन जी प्रथम 'नेति' पद द्वारा चिन्मात्र और द्वितीय 'नेति' द्वारा अचिन्मात्र ब्रह्म का निषेध अर्थ करके चिदचिदुभयात्मक सत्ता रूप शक्ति का परिशेष करते हैं।[3] वह अव्यक्त सत्ता परम सूक्ष्म है, 'इन्द्रियाद्यग्राह्यम्' है 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा' (मु० ३।१।८) तथा 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्य नहि गृह्यते' (बृ० ३।६।२६) आदि श्रुतियाँ सत्ता के परा रूप का ही उद्घोषण करती हैं। और वह परा शक्ति चिदचिदात्मक है। परिणामी सत्ता से प्रपंच भी सत्य है और अपरिणामी सत्ता से चित् (ब्रह्म) भी सत्य है। इस प्रकार चित् का अचित् से भेद रहते हुए भी सत्ता रूप से

१—द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ १३०,३१,३२।

२— " —शाक्त भाष्य, द्वितीय भाग, पृष्ठ २३८,३९।

३— " — वही वही , पृष्ठ २४५।

समानता होने से अभेद प्रतीति हो जाती है। अर्थात् सत्ता रूप से दोनों में अभेद ही है।[1] वही तुरीय ब्रह्म है।

शक्ति–ब्रह्म 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' है। क्योंकि विशुद्ध आनन्द नित्यस्वरूप होता है और शक्ति नित्यस्वरूपा है। अतः वही आनन्दस्वरूपा है। आनन्द से यहाँ तात्पर्य 'विषयानन्द' नहीं है क्योंकि 'आनन्द एव ब्रह्मेति विजानात्' (तैत्ति० ३।६) कहा है।[2] ब्रह्म ही आनन्द का हेतु है, धनवान् ही दूसरों को धन दे सकता है। 'एष ह्येवानन्दयति' इस श्रुत्यनुसार ब्रह्म ही निरतिशय आनन्दस्वरूप है और वही सबको आनन्द प्रदान करता है। अतः ब्रह्म आनन्द प्रचुर है।[3] 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्र० ३।६।२८) 'रसो वै सः', 'रसँह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' तथा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तैत्तिरीय २।६) इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सर्वातिशय आनन्द निराकार ब्रह्मरूप ही है। परन्तु 'तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः' इत्यादि श्रुति में रूपक द्वारा जो अवयवों की कल्पना की गई है, वह उस उस सुख के गुण प्रधान भाव को बतलाने के लिये है। और उसकी जो पुरुष रूप में कल्पना की है वह यह दिखलाने के लिये कि विषय-सुखों की अचिदवच्छेदेन और नित्य सुख की चिदवच्छेदेन एक ही ब्रह्म में अवस्थिति है। इस प्रकार पक्षी के रूपक से चिदचिद्रूप ब्रह्म का आनन्द प्राचुर्य कथन करना ही यहाँ प्रयोजन है। अन्य सांसारिक आनन्द अप्रचुर हैं। श्रुति भी कहती है—'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति, युवा स्यात् साधु-पुत्राध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः, तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तेन पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः, ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः।' इस प्रकार वह उत्तरोत्तर आनन्दों की परम्परा दिखाते हुए इनसे उत्तर आनन्द की महत्ता को यों दिखलाती है—'ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये' (तै० २।८)। आशय यह है कि आनन्द दो प्रकार का है-नित्य और सत्ववृत्ति रूप। ब्रह्मानन्द चित्स्वरूप नित्य आनन्द है और सत्त्ववृत्ति रूप आनन्द उस परम आनन्द के आश्रित विषयादि सुख है। प्रथम अपरिणामी आनन्द है तो द्वितीय परिणामी आनन्द।[4]

१—द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ २५६।
२— " —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ५०।
३— " —शांकरभाष्य, प्रथम अध्याय, अधिकरण ६, सूत्र १३।
४— " —शक्ति भाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ८५-८८।

वस्तुतः 'अंशिनोंऽशाः' के समान 'ब्रह्मण आनन्दः' में भी भेद में षष्ठी विभक्ति है; ब्रह्म चूँकि चिदचिदुभयात्मक है अतः चित्त्वावच्छेद से उसका आनन्द रूप है और अचित् के सामानाधिकरण्य से सत्व अंश में भी आनन्दत्व है। इस प्रकार निरतिशय आनन्द रूप से ब्रह्म आनन्दमय ही है।[1] 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति' इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मज्ञ विद्वान् के लिये भय का निषेध है यह अभयत्व 'ब्रह्मानन्द' के साक्षात्कार की योग्यता का सूचक है।

अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय में से अन्तिम आनन्दमय ही ब्रह्म है अन्य नहीं; क्योंकि अन्नमयादि में से एक-एक के ज्ञात होने पर भी जिज्ञासा-निवृत्ति नहीं होती। आनन्दमय के ज्ञान से ही जिज्ञासा का शान्त होना श्रुति में उल्लिखित है। अतः अन्नमय-चैतन्य अधिष्ठित आत्मा, प्राणमय-चैतन्य अधिष्ठित अन्तरात्मा, मनोमय--चैतन्य अधिष्ठित परमात्मा, विज्ञानमय-चैतन्य अधिष्ठत ज्ञानात्मा ये सब आगम परिभाषित पीठ देवता हैं और ब्रह्मस्वरूपा मूल विद्या ही आनन्दमयी कही गई है[2]। वही नित्य सम्बद्ध चिदचित्स्वरूपा शक्ति है। जैसे पुरुष चेतन आत्मा और अचेतन बुद्धयादि स्थूल देह के संघात से सम्बद्ध है उसी प्रकार यह आनन्दमय ब्रह्म भी चित्-अचित् से सम्बद्ध है। जिस प्रकार दुमकटा पक्षी मुँह के बल गिरता है और अपने कर्म करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार चित्-अचित् जब तक ब्रह्म पर प्रतिष्ठित नहीं होते तब तक सृष्टि आदि कार्य में समर्थ नहीं होते। अतः नित्यसम्बद्ध चिदचिदात्मक ब्रह्म ही उन दोनों की प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार अवयवों का अवयवी से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार चित् और अचित् का ब्रह्म (सत्ता) से सम्बन्ध है, और चूँकि चित्-अचित् दोनों में ही आनन्दमयता है अतः चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही आनन्दमय है। इन दोनों चित्-अचित् का ब्रह्म (सत्ता) से तादात्म्य सम्बन्ध है। और प्रत्येक अंश में प्रत्येक आनन्द का सम्बन्ध है और इन दोनों अंशों का परस्पर 'बल' नामक सम्बन्ध है। क्यकि उनमें सम्मेलन का सामर्थ्य है अतः 'उभय पर्याप्त सत्ता' विशेष ही आनन्द ब्रह्म है। केवल चिन्मात्र अथवा अचिन्मात्र में आनन्दत्व का अभाव है।[3] शंकर तथा परम्परागत शाक्त मत से श्री पंचानन

---

१ —द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ८८।

२— ,, — वही वही , पृष्ठ ६४,६५।

३— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १०७-१०८।

जी का यही प्रमुख भेद है। उक्त दोनों चिन्मात्र ब्रह्म अथवा शक्ति का आनन्दत्व मानते हैं। श्री पंचानन जी चिद्-अचिद् विशिष्ट ब्रह्म (सत्ता) का आनन्दत्व मानते हैं।

महाशक्ति : उपनिषदों की उमा

पूर्व वर्णित 'परं ज्योतिः' स्वरूपा महाशक्ति ही 'उमा' है। 'अथ या हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य' (छा० ८।६) इस पूर्व श्रुति के द्वारा 'लोहित ज्योतिषः के अन्त में 'परं ज्योतिः' ऐसी उत्तर श्रुति आई है। अतः वह ज्योति ही लोहित ज्योति कही गई है। 'तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्म्मफलेषु जुष्टाम्। दुर्गां देवीं शरणमहम् प्रपद्ये।' इस श्रुति में भी दुर्गापरनाम्नी 'उमा' को अग्निवर्णा कहा गया है और अग्नि तेजस्वरूप होने से स्वभावतः लौहित्य रूप ही होती है। यहाँ लौहित्य ज्योति उमा रूप ही है और वही महाशक्ति है। केनोपनिषद् को आख्यायिका द्वारा भी 'उमा' का अग्नि आदि की अपेक्षा प्राधान्य प्रदर्शित है और 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से 'लोहित' पद अग्निपरक नहीं प्रत्युत 'भगवती उमा' परक ही है।[1]

'तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगामु बुहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं' (के० ३।१२) इस श्रुति में 'तस्मिन्नेव' अर्थात् पहले से चल रहे प्रकरण में जिस आकाश में यक्षात्मा के तिरोहित होने पर, उसी आकाश अर्थात् ब्रह्म में 'बहुशोभमाना' स्त्री आई, तो जैसे लकड़ी के भीतर छिपी हुई अग्नि मन्थन के बाद उद्भूत शिखा के रूप में प्रकट होती है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये कि आकाश ब्रह्म में वह उमा रूप ज्योति प्रकट हुई। इसलिये इन्द्र को उसके अन्तः और बाह्य रूप का क्रम से अनुभव हुआ। 'सत्त्वबहुल' देवता हृदय में प्रकट होते हैं, बहिरासक्ति तो गौण रूप से होती है। दर्शन में पहले बाह्य सन्निकर्ष होता है पीछे मानस। यहाँ पर मानसासक्ति प्रथम है और परम सानिध्य रूप बहिरासक्ति पीछे है।' 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ० १।२।२२) इस श्रुति द्वारा साकार ब्रह्म उमा की आसक्ति कही गई है। अव्यवहित सम्बन्ध स्पर्श और आसक्ति दोनों एकार्थक हैं। अर्थात् अग्नि आदि देवताओं की अपेक्षा सबसे निकटतम स्पर्श इन्द्र ने किया-यही उपयुक्त श्रुति का तात्पर्य है।[2]

१—द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ ७२,७३।
२— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५,११६।

'दं दुर्गावाचकं देवी । ऊकारो रक्षणार्थकः । विश्वमाता च नादार्थः कुर्वर्थो बिन्दुरूपकः ॥' (वरदातन्त्र षष्ठ पटल) तन्त्रों में वर्णित महाशक्ति दुर्गा भी केनोपनिषदुक्त 'उमा' ही है। क्योंकि श्रुति में कहा है 'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय अमृतं मा कुरु।' 'दू' शब्द से दुर्गा मेरी रक्षा करे अथवा मुझे 'अमृतत्व' प्रदान करे एक ही भाव है। 'दुर्गाकवच' में 'उमादेवी शिरः पातु' ऐसा आरम्भ करके 'रक्ष माँ सर्वगात्रेषु दुर्गे ! देवि ! नमोऽस्तुते' (कुब्जिका तन्त्र) कहा गया है। इससे भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि विग्रह भेद होने पर भी दोनों देवियों का एकत्व है।[1]

ब्रह्म और 'उमा' एकार्थक हैं। प्रणव 'ॐ' की उपासना ही 'उमा' की उपासना है। 'अ, उ म्' (ॐ) ही 'उ, म, अ' (उमा) है। सम्पूर्ण जगत् 'ॐ' की ही व्याख्या है। दोनों की उपासना विधि एक है, लाभ एक है। 'अकारो भगवान् विष्णुरुकारश्च पितामहः। मकारश्च स्वयं रुद्रो विज्ञेयो ध्यान-तत्परैः' (शिव-पु० सनत्कुमार० ३२ अ० ८) इसी प्रकार 'ब्रह्मा वै वामपार्श्वे तु दक्ष पार्श्वे तु केशवः। उमाभ्यां मध्यतो रुद्रस्तिष्ठति ह्यैकऽविग्रहः।' (शि० स० ३२।३) स्मृति में भी उल्लेख है। 'उमा' शब्द में भी आदि का 'उ' सृष्टिकर्ता ब्रह्म के लिये है, अन्त का 'अ' पालनकर्त्ता विष्णु के लिये है और मध्य का 'म' प्रलयकर्ता रुद्र के लिये है। अतः 'ॐ' प्रणव के समान ही 'उमा' के वर्ण क्रमानुसार ध्यान का विधान है। ओंकार और उमा दोनों में सृष्टि, स्थिति और संहारकर्तृक ब्रह्म की उपासना का उल्लेख है। अतः दोनों का ऐक्य अप्रामाणिक नहीं है।[2]

शरीर रहते हुए भी उमा शरीराभिमानी देवता विशेष नहीं है, क्योंकि 'उमा' का शरीर तो साधक 'हिमालय दम्पती' के 'अदृष्टवैभव' से भगवती की कृपा विशेष से ही था। 'उमा' का उस शरीर में परिच्छिन्न भाव 'यह मैं हूँ' नहीं था। 'मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति' तथा 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' इत्यादि श्रुति स्मृति में वर्णित ओंकार और उमा एक ही तत्त्व है।[3] वस्तुतः जोवशरीर और उमाशरीर में बहुत अन्तर है। जीवों का शरीर अपने अपने अदृष्ट (पुण्य-पाप) द्वारा भूत-समूह से उत्पन्न होता है। परन्तु उमा का शरीर ग्रहण उपासक (भक्त) के अदृष्ट

१—द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ १२५।
२— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १५६, ६०।
३— ,, — वही वही , पृष्ठ १६६।

विशेष के प्रभाव से, भगवती की भक्त पर कृपा के द्वारा, स्वेच्छा से होता है। अतः उमा अभौतिक चिन्मात्र शरीरी है, सुख दुःख का भोग उसे नहीं होता, क्योंकि उसका कोई अदृष्ट (धर्माधर्म) नहीं होता। 'हिमवान्' के घर में उसकी शिशु देह का श्रवण वास्तविक नहीं है, प्रत्युत उपाधि से है। वस्तुतः वह व्योम संज्ञावान् है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए भी आकाशवत् विस्तृत है।[1] इसीलिये जहाँ एक ओर उमा की कुमारी भाव से उपासना सम्भव है वहाँ दूसरी ओर मातृभाव की उपासना का भी श्रवण है—'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते। तथा सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते।' (छा० ५।२४ खण्ड ५) अर्थात् भूखे बच्चे जैसे माता के पास जाते हैं वैसे ही प्राणाग्निहोत्र 'मातृभाव' से हो सकता है। स्मृति भी इसका समर्थन करती है—'सन्दर्शनार्थमम्बाया नदीपुलिनसंस्थितः', इति 'प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य' इति 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता' (सप्तशती) वही 'सर्वेश्वरेश्वरी' है।[2]

महामाता : सगुण-निर्गुण

ब्रह्म को शंकर, निर्विकार, निर्गुण, निर्विशेष ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में परब्रह्म परमात्मा में निर्विशेष और सविशेष रूप दो स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते। उपाधि के योग से परब्रह्म और ईश्वर दो संज्ञाएँ होने पर भी ब्रह्म का रूप-भेद सत्य नहीं है, क्योंकि अग्नि के सम्बन्ध मात्र से उष्ण जल में अग्नि का स्वभाव नहीं माना जा सकता। जल वस्तुतः शीतल ही है। इसी प्रकार ब्रह्म में ईश्वरतत्व की कल्पना अविद्या की उपाधिमात्र से है। वस्तुतः ब्रह्म निर्विशिष्ट ही है। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१५ मुक्तिको० २।७२) 'अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१६) इत्यादि श्रुतियों में निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्त्व ही प्रधान है। सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्यादि साकार ब्रह्म विषयक श्रुतियों में साकार ब्रह्म प्रधान नहीं है अपितु वे वाक्य उपासना विधि प्रधान हैं, और उपासना एक मानसिक क्रियामात्र है। इसीलिये कहा है 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'

१—द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ १७१-१७३।

२— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ १६६,७७।

(क० ४।११) जैसे आकाश को व्याप्त करके रहने वाला सूर्य या चन्द्रमा या प्रकाश अंगुलि आदि उपाधि के सम्बन्ध से अंगुलि आदि के सीधा या टेढ़ा होने पर प्रकाश भी टेढ़ा अथवा सीधा-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म भी नाना रूप में भासित सा प्रतीत होता है। परन्तु वे नाना रूप केवल उपासना के निमित्त से ही श्रुतिवाक्यों में कहे गए हैं। इस प्रकार ब्रह्म के आकार का वर्णन करने वाली श्रुतियाँ भी सप्रयोजन ही हैं, सर्वथा निष्प्रयोजन नहीं। परन्तु उनसे ब्रह्म का सगुणत्व सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है। ब्रह्म तो लवणपिण्ड के समान बाहर भीतर से सर्वदा एकरस चैतन्यमात्र, विलक्षण, रूपान्तर से रहित और निर्विकल्प ही है।[1]

श्री पंचानन जी भी सत्तारूप से शक्ति को 'एक' और 'निर्विकार' ही मानते हैं, परन्तु वह शक्ति चित् एवं अचित् उभयलिंग होने से जहाँ 'चिदंशेन' अपरिच्छिन्न है वहाँ 'अचिदंशेन' परिच्छिन्न भी है। इसीसे उन्होंने शक्ति को 'साकारा निराकारा च' द्विरूपेण वर्णित किया है।[2] कारण, केवल निर्विकार ब्रह्म आद्य का उपादान कारण नहीं हो सकता, केवल अचित् (अचेतन प्रकृति) भी जगत् रचना में सर्वथा असमर्थ होती है। इस प्रकार सगुणत्व और निगुर्णत्व दोनों परस्पर विरुद्ध होने पर भी ज्ञानत्व और ज्ञातृत्व के समान अवच्छेदक भेद से युक्तिसंगत हो सकते हैं।[3] भक्त के अनुग्रह का आश्रय करके 'निर्म्माणकायतया' शक्ति का साकारत्व है तथा 'नीरूप' से निराकारत्व है। 'चिद्रूपेण' वह परम सत्ता अदृश्य है तो अचिद्रूपेण दृश्य भी है। यह अवस्था-भेद ब्रह्म के अधीन ही है। वह चाहे तो रूपवान् रहे या अरूप रहे। जीव के वस्त्रादि परिवर्तन के समान ही परब्रह्म का उमादि शरीर ग्रहण है।[4]

'तस्मिन्नेवाकाशे बहुशोभमानां स्त्रियमाजगाम'—इस श्रुति से स्पष्ट ही ब्रह्म का साकारत्व हैमवती (उमा) शब्द से कहा गया है। 'अद्रिजा' और 'हैमवती' ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। 'अद्रिजा ऋतं बृहत्' इस श्रुति से अद्रिजा का 'बृहद्दतत्वेन ब्रह्मत्व' है। अतः उमाकार ब्रह्म का साकारत्व

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० ३, पा० २, अधिकरण ५, सूत्र ११-२१।

२— " —शक्तिभाष्य, मुख प्रबन्ध, पृष्ठ प्रथम (भाग प्रथम)।

३— " —शक्तिभाष्य, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद, अधि० ५, सूत्र ५, व्याख्या भाग, पृष्ठ ४८।

४— " —शक्तिभाष्य, द्वितीय भाग, अध्याय ३, पाद २, अधि० ५, सू० १४।

श्रुति स्वयं कहती है।[1] 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः' (मु० २।२।६) 'यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्णम्' (मुण्डक० ३।१) इत्यादि श्रुतियाँ अरूप ब्रह्म का सरूपत्व प्रतिपादित करती हैं और निर्विशेष दो प्रकार का होने पर भी सत्ता-स्वरूप से ब्रह्म एक ही है। इससे 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति' तथा 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' आदि श्रुतियों का बाध नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार यह कथन कि 'आत्मा' में आत्मत्व रहने पर और घट में न रहने पर भी आत्मा और घट (शरीर) उभय में आत्मत्व का अभाव है-तर्कसंगत ही है। इसी प्रकार अचित् में गुण रहता है और चित् में नहीं रहता, तो चित् अचित् उभय में गुण का अभाव कथन भी सुसंगत ही है। इस प्रकार ब्रह्म (शक्ति) निर्गुण ही होगा। अर्थात् अचित् रूप से सगुण होने पर भी 'उभयात्मक रूप से सत्ता निर्गुण निर्विकार है।'[2] यही पंचानन जी के चित् अचित् उभयात्मक शक्तित्व के सामानाधिकरण्य का तात्पर्य है।

चित्-अचित् : धर्म, महाशक्ति : धर्म्मि

शक्ति दो प्रकार की है-प्रथम धर्म्म रूपा और द्वितीय धर्म्मिरूपा। समस्त अपरा शक्तियाँ (खण्ड शक्तियाँ) धर्म्म रूपा हैं और जो 'ज्ञानबल-क्रियात्मकस्वभावसम्बद्धा' एक शक्ति है वह धर्म्मि रूपा है। उसी का नाम 'प्रतिष्ठा' है, वही ब्रह्म है।[3] उक्त अनन्त शक्तियों का (अपरा शक्तियों का) ब्रह्म (धर्म्मि रूपा शक्ति) के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। नित्य शक्ति (ब्रह्म) व्यापक है, अनित्य शक्तियाँ उसके आश्रित हैं। उन सब में ब्रह्म की सत्ता व्यापक है। वह नित्य सत्ता तीन प्रकार की है—१. अपरिणामिनी, २. समपरिणामिनी, ३. विषमपरिणामिनी। इनमें अन्तिम विषमपरिणामिनी सत्ता नित्य नहीं है, क्योंकि प्रलयदशा में उसका अभाव हो जाता है। इसीलिये उसे एक कार्य के अनुकूल होना और विषम परिणाम से उपलक्षित होना कहा है। ऐसी नित्यसत्ता प्रकृति और पुरुष दोनों में रहती है। उपर्युक्त प्रथम अपरिणामी सत्ता चिन्मात्रवृत्ति रूपा है, द्वितीय समपरिणामी

१—द्रष्टव्य - शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, प्रथम पाद, अधि० ६, सूत्र ११, व्याख्या भाग।

२— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, प्रथम पाद, अधि० ४, सूत्र ४, व्याख्या भाग, पृष्ठ ३१।

३— ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ८६।

सत्ता अचिन्मात्र वृत्ति वाली है और तृताय उभय वृत्ति सत्ता है जो चित्-अचित् दोनों में रहती है। सत्ता, कालसम्बन्ध है, विशेषण के भेद से प्रयुक्त काल का भेद है, इसी प्रकार सत्ता का भेद है। उभयात्मक ब्रह्म और पुरुष (जीव) में काल-सम्बन्ध विशेष रूपा नित्य सत्ता है। सम्बन्ध और सम्बन्धी एक वस्तु हैं, भिन्न नहीं। नैयायिकों के मत में जैसे घट के अभाव का अभाव घट ही है उसी प्रकार यहाँ भी स्वरूप सम्बन्ध समझना चाहिये। एव प्रथम, केवल चिन्मात्र में रहने वाली सत्ता घटादि में अव्यापक है। द्वितीय अचिन्मात्र में रहने वाली सत्ता चेतन जीव आदि में अव्यापक है। अतः तृतीय उभय रूपा सत्ता ही 'स्वरूपेण' सर्वसत्ताव्यापिका है।[1]

वस्तुतः ब्रह्म में साधारणी एक ही सत्ता है। चित् और अचित् दोनों उस एक सत्ता से सम्बद्ध हैं। संयोग के समान यह सम्बन्ध भी दूध-पानी जैसा चित् और अचित् को एक रूप से ग्रहण करवाता है। दो विभु पदार्थों का संयोग जैसे नित्य माना जाता है वैसे ही चित् और अचित् का यह सम्बन्ध भी नित्य ही है, किंतु किसी विशेष अधिकरण में जहाँ एक प्रकार की सत्ता रहती है वहाँ दूसरी का अभाव हो सकता है। इसलिये 'प्रकृति', जो नित्यसत्तावती है, अनित्य सत्ता के प्रभाव से कहीं-कहीं 'असती' कही जाती है और ब्रह्म भी केवल अचित् में रहने वाली द्वितीय सत्ता के अभाव से असत् कहलाता है। अतः श्रुति में कहा है 'असद्वा इदमग्र आसीत्' तथा नासदीय सूक्त में भी कहा है 'नासदासीन् नो सदासीत्'। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में परिणामित्व और अपरिणामित्व के द्वारा जो भेद है उसको छोड़कर केवल सत्तामात्र ही कहा है। अतः 'एव' शब्द का प्रयोग असंगत नहीं है। दूसरी श्रुति में वै-कार 'एव' का ही द्योतक है। असत् का अर्थ यहाँ 'अनित्य सत्तावत् एव' ही ग्रहणीय है। इसीलिये असत् के साथ आसीत् कह कर सत्ता का बोध कराया गया है। सर्वथा असत् के साथ आसीत् (सत्ता) का प्रयोग नहीं होता। 'आकाश कुसुम' के समान 'निरुपाख्य' असत् पद का अर्थ यहाँ नहीं है। इसीलिये आगे कहा है 'कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् 'गगन कुसुम' के समान सर्वथा 'निरुपाख्य' असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार एकान्त असत् के उपादानत्व का निषेध किया गया है और सत्-असत् स्वरूप को स्वीकार किया गया है। जैसे असत् त्वचा से युक्त होने पर ही सत् तण्डुल की उत्पत्ति होती है न कि केवल सत् तण्डुल अथवा केवल असत् त्वक् से, उसी प्रकार नित्य सम्बद्ध सत्-असत् (चित् अचित्)

१--द्रष्टव्य— वही वही , पृष्ठ ३३,३४।

उभयात्मक ब्रह्म (शक्ति) से ही प्रपंच की रचना संभव है।[1] अस्तु, न केवल चित् तथा न केवल अचित् प्रत्युत दोनों का समन्वय ही 'सत्' पदार्थ है।[2] यह 'चिदचिदात्मक' 'सत्' पदार्थ दोनों अधिकरणों में समान रूप से व्याप्त है—चिद् अधिकरण में भी और अचिद् अधिकरण में भी। अतएव चित् का भेद अचित् से रहते हुए भी दोनों में 'सत्तारूपेण' समानता होने से अभेद की प्रतीति हो जाती है।[3] इसी कारण इस सिद्धान्त को 'स्वरूपाद्वैतवाद' कहा गया है।

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ३५, ३६, ३६।
२— " — वही , वही , पृष्ठ २८७।
३— " — वही , वही पृष्ठ २५६।

तृतीय अध्याय

शक्तिभाष्य और शांकरभाष्य के अनुसार जीव

जीव का स्वरूप :

'जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता'[१] अर्थात् शंकर ने जीव को चेतन, शरीर का अध्यक्ष (स्वामी) एवं प्राणों का धारणकर्त्ता कहा है। चेतनत्व के समान होने से जीव और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न ही हैं और एक ही आत्मा सर्वभूतों में निगूढ़ है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) यह श्रुति परमात्मा का ही जीवात्म रूप से अवस्थान दर्शाती है। इसी प्रकार 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) यह श्रुति भी सर्व प्रपंच में परमात्मा का ही निवास बताती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अधिकारी परब्रह्म ही जीव का पारमार्थिक स्वरूप है और वह 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुति वाक्यों द्वारा ज्ञात होता है, इससे भिन्न जीव का कोई स्वरूप नहीं।[२]

श्री पंचानन जी भी जीव और ब्रह्म को अभिन्न ही मानते हैं परन्तु वे जीव को ब्रह्म के समान ही 'चिदचिदुभयात्मक' मानते हैं, शंकर के समान केवल चेतन रूप नहीं मानते। क्योंकि उनके मतानुसार केवल चिदंश से अथवा केवल अचिदंश से 'नामरूप' का प्रकटीकरण नहीं हो सकता। 'अनेन जीवेन' इस श्रुति में 'अनेन' पद व्यर्थ नहीं है, प्रत्युत इससे पूर्व श्रुति में 'ईक्षण' शब्द के द्वारा जिस चिदचिदात्मक ब्रह्म का बोध कराया गया है, 'वही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ है, अन्य रूप से नहीं'—यही उक्त पद का तात्पर्य है। अतः चिदचिदात्मक ब्रह्म ही जीव रूप से कहा गया है।[३]

अब प्रश्न यह है कि जब जीव, ब्रह्म स्वरूप ही है तो फिर वह सुख-दुःखादि सांसारिक क्षुद्र धर्मों से संस्पृष्ट हुआ-सा क्यों प्रतीत होता है। शंकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'चित्त रूपी उपाधि विशेष के भेद

---

१ — द्रष्टव्य—शांकरभाष्य, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद, सूत्र ६।

२ — ,, — वही वही वही , सूत्र २२।

३ — ,, —शक्तिभाष्य, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद, सूत्र ६।

से उत्तरोत्तर प्रकट हुए कूटस्थ नित्य एकरूप आत्मा का ऐश्वर्यशक्ति विशेष से भेद भी सुना जाता है।' 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' तथा 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' आदि श्रुतियों में ब्रह्म का 'व्यापकत्व' प्रतिपादन किया गया है, जब कि जीव तो शरीर में ही रहता है। कारण, भोग का स्थान (भोगायतन) शरीर ही तो है, उससे भिन्न जीव की स्थिति कहीं भी नहीं सुनी गई। शरीर से ही जीव कर्त्ता, भोक्ता, धर्म और अधर्म का साधन एवं सुख-दुखादि को मानने वाला होता है। इसके विपरीत ब्रह्म पाप-पुण्यादि गुणों से रहित है, निर्विशेष निर्विकार है। परन्तु इस भेद का कारण, शंकर, 'मिथ्याज्ञान' बताते हैं। उनके मत में देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्ध्यादि उपाधियों से परिच्छिन्न किये हुए परमात्मा को ही अज्ञानी जन गौण रूप से शारीरक (जीव) कहते हैं। जैसे घट, कमण्डलु आदि उपाधि वश अपरिच्छिन्न आकाश भी परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अविवेकियों को अपरिच्छिन्न परमात्मा उपाधिभेद से परिच्छिन्न जीव प्रतीत होता है।[1]

वस्तुतः मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान में भेद होता है, जीव का 'भोक्तृत्व' मिथ्याज्ञान से ही कल्पित है, एवं ब्रह्म से उसका 'एकत्व', सम्यग्ज्ञान से परिलक्षित होता है। अतः सम्यग्ज्ञान होने से पूर्व तक, जीव का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, व्यवहारविरुद्ध नहीं कहा जा सकता।[2] क्योंकि बुद्ध्यादि उपाधियों के अभिमानी जीव को ब्रह्म के समान 'आकाश' की उपमा नहीं दी जा सकती और न ही उसमें पापराहित्यादि ब्रह्म के विशेषण सम्भव हो सकते हैं। जब तक 'स्थाणु में पुरुष बुद्धि' के समान 'द्वैतलक्षणा-अविद्या' की निवृत्ति नहीं होती और कूटस्थ नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा का 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) ऐसा ज्ञान नहीं होता, तभी तक जीव का 'जीवत्व' रहता है। परन्तु जब देह, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि के संघात से अश्लिष्ट होकर श्रुति द्वारा 'तू देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि समूह नहीं है, तू संसारी नहीं है, किन्तु नित्य चैतन्य मात्र स्वरूप आत्मा है। ऐसा ज्ञान हो जाता है तब यह जीव शरीरादि के अभिमान से रहित होकर नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) श्रुति भी यही कहती है। अतः शरीर से पृथक् होकर जीव जिस स्व-स्वरूप को प्राप्त करता है वही उसका पारमार्थिक स्वरूप है।[2]

१—द्रष्टव्य—शांकरभाष्य, अ० १, पा० २, प्रथम अधिकरण (सम्पूर्ण)।

२ — ,, —शांकरभाष्य, अध्याय १, पाद ३, अधिकरण ५, सूत्र १७-१९।

शंकर के उक्त जीव विषयक परिच्छिन्नत्व का श्री पंचानन जी भी समर्थन करते हैं। उनके मत में जीव अपने को परिच्छिन्न मानकर ही 'गौरोऽहम्', 'अहं सुखी' इत्यादि व्यवहार करता है। यह उसका भ्रम ही है। जैसे कोई प्रदेशाधिपति भूमण्डल पर अधिकार प्राप्त होने पर भी प्रदेशमात्र में ही ममत्व बुद्धि रखे तो यह उसका भ्रम ही कहा जाएगा, वैसे ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म का परिच्छिन्न शरीर मात्र में 'अहंता' बुद्धि रखना भी भ्रम ही है। 'तत्वमसि' इस वाक्य द्वारा जीव का 'तत्स्वरूपत्व' ही कहा गया है। अर्थात् 'हे श्वेतकेतो! तू वही है—चिदचिदात्मक ब्रह्म ही है।' जीव का जो 'चिदचिदुभयात्मकत्व' है उसमें चिद् का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब', जो बिम्ब (ब्रह्म) से भिन्न है; अचित् का अर्थ है 'महत्तत्वादिस्वरूप त्रिगुणात्मक कार्य' जो कारण प्रकृति से भिन्न है। शंकर के 'चिन्मात्र' जीव का खण्डन करते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं कि 'यदि जीव का 'चिन्मात्रत्व' कथन उपयुक्त होता तो 'युष्मद् अस्मद्' प्रत्यय का, 'किंगोत्रो नु सोम्यासीति' 'किंगोत्रोहमस्मीति' (छा॰ ४।४।४) इन यज्ञादि श्रुतियों का, जो कि जीव के विषय में ही प्रसिद्ध हैं, क्या प्रयोजन था? क्योंकि जीव के चिन्मात्र रूप में इनकी सार्थकता नहीं होगी। इस प्रकार चिन्मात्र का, 'आत्मत्व' उपदेश नहीं है। प्रत्युत निराकार ब्रह्म की उपासना करने वाले 'अधिकारी विशेष' के लिये ही 'चिन्मात्र' ब्रह्म में समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति का उपदेश है। उस समाधि से जो ब्रह्म साक्षात्कार होता है वही 'स्व से अभिन्न' जीव का 'अपरिच्छिन्नत्व विषयक' देखना है। यही जीव के मतानुसार, मोह का नाश करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वस्तुतः 'अपरिच्छिन्न' जीव का 'परिच्छिन्नत्व' मात्र का बोध ही, श्री पंचानन जी के मतानुसार, मोह कहा गया है। परन्तु उक्त 'चिन्मात्र ब्रह्म' के साक्षात्कार करने पर भी 'प्रकृति' के साक्षात्कार के बिना जीव के 'परिच्छिन्नत्व' भ्रम की पूर्णतया निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे 'प्रतिबिम्बित सूर्य की उपाधि' 'दर्पण' के स्वरूप को न जानते हुए केवल बिम्ब सूर्य के साक्षात्कार से प्रतिबिम्ब और बिम्ब का अभेद ग्रहण नहीं हो सकता वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। अतः चिदचिदुभयात्मक ब्रह्म के साक्षात्कार से जीव में रहने वाला व्यक्ति जो महत्तत्त्वादि है, उसकी चिदचिद् के अभेद के साक्षात्कार द्वारा निवृत्ति हो जाती है। 'परिच्छिन्नत्व बुद्धि अपरिच्छिन्नत्व' रूप की व्यावृत्ति करती है, इसीसे उसे मोह कहा गया है और वह वृत्ति तमोवृत्ति है। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म्मसमाधिना' गीता का यह वचन, हवि अग्नि

आदि में ब्रह्म भावनामात्र ही प्रदर्शित नहीं करता, प्रत्युत भक्त पुष्पादि को ब्रह्म ही समझकर ब्रह्मरूप से ही देवता को समर्पण करे—इस अभेद में ही इसका तात्पर्य एवं पर्यवसान समझना चाहिए। इस प्रकार जीव का 'कार्यानुगमे' परिच्छिन्नत्व है और 'कारणानुगमे' अपरिच्छिन्नत्व है और ये दोनों श्रुति सम्मत हैं। शांकरभाष्य सम्मत केवल 'परिच्छिन्नत्वमात्र' श्रुति सम्मत नहीं है, ऐसा श्री पंचानन जी का मत है।[1]

इसके अतिरिक्त शंकर ने जीव को शरीर और इन्द्रिय रूपी पंजर का अध्यक्ष एवं कर्मफल का सम्बन्धी कहा है। अर्थात् प्राणवान् जीव के साथ इन्द्रियों का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है। अतः इन्द्रियों से होने वाले भोग का भागी भी जीव ही है। 'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) अर्थात् 'मैं यह देखता हूँ अथवा मैं यह सूँघता हूँ' ऐसा जो जानता है वह 'जीवात्मा' ही है। रूप और गन्धादि की उपलब्धि के लिये चक्षु और नासिका आदि उसके कारण हैं। इस प्रकार वह जीव इस शरीर में भोक्ता रूप से विराजमान है, क्योंकि उसमें पुण्य पाप का लेप और सुख दुःखादि का भोग उसकी इसी शारीरावस्था (जीवावस्था) में ही संभव है।[2] श्रुति भी उसे 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञाना मा पुरुषः' आदि उसकी इस जीवावस्था के कारण ही कहती है। 'स ईयतेऽमृतो यत्रकामम' (बृ० ४।३।१२) अर्थात् वह अमृतस्वरूप इच्छानुसार गमन करता है तथा 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २१।१।१७) अर्थात् इन प्राणों की ज्ञानशक्ति के द्वारा ग्रहण करके, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।' (तै० २।५।१) विज्ञान अर्थात् जीवात्मा यज्ञ करता है और कर्म करता है। इत्यादि श्रुतियाँ जीव के कर्तृत्व का समर्थन करती हैं।[3]

परन्तु यह कर्तृत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, प्रत्युत अविद्या कल्पित है। क्योंकि यदि आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक होता तो वह अग्नि से उष्णता के समान कभी अलग नहीं हो सकता, और कर्तृत्व से मुक्ति पाए बिना जीवात्मा कभी मुक्त ही नहीं होता। कर्तृत्व तो दुःखरूप है जैसे बढ़ई बसूलादि साधनों की अपेक्षा करके कर्त्ता होता हुआ दुःखी होता है और

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, अधि० ५, सू० ७, पृष्ठ ६२-६५।
२—द्रष्टव्य—शांकरभाष्य, अ० २, पा० ४, अधि० ७, सू० १५,१६।
३— " — वही , अ० २, पा० ३, अधि० १४, सू० ३३-३६।

उनको अपेक्षा न करके स्वरूपतः अकर्त्ता एवं सुखी होता है, वैसे ही आत्मा भी बुद्ध्यादि करणों की अपेक्षा से कर्त्ता एवं संसारी होता है और उनकी अपेक्षा न करके स्वभावतः अकर्त्ता परमानन्दघन ही है। श्रुति भी यही कहती है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० ३।४) और अविद्या के नाश होने पर कर्तृत्व–भोक्तृत्व का निवारण भी करती है–'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४)[१] यही जीव का वास्तविक स्वरूप है, यही उसकी परम गति है, यही उसकी परम संपदा है, यही उसका परम लोक है और यही उसका परम आनन्द है—'एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इसी से जीव का लौकिक जन्म-मरण का श्रवण गौण है; क्योंकि जन्म-मरण का मुख्य आश्रय शरीर ही है। शरीर के आविर्भाव और तिरोभाव होने पर ही जन्म और मरण शब्द सुने जाते हैं। शरीर सम्बन्ध के विना अन्यत्र 'जीव उत्पन्न हुआ अथवा मर गया' ऐसा कहीं नहीं सुना जाता। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४।३।८) अर्थात् शरीर के संयोग और वियोग में ही जन्म-मरण शब्द की प्रसिद्धि है अन्यथा 'न जीवो म्रियते' (छां० ६।११।३) जीव कभी मरता नहीं, वह तो 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' अजर अमर ब्रह्मरूप ही है।[२]

जीव की ज्ञान और ऐश्वर्य शक्ति का लोप, देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि विषय, वेदनादि के संयोग से ही होता है। जैसे अग्नि में दाह और प्रकाश रहने पर भी 'अरणिगत' अग्नि में दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं; अथवा जैसे भस्मावच्छन्न अग्नि की दहन और प्रकाशन शक्तियाँ तिरोहित रहती हैं, वैसे ही अविद्या से प्रत्युपस्थापित, नाम और रूप से सम्पादित, देह आदि उपाधियों के योग से एवं 'उनसे वह भिन्न नहीं है' ऐसे अविवेक मूलक भ्रम के कारण ही जीव की ज्ञान और ऐश्वर्य शक्तियाँ तिरोहित हुई रहती हैं। वस्तुतः उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का कोई पृथक् रूप नहीं है, मूलतः वह ब्रह्म रूप ही है।[३]

श्री पंचानन जी जीव को ब्रह्म के समान ही चिदचिदुभयात्मक मानते हैं, इसीसे शांकर मतके अनुसार देह उनके मत में सर्वथा अविद्या कल्पित

१—द्रष्टव्य—शांकरभाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १५, सू० ४०।
२— ,, — वही , अ० २, पा० ३, अधि १०-११, सू० १६,१७।
३— ,, —शांकर भाष्य, अ० ३, पा० २, अधि० १, सू० ६।

नहीं है; क्योंकि वह अचित् प्रकृति का परिणाम है और अचित् प्रकृति भी चित् के समान सत्-स्वरूप ही है। अतः देह अविद्या कल्पित कैसे हो सकती है? 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' इस मन्त्र में भी श्री पंचानन जी शंकर के समान जीव और परमात्मा का निर्देश न मानकर 'छायातप' शब्द से चिदचित् का ही ग्रहण करते हैं। उनके मत में अचित् का 'ऋतपान' भी उसी प्रकार संभव है जैसे देह का 'जलपान' अर्थात् चेतन के सामीप्य से (आत्मा के सहयोग से) अचेतन (देह) भी कार्य में प्रवृत्त होता है। क्योंकि चित् अचित् के संयोग के बिना 'पानादि' क्रिया संभव नहीं है अतः चित्-अचित् दोनों में ही ऋतपान' युक्तियुक्त है।[1]

ब्रह्म की भाँति ही श्री पंचानन जी जीव को भी साकार एवं निराकार द्विरूप मानते हैं। शरीर सहित जीव का 'साकारत्व' है और शरीर रहित उसका 'निराकारत्व' 'स्वर्ग कामो यजेत' 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' तथा 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्यादि विधिवाक्यों की सार्थकता जीव को 'साकार' मानने से ही सिद्ध होती है; क्योंकि देह-सहित जीव की उक्त शास्त्रज्ञाओं को पालने में समर्थ होता है, न कि देहरहित। इसी प्रकार 'त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्' (मनु० २।६०) 'विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत् ततोऽम्बिकाम् दूर्वासर्षपपुष्पाणां दत्वार्घ्यं पूर्णमंजलिम्' (याज्ञवल्क्य १।२६०) तथा 'नीरजस्तमसासत्वशुद्धिर्निस्पृहताशमः। एतैरुपायैः संशुद्धः सत्वयुक्तोऽमृती भवेत्' (याज्ञ० ३।१५६) इत्यादि स्मृतियाँ भी जीव को साकार मान कर ही विभिन्न कर्मों का उपदेश देती है। इससे सिद्ध होता है कि साकार (देह सहित) जीव ही कर्त्ता है। परन्तु कर्त्ता होने पर भी वह अन्य शक्ति द्वारा नियन्त्रित है, और वह शक्ति–ब्रह्म, जो स्वशक्तिसम्पन्न है। अतः शास्त्र के विधि-निषेधमय वाक्य जीव के लिये ही हैं, ब्रह्म के लिये नहीं और न ही वे जड़ देहमात्र के लिये हैं। क्योंकि कर्तृत्व शरीर का धर्म नहीं प्रत्युत जीव का धर्म है। 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' (श्वेताश्वतरीयोपनिषद् २।८) 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा च' (बृ० ४।३।१६) इत्यादि श्रुतियाँ जीव का ही कर्तृत्व सिद्ध करती हैं, स्थूल शरीर का नहीं। मात्र

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० २, अधि० ३, सू० ११, पृष्ठ १७६।

शरीर 'स्वप्ने मरणे च यथाकामं विचरणं' में सर्वथा असमर्थ होता है। अतः जीव कर्त्ता है, शरीर उसका सहयोगी है।

'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इस श्रुति में विज्ञानात्मा का अर्थ भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही है केवल बुद्धि मात्र नहीं। अर्थात् विज्ञान से यहाँ तात्पर्य कर्त्ता-जीव से ही है, बुद्धि से नहीं। क्योंकि बुद्धि केवल 'करण' है, और 'करण' एवं कर्तृत्व परस्पर विरोधी हैं। अर्थात् एक ही वस्तु नहीं है। जीव विशिष्ट बुद्धि का कर्तृत्व मानने से समाधि का अभाव हो जायगा। अतः सर्वथा जीव का कर्तृत्व मानना ही युक्ति संगत है। जैसे तक्षा अपने चिदंश से ज्ञानवान् होकर कुल्हाड़ी आदि अचिदंश से अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, वैसे ही जीव भी चिदंश से कर्तृत्व युक्त होकर अचिदंश (देह) से कृतिमान् होता है — कर्त्ता होता है। ज्ञान केवल चेतन (जीव) का है और कृति जड़ है। जीव का कर्तृत्व बुद्धि के अचित् कृतित्व को लेकर ही है। अतः जीव कृति का आश्रय भी है और ज्ञानवान् भी है। परन्तु इस कर्तृत्व का प्रेरक ब्रह्म ही है। क्योंकि श्रुति में भी कहा है। 'एष ह्येव साधु कर्म्म कारयति लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवा-साधु कर्म्म कारयति तंयमधो निनीषते' (कौषी० ३।८)। अतः प्रयोजककर्त्ता परमेश्वर है और जीव प्रयोज्यकर्त्ता है।[1]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री पंचानन जी के मत में जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी देहादि उपाधियों के कारण भिन्न भी है, और उनके सिद्धान्तानुसार यह 'भेद' शंकर के समान सर्वथा अविद्याकल्पित नहीं है प्रत्युत वास्तविक है; क्योंकि अचित् भी सत्-स्वरूप ही है। इस विषय का विस्तृत विवरण आगे 'ईश्वर और जीव के सम्बन्ध' संज्ञक अंश में दिया जाएगा।

जीव : बुद्धि में प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य

'अन्तःकरणप्रतिबिम्बितं हि चैतन्यं जीवः यस्य बुद्धिप्रतिबिम्बित-चैतन्यत्वेन वा लिंगशरीरप्रतिबिम्बितचैतन्यत्वेन वा व्यपदेशः पदार्थस्यैक-त्वात्।'[2] अर्थात् अन्तःकरण—बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है जिसे 'लिंग शरीर प्रतिबिम्बित चैतन्य' भी कहा जाता है। प्रतिबिम्ब बिम्ब के अधीन होने से जीव ब्रह्म रूप ही है। बुद्ध्यादि अथवा लिंग शरीर से

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० २, पा० ३, सू० ६२-३१।
२— ,, — वही , अ० २, पा० ३, अधि० १३, सू० ३३।

उपहित ब्रह्म का यह प्रतिबिम्ब (जीव) ज्ञत्व धर्म रूप है। केवल चिदंश जो ज्ञान मात्र है, प्रकाश स्वरूप है, उसमें ज्ञत्व धर्म नहीं रहता, ज्ञत्व, सत्त्व वृत्ति रूप है। इसी प्रकार केवल अचिदंश जड़ है और वह असत्त्ववृत्ति रूप है।[1] अतः चिदचिदुभयात्मक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है। चिदंश से वह प्रतिबिम्ब भूत है और अचिदंश से बुद्ध्यादि से उपहित है। बिम्ब भूत ब्रह्म एक है और प्रतिबिम्ब भूत जीव अनेक है। श्रुति में भी कहा है 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्ये तु संयन्ति यथा कर्म्म यथाश्रुतम्' तथा 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा।' इस प्रकार परमात्मा के एक होने पर भी जीव के भेद हैं। परन्तु 'अंशाभिप्रायेण' ही जीव का नानात्व है, 'अंशीरूप' से वह एक ही है और अंश एवं अंशी में कोई भेद नहीं, यह गौण प्रयोग है। उपाधि भेद से ही बिम्ब के एक होने पर भी प्रतिबिम्ब अनेक रूप भासता है, और यह उपाधि जड़ है। देवी सूक्त के इस मन्त्र में 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणाविभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा' भी एक ही देवी भिन्नभिन्न रूप धारण करती है, ऐसा वर्णित है। जैसे भगवान् लीलारूप से नाना शरीर धारण करते हैं वैसे ही जीव का नानात्व भी समझना चाहिये। स्मृति में भी कहा है 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' अर्थात् एक ब्रह्म ही सम्पूर्ण जीवलोक में नाना जीव रूप में विराजमान है। इस प्रकार ब्रह्म ही जीव है यह सिद्ध हुआ, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही उसकी जीवसंज्ञा है, अन्य कोई भेद नहीं।[2]

ब्रह्म का प्रतिबिम्बित होने पर भी गौण अर्थ में जीव और देह का ऐक्य है, इसी से जीव सुख-दुःख का भागी होता है। परन्तु यह सुख-दुःख बिम्ब भूत ब्रह्म को नहीं व्यापता। जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्यचन्द्रादि का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ने पर दर्पणगत मलिनतादि दोष प्रतिबिम्ब में ही भासित होते हैं, न कि बिम्ब भूत सूर्यचन्द्रादि में, वैसे ही प्रतिबिम्बित जीव को ही स्वर्ग-नरकादि की प्राप्ति होती है, न कि ब्रह्म को। स्मृति में भी कहा है तत्र यः परमात्मास्ति स नित्यो निगुर्णः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा' इसी प्रकार श्रुति में भी कहा है 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न

१—द्रष्टव्य— वही , अ० २, पा० ३, अधि० ११, सू० १८।

२— ,, — शक्तिभाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १६, सू० ४३-४५।

लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः'।[1] अतः ब्रह्म और जीव में इस दृष्टि से भेद है। परन्तु आपाततः प्रतीत होने वाले इस भेद और अभेद में जो विरोध है, स्वरूपाद्वैतवाद में ब्रह्म को 'चिदचिद्विशिष्ट' सत्ता मानने से वह स्वतः ही समन्वित हो जाता है। उसमें शंकर के समान भेद को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

शंकर भी बुद्धि-अवच्छिन्न चेतन को ही जीव मानते हैं, इसी से उसे 'विज्ञानमय' कहते हैं। क्योंकि वह सदैव विज्ञानादि से आच्छादित प्रतीत होता है। जैसे किसी कामी पुरुष को 'वह स्त्रीमय है' ऐसा कहा जाता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, वस्तुतः अन्तःकरण की उपाधि ही ब्रह्म में जीव भाव उत्पन्न करती है। उपाधि को छोड़ कर जीव ब्रह्मस्वरूप होने से सर्वव्यापक है। जैसे आकाश का विभाग घटादि के सम्बन्ध से भासता है, वैसे ही बुद्ध्यादि उपाधि के सम्बन्ध से यह जीव प्रविभक्त-सा भासता है। 'स वा अयमात्मा ब्रह्म,विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ० ४।४।५) यह श्रुति 'अविकृत' 'एक' होने पर भी 'ब्रह्म ही बुद्ध्यादि मय है' ऐसा दिखलाती है। 'यो यं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इस प्रकार बुद्ध्यादि 'करणों' के संचरण, ध्यानादि क्रिया करने पर ही वह आत्मा चलता अथवा ध्यान करता हुआ-सा प्रतीत होता है। स्वतः वह सर्वक्रिया-रहित शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप ही है।[2]

जीवात्मा का उपाधिभूत यह अन्तःकरण श्रुति में भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। कहीं पर उसकी वृत्ति के विभाग करके संशय आदि वृत्ति वाले इन्द्रिय को मन कहा गया है और निश्चयात्मक वृत्तियुक्त करण को बुद्धि कहा गया है। इस प्रकार का अन्तःकरण अवश्य स्वीकरणीय है, क्योंकि न मानने से ज्ञान की या तो नित्य प्राप्ति होगी या कभी होगी ही नहीं। 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' 'मनसाह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इत्यादि श्रुतियाँ 'मन के अवधान होने से ही ज्ञान होता है न होने से नहीं होता' ऐसा दर्शाती हैं। अतः बुद्धि के धर्मों की प्रधानता से ही आत्मा का निर्देश है।[3]

१—द्रष्टव्य— वही , अ० २, पा० ३, सू० ४६-४६।
२— ,, —शांकर भाष्य, अ० २, पा० ३, सू० १७ तथा ३०।
३— ,, —शांकर भाष्य, अ० २, पा० ३, सू० ३२।

उपाधि के कारण ही आत्मा को जल में पड़े सूर्य-प्रतिबिम्ब की उपमा दी जाती है। 'यथाह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।'[१] अर्थात् जैसे यह ज्योति स्वरूप सूर्य स्वतः एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न जलाशयों में भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब होने से अनेक रूप हो जाता है वैसे ही यह जन्मरहित स्वप्रकाशात्मा उपाधि से विभिन्न क्षेत्रों में अनुवृत्त होने से अनेक रूप भासता है। 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्', इस श्रुति का तात्पर्य भी यही है। जैसे जल में स्थित सूर्य-प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के क्षीण होने पर क्षीण होता है और जल के कम्पन करने पर कम्पन करता है—इस प्रकार जल के ही धर्मों का अनुसरण करता है। वस्तुतः स्व-स्परूप से सूर्य में कुछ भी अन्तर नहीं आता, वैसे ही वास्तव में अविकृत, एक रूप, सत् स्वरूप ब्रह्म, देहादि में प्रतिबिम्बित होने से वृद्धि, क्षय (आयु आदि की) आदि को प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है। श्रुति भी परब्रह्म का देहादि उपाधियों के भीतर प्रवेश होने का समर्थन करती है। यथा 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुषः अविशत्' (बृ० २।५।१८) अर्थात् परमेश्वर ने दो पैरों से युक्त पुर (मनुष्य एवं पशु शरीर) बनाए चार पैरों से युक्त पुर (पशु शरीर) बनाए और वह पुरुष-पक्षी-लिंग शरीर वाला होकर शरीर में प्रविष्ट हुआ है।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शांकर मत 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' एवं 'अवच्छेदवाद' दोनों को स्वीकार करता है तथा जीव का एकत्व एवं अनेकत्व भी मानता है। यह विवेचन शांकर भाष्य के आधार पर ही किया गया है। इसीलिए शंकर के सिद्धांतों के अवान्तर भेदों का विस्तृत विवरण यहाँ अप्रासंगिक समझ कर नहीं दिया गया है।

जीव का परिमाण

अणु-परिमाण :

बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही जीव को अणु कहा जाता है। वस्तुतः अभेद दृष्टि से वह विभु ही है। ब्रह्म से भेद दृष्टि से ही जीव का 'अणुत्व' है। 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० ३, पा० २, सू० १८।
२— „ — वही , अ० ३, पा० २, सू० २०,२१।

विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० ५।६) इस श्रुति में भी प्रथम जीव को अणु बताकर पीछे उसकी अनन्तता का ही प्रतिपादन किया गया है। इसमें 'अणुत्व' गौण है और 'आनन्त्य' मुख्य है क्योंकि दोनों मुख्य नहीं हो सकते, तथा 'आनन्त्य' को गौण एवं 'अणुत्व' को मुख्य मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि सभी उपनिषदों में जीवात्मा परब्रह्म स्वरूप ही प्रतिपादित किया गया है। उसका अणुत्व केवल बुद्धि के गुणों के कारण ही है यथा 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वेत० ५।८) इस प्रकार बुद्धि गुण के सम्बन्ध से ही जीव को 'आराग्र परिमाण' कहा गया है स्व-स्वरूप से नहीं।[1]

जीव विभु ही है :

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।६) इस श्रुति का तात्पर्य भी जीव के अणुत्व में नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से अगृहीत, विशुद्ध ज्ञान से ज्ञातव्य ब्रह्म ही यहाँ मुख्यतः अभिप्रेत है। 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इस प्रकार की भेदात्मक श्रुति से भी 'उपाधि रूप बुद्धि से शरीर पर (जीव) आरोहण करता है' ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।[2] उपाधि के गुणों के कारण ही प्रतिबिम्ब (जीव) में बिम्ब (ब्रह्म) से कुछ अधिक गुणों की प्रतीति होती है। जैसे दर्पण की मलिनता, सूर्य की अपेक्षा गुणाधिक्य प्रदर्शित करती है वैसे ही जीव के विषय में 'गति' 'आगति' एवं 'उत्क्रान्ति' की श्रुतियाँ विश्रुत हैं। 'गति' श्रुति यथा 'ये केचिदस्मात् लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १।२) 'आगति' श्रुति यथा 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्म्मणे' (बृ० ४।४।६) उसी प्रकार 'उत्क्रान्ति' श्रुति भी 'स यदाऽस्मात् शरीरादुत्क्रामति सहैऽवैऽतैः सर्वैरुत्क्रामन्ति' (कौषी० ३।३)।[3] परन्तु ये सब श्रुतियाँ बुद्धि के गुणों की प्रधानता के कारण ही जीव में घटती हैं। अर्थात् इनमें बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि से ही जीव की उत्क्रांति आदि का व्यपदेश होता है। वस्तुतः उत्क्रमणादि जीव के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। वह तो 'अकर्ता', अभोक्ता, असंसारी, नित्यमुक्त, सत्स्वरूप आत्मा' ही है, और आत्मा की उत्पत्ति आदि

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १३, सू० २६।
२—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १३, सू० २९।
३— ,, —शक्ति भाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १२, सू० १९,२०।

की श्रुतियाँ कहीं सुनी नहीं गईं। परब्रह्म का 'अनुप्रवेश' तो प्रसिद्ध ही है। अतः जीव परब्रह्म स्वरूप विभु ही है।[1]

श्रुति में जो 'अंगुष्ठमात्र परिमाण' वाला जीवात्मा कहा है वह भी बुद्धि की उपाधि के कारण ही कहा है। जैसे बाँस के पर्व में रहने के कारण आकाश अरत्नि-परिमाण कहलाता है, वैसे ही हृदय में रहने के कारण (बुद्धयादि उपाधि से) सर्वव्यापक परमेश्वर अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला कहा जाता है। वह इसलिए कि परिमाणातीत परमेश्वर वस्तुतः अंगुष्ठ परिमाण वाला नहीं हो सकता। हृदय मात्र में ही जीव की स्थिति मानने से उसकी चेतना का सम्पूर्ण शरीर में अनुभव नहीं हो सकता, त्वचा के सम्बन्ध से भी नहीं क्योंकि शरीर के एक भाग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा का अनुभव नहीं होता। अणु पदार्थ का गुण सब शरीर को व्याप्त करके नहीं रह सकता क्योंकि गुण गुणी के साथ ही रहता है; फूल की सुगन्ध फूल के साथ ही रहती है। अतः जीव का चैतन्य गुण यदि सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके रहेगा तो जीव अणु नहीं रहेगा, अपितु 'विभु' ही होगा। जैसे उष्णता और प्रकाश अग्नि का स्वरूप है वैसे ही चैतन्य जीव का स्वरूप है। चैतन्य गुण हो और आत्मा गुणी हो इस प्रकार का भेद यहाँ संभव नहीं है। जैसे सगुण उपासना में उपाधि के जो गुण होते हैं, वे ही 'प्राज्ञ' में भी कल्पित कर लिये जाते हैं उसी प्रकार जीव के विषय में भी समझना चाहिए, **'अणी-यान्व्रीहेर्वायवाद्वा'** तथा 'मनोमयः' प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४,२) इत्यादि श्रुतियों का भी यही तात्पर्य है।[2] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीव के 'अणुत्व' के निषेध एवं उसके 'विभुत्व' के प्रतिपादन में दोनों आचार्यों का मतैक्य है।

जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध

अंशांशिभाव :

जीव और ब्रह्म में यद्यपि 'गौ' और 'महिष' के समान अत्यन्त भेद नहीं है तो भी व्यवहार दशा में उपाधि से कल्पित भेद को लेकर जीव को ईश्वर का अंश कहा जा सकता है। यह 'अंशत्व' ऐसा ही है जैसे अग्नि का

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० ३, अधि० १३, सू० २६।

२— ,, —शांकर भाष्य, अ० १, पा० २, सू० २५, २६ तथा
वही , अ० २, पा० ३, सू० २६ एवं
शक्ति भाष्य, अ० २, पा० ३, सू० २४-२६।

विस्फुलिंग अंश होता है। उष्णता गुण जैसे अग्नि और विस्फुलिंग में समान है वैसे ही जीव और ब्रह्म में चैतन्य गुण समान है। अर्थात् इस प्रकार ब्रह्म और जीव में 'अंश-अंशित्व' एवं 'ईशितृ ईषितव्य' (नियम्य-नियामक) ऐसे दोनों भावों का समन्वय ही है।[1]

भेदाभेद :

अत्यन्त उत्कृष्ट उपाधि से युक्त ईश्वर अत्यन्त निकृष्ट उपाधि से युक्त जीव का 'नियमन' करता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का भेद तो स्वतः सिद्ध है और श्रुति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से अभेद का प्रतिपादन करती है। 'महाकाश' और 'घटाकाश' के न्याय से भेद और अभेद तत्तत्स्थलों पर संभव ही है, सर्वथा असंभव नहीं। जैसे एक ही पृथ्वी में बोए गए बीजों के पत्ते, फूल, फल, गन्ध, रस आदि में अनेक प्रकार का वैचित्र्य, चन्दन ताड़ादि के वृत्तों में दृष्टिगोचर होता है, तथा जैसे एक ही अन्नरस के रुधिर, केश, लोमादि विचित्र कार्य होते हैं उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का भी 'जीव' और 'प्राज्ञ' रूप से 'पृथक्त्व' और 'कार्य वैचित्र्य' उपपन्न होता है। ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं आता। जैसे उदकस्वरूप समुद्र से झाग, बड़ी तरंग, लहर, बुलबुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और अभेद आदि व्यवहार उपलब्ध होता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।[2]

उपास्य उपासक भाव :

श्री पंचानन जी भी ब्रह्म और जीव में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं परन्तु शंकर जहाँ अभेद को ही सत्य मानते हैं भेद को अविद्या कल्पित मानते हैं वहाँ श्री पञ्चानन जी भेद और अभेद दोनों को वास्तविक मानते हैं। उनके मत में 'चिदचिद्विशिष्ट' ब्रह्म और जीव में यद्यपि पूर्ण अभेद है तथापि उपास्य-उपासक भाव से दोनों में भेद भी विद्यमान है। ब्रह्म उपास्य है, जीव उपासक है। प्रथम 'दृश्य' है तो द्वितीय उसका 'द्रष्टा' है। इसीलिये ब्रह्म का विशेषण जहाँ 'महतो महीयान्' है वहाँ जीव का 'अणोरणीयान्'। अर्थात् जीव की संज्ञा 'अणु' है, वह 'सर्वान्तर्यामी' ब्रह्म के अधीन है। परन्तु 'सर्वान्तर्य्यामी' ब्रह्म जीव के अधीन नहीं सुना गया। दूध और आमिक्षा के समान ब्रह्म और जीव का भेद लोक प्रसिद्ध है। जैसे दूध ही घनीभूत

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, सू० क्रमशः २२,२३ तथा १३।
२— ,, — वही वही वही वही वही ।

होने पर आमिक्षा कहलाती है और आमिक्षा के स्वरूप को समझने के लिये दूध के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही जीव के स्वरूप ज्ञान के लिये ब्रह्म-स्वरूप-ज्ञान अनिवार्य है। इसी प्रकार जैसे आमिक्षा दूध का स्वरूप होने पर भी पय के अधीन है न कि पय अमिक्षा के अधीन तथा जैसे प्रतिबिम्ब, बिम्ब का स्वरूप होने पर भी बिम्ब के अधीन होता है न कि बिम्ब, प्रतिबिम्ब के अधीन, वैसे ही जीव ब्रह्म का स्वरूप होने पर भी ब्रह्म के अधीन है न कि ब्रह्म जीव के अधीन। गीता-स्मृति में भी कहा है 'अहमात्मा गुडाकेश' इससे ब्रह्म और जीव का यद्यपि 'एकत्व' ही लक्षित होता है तथापि इसी श्लोक में जो आगे 'सर्वभूताशयस्थितः' कहा है वह जीव का धर्म नहीं है, प्रत्युत ब्रह्म का ही धर्म है। 'भ्रामयन् 'सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि माययेति' ऐसा जो परार्द्ध में कहा है, इसमें ईश्वर घुमाने की क्रिया का कर्त्ता है और वह जीव को घुमाता है। अतः यहाँ भेद का ही प्रतिपादन किया गया है। याजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा वाले तथा आथर्वणशाखा वाले भी 'एनं शरीरं भेदेन' ऐसा भेद मानकर ही उपासना करते हैं। 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' ऐसा कृष्ण यजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद् में 'प्राणमयआत्मा' कहने के पश्चात् 'आनन्दमय आत्मा' ऐसा प्रकरण के अन्त में पढ़ा गया है। यह शारीर (जीव) 'प्राणमयआत्मा' से भिन्न है ऐसा षष्ठी से निर्दिष्ट है।[1] अतः ब्रह्म और जीव का उपास्य उपासक भाव युक्ति युक्त ही है।

शंकर ने भी यद्यपि उपास्य उपासक भेद स्वीकार किया है, यथा 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रोऽपि तरंगः कचन समुद्रो न तारंगः।' अर्थात् भेद न होने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं जैसे तरंग समुद्र का होता है, किन्तु समुद्र तरंग रूप नहीं होता—तथापि शंकर का यह भेद-कथन व्यवहार के लिये ही है क्योंकि उपासना को वे मानसिक क्रिया मात्र मानते हैं। ब्रह्म और जीव उनके मत में वस्तुतः अभिन्न ही हैं; भेद केवल औपाधिक है। इसके विपरीत श्री पंचानन जी भेद और अभेद दोनों को वास्तविक मानते हैं क्योंकि 'उपासना' को वे 'प्रमुखता' देते हैं। भेद और अभेद प्रतिपादक श्रुतियों का उद्देश्य भी उनके मत में 'ब्रह्मोपासना' के स्वरूप का ज्ञान कराना ही है, वे किसी एक मत की पक्षपातिनी नहीं हैं।

श्रुति में कहीं भेद और कहीं अभेद का वर्णन करके अन्त में जो अभेद का ही ग्रहण किया गया है वह ऐसा ही है जैसे सर्प कभी कुण्डली मार लेता

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० २, अधि० ४, सू० १८-२०।

है, तो कभी खोल लेता है। ब्रह्म भी वैसे ही कभी कारण रूप में रहता है तो कभी कार्य-द्रष्टा और दृश्य रूप में। परन्तु जैसे सूर्य और उसका प्रकाश भिन्न से प्रतीत होते हुए भी तेज की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं वैसे ही ब्रह्म और जीव भी आश्रय-आश्रयी भाव से भिन्न होते हुए अभिन्न हैं। अंशांशिभाव गौण है, इसमें दोनों आचार्यों का मतैक्य है।[1]

१—द्रष्टव्य—शांकर एवं शक्तिभाष्य, अ० ३, पा० २, अधि० ६, सू० २७।

चतुर्थ अध्याय

शक्ति भाष्य और शांकर भाष्य के अनुसार जगत्

सृष्टि का स्वरूप :

'शक्तिभाष्यकार' पण्डित प्रवर श्री पंचानन जी ने जगत् को सत् माना है। 'नित्यसम्बद्धचिदचिदुभयात्मक' सत्ता ही सृष्टि का आदि कारण है। 'चिदंशेन' सत्ता अपरिणामी है और 'अचिदंशेन' परिणामी है। परन्तु हैं दोनों (चिदचित्) सत् स्वरूप। अतः सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? प्रत्युत सत् से सत् की ही उत्पत्ति होगी। एवं जगत् सत् स्वरूप ही है। इसके विपरीत जगद्गुरु शंकराचार्य सृष्टि को मिथ्या मानते हैं। उनके मत में सत् वही है, जो तीनों कालों में सत् हो, देशकाल और वस्तु से अपरिच्छिन्न हो तथा अपरिणामी हो। जगत् तो नित्य परिवर्त्तन-शील है, जो भूत में था वह आज नहीं है, जो आज है वह कल नहीं रहेगा, अतः जगत् सत् कैसे हो सकता है ? परन्तु यह जगत् शशश्रृंग के समान सर्वथा तुच्छ रूप भी नहीं है; क्योंकि इसका प्रत्यक्षीकरण होता है। यह 'प्रत्यक्षीकरण' कैसा है ? शंकर कहते हैं—जैसे सोता हुआ प्राणी स्वप्न में भिन्न भिन्न पदार्थों को देखता है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञान को, जागने से पूर्व तक सत् या निश्चित ही समझता है; माया मात्र या आभास मात्र नहीं मानता, उसी प्रकार सम्यग् ज्ञान से पूर्व मनुष्य संसार को सत्य ही मानता है, और अविद्या के नष्ट होने पर संसार स्वतः ही उसे मिथ्या प्रतीत होने लगता है। व्यावहारिक सत्तावाला जगत् तब परमार्थ सत्ता के साक्षात्कार से बाधित हो जाता है।[1]

मूल कारण :

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे विलक्षण जगत् का रचतिता कौन है ? 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।' (तै० ३।१) यह श्रुति ब्रह्म को

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ६, सू० १४।

ही जगत् के 'जन्मस्थिति एवं भंग' का कारण बताती है।[१] वह ब्रह्म, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (ईश० ८) अर्थात् सर्वव्यापी, दीप्तिमान, जिसके देह में व्रण तथा शिराएँ आदि नहीं हैं, ऐसा शुद्ध और पाप-रहित है। सृष्टि से पूर्व एकमात्र अद्वितीय 'सत्' ही था 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छा० ६।२।१) उसी ने बहुत होने की इच्छा प्रकट की 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्' (छा० ६।२।३) और सर्व-प्रथम 'तेज' को उत्पन्न किया। 'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यः देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौशी० ३।३) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तैत्ति० २।१) 'आत्मत एवेदं सर्वम्' (छा० ७।२६।१) 'आत्मन एष प्राणो जायते।' (प्रश्न० ३।३) 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य-कश्चित् जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।६) इत्यादि श्रुतियाँ चेतन ब्रह्म को ही जगत् का आदि कारण बताती हैं।[२]

असत् कारणवाद, निरास :

परन्तु कहीं कहीं जो श्रुति में असत् कारणवाद का प्रतिपादन किया गया है, यथा 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्त-त्समभवत्' (छा० ३।१९।१) अथवा 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत (तैत्ति० २।७) इत्यादि श्रुति वचन केवल असत् का विरोध कर सत् ब्रह्म को ही कारण 'मानो' 'ऐसा दृढ़ीकरण करने के लिये हैं; क्योंकि श्रुति आगे स्वयं कहती है 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१,२) अर्थात् असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, अतः वह सत् स्वरूप ही था। इसी को और पुष्ट करने के लिये श्रुति कहती है—'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः'। इस प्रकार 'असत्' का निराकरण करके सत् को ही कारण मानना युक्तियुक्त है।[३]

श्रुति के समान स्मृति में भी कहा है 'अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्व-माद्या' तथा 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' अर्थात् अव्याकृत 'प्रकृति' ही आद्या शक्ति है जो चितिरूपेण संसार को धारण किये

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० १, पा० १, अधि० २, सू० २।
२— ,, — वही , अ० १, पा० १, 'ईक्षत्यधिकरणम्'।
३—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० १, पा० ४, 'कारणत्वाधिकरणम्'।

स्थित है। परन्तु यहाँ 'प्रकृति' से तात्तर्य सांख्य की अचेतन प्रकृति से नहीं है; प्रत्युत वह 'चेतन रूप' है और न ही 'अव्यक्त' पद अचेतन प्रकृति में रूढ़ है; क्योंकि अचेतन प्रकृति 'सर्वोत्तम' नहीं हो सकती। 'सर्वोत्तमत्व' तो 'पुरुष' में ही संभव हो सकता है और 'पुरुष' (ब्रह्म) 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' इस श्रुति से 'उभयलिंग रूप' है।[1] अतः वही सृष्टि कर्त्ता है। वही कहीं 'शक्तिप्रकृति' रूप से कहीं 'पुरुष-ब्रह्म' रूप से कहा गया है। एवं सत् पदार्थ ही जगत् का मूल कारण है इसमें दोनों आचार्य (शंकर एवं पंचानन) एकमत हैं। परन्तु वह सत् पदार्थ केवल चेतन अथवा अचेतन न होकर उभयात्मक है, 'चिदचिदात्मक' है, यह पंचानन जी की मान्यता है, जबकि शंकर उसे चित् स्वरूप ही मानते हैं।

निमित्त एवं उपादान कारण :

प्रश्न यह है कि ऐसा ब्रह्म, जगत् का निमित्त कारण है, अथवा उपादान कारण है, या दोनों ही है। शंकर ब्रह्म को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण मानते हैं। जैसे घट और माला आदि का मिट्टी और सुवर्ण उपादान कारण होता है तथा कुम्हार, सुनार आदि निमित्त कारण होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। 'स ईक्षांचक्रे' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।४) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के ईक्षण पूर्वक कर्तृत्व का समर्थन करती हैं और ऐसा कर्तृत्व चेतन कुम्हार आदि निमित्त कारणों में ही देखने में आता है। इसी प्रकार 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) अथवा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।५) इत्यादि श्रुतियों में एक ज्ञान से सर्व विज्ञान, उपादान कारण जानने से ही संभव होता है; क्योंकि कार्य उपादान कारण से तो अभिन्न होता है, परन्तु निमित्त कारण से भिन्न ही होता है जैसे मकान कारीगर से भिन्न ही होता है।[2]

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुति से भी यही लक्षित होता है कि संकल्प पूर्वक स्वतंत्र प्रवृत्ति रूप कारण से ब्रह्म निमित्त कारण है और 'बहुत होने' का संकल्प भी ब्रह्म ही करता है इससे वही उपादान कारण भी है। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं

१—द्रष्टव्य—शक्ति भाष्य, अ० १, पा० ४, अधि १,० सू० २।
२— ,, —शांकर भाष्य, अ० १, पा० ४, अधि० ७ सू० २३।

यान्ति ॥' (छा० १।६।१) अर्थात् सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। इस श्रुति में साक्षात् ब्रह्म को ही कारण मानकर सृष्टि और प्रलय कहे गये हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादान कारण ही होता है। जैसे व्रीहि, यवादि का उपादान कारण पृथ्वी ही होती है वैसे ही ब्रह्म को भी जगत् का उपादान कारण समझना चाहिए। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) इस श्रति में 'आत्मानं' इस कर्म रूप से और 'स्वयं अकुरुत' इस कर्त्ता रूप से ब्रह्म का ही कथन है, अतः ब्रह्म ही उपादान एवं निमित्त कारण है। 'सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तैत्ति० २।६) इस समानाधिकरण से ब्रह्म ही का जगत् रूप परिमाण है यह सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त 'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मुण्ड० ३।१।३) इस श्रुति से ब्रह्म को ही जगत् की योनि कहा है, अतः वही उपादान कारण है।[1] श्रुति के समान स्मृति में भी ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण कहा गया है यथा—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (भग० गी० ७।६) तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी कहा है—'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः (ध०सू० १।८।२३।२) पुराण में भी कहागया है 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥' इस प्रकार अनेक रीति से स्मृतियों में ईश्वर निमित्त एवं उपादान कारण रूप ही कहा गया है।[2]

शंकर के उक्त मत का श्री पंचानन जी विरोध करते हैं उनके मत में केवल 'चेतन ब्रह्म' जगत् का 'निमित्तोपादान' कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अपरिणामी है; और यह सृष्टि उस 'आद्या शक्ति' का परिणाम है। जैसे एक ही दूध के परस्पर विरुद्ध 'दही', 'छेना' आदि नाना रूप होते हैं तथा जैसे एक ही मिट्टी के घट-शरावादि विभिन्न रूप हैं उसी प्रकार जगत् के नाना जीव-जन्तु उसी आद्याशक्ति के नाना रूप भेद मात्र हैं। अतः 'चिदचिदुभयात्मक' ब्रह्म को ही जगत् का 'निमित्तोपादान' कारण मानना युक्तियुक्त है; क्योंकि 'चिदवच्छेदेन अपरिणामी' होने से वह निमित्त कारण होगा और 'अचिदवच्छेदेन परिणामी' होने से वह उपादान कारण होगा

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० १, पा० ४, अधि० ७, सू० २४-२७।

२— ,, — वही , अ० २, पा० १, अधि० १, सू० १।

और दोनों के सामानाधिकरण्य से ब्रह्म में 'परिणामित्व' 'कर्तृत्व' और 'कारणत्व' भली भाँति सिद्ध हो जाएगा।[1]

श्री पंचानन जी शंकर के केवल चेतन ब्रह्म के निमित्तोपादान का खंडन करके 'चिदचिदुभयपर्याप्त' सत्ता को ही क्रमशः निमित्त एवं उपादान कारण मानते हैं। उनके मतानुसार विलक्षण सत्ता रूप से वस्तुतः एक ही मूल कारण सृष्टि का हेतु है। अंश भेद को लेकर ही उपादानत्व और निमित्तत्व का व्यवहार उत्पन्न हो सकता है। जिस अंश का कार्य में भेद नहीं है किन्तु कार्य का उस अंश में भेद वर्त्तमान है, उस अंश में उपादानत्व का व्यवहार होता है। जिस अंश का कार्य में भेद वर्त्तमान है उसमें निमित्तत्व का व्यवहार होता है, यदि वे दोनों अंश विलक्षण सत्ता वाले हों तो, और यदि उनकी सत्ता का वैलक्षण्य न हो तो उनमें उपादानत्व और निमित्तत्व का व्यवहार भी नहीं होता। इस नियम को मानने से कारणतावच्छेदक भेद की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है। अतः 'चिदचिदुभयात्मक' सत्ता ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। केवल चिन्मात्र ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं हो सकता।[2]

जगत् : चेतन अथवा अचेतन :

शंकर ने चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण माना है तो इसी आधार पर कार्य रूप जगत् भी चेतन ही होना चाहिए परन्तु ऐसा तो प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सुख-दुःख मोहात्मक होने से वह प्रीति, परिताप, विषाद आदिका हेतु होता है और स्वर्ग-नरकादि अनेक प्रपंचों से भरा हुआ है, अतः वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप कैसे कहा जा सकता है? शंकर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जैसे मनुष्यादि चेतन प्राणियों में चेतन से विलक्षण जगदादि की उत्पत्ति भी समझनी चाहिये। इसके विपरीत गोबर आदि अचेतनों से भी बिच्छु आदि चेतन की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः कारण और कार्य में अत्यन्त सारूप्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे तो प्रकृति और विकार का भेद ही नष्ट हो जाएगा। परन्तु कारण कार्य से सर्वथा भिन्न भी नहीं होता, इसी से ब्रह्म चेतन है तो चेतन का थोड़ा अंश जगत् में भी विद्यमान है ही। शेष नाम-रूप की कल्पना तो अविद्याजन्य है, इसीलिये कारण में लीन हुआ कार्य अपने धर्मों से कारण को दूषित नहीं करता। जैसे मिट्टी के

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० ४, अधि० ७, सू० २६,२७।

२— ,, —शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, अधि० ५, सू० ५ पृष्ठ ५३।

विकार शरावादि स्थिति-काल में छोटे, बड़े और मझले आकार के होते हैं और प्रलय काल में पुनः मिट्टी में लीन होते हुए उसको अपने शरावत्वादि धर्मों से मिश्रित नहीं करते। इसी प्रकार जैसे रुचकादि सुवर्ण विकार, ढलने पर सुवर्ण को अपने धर्म से संस्पृष्ट नहीं करते, वैसे ही पृथिवी के विकार रूप, भूत-समुदाय पृथिवी को प्रलय में अपने धर्म से युक्त नहीं करते। क्योंकि यदि कारण में कार्य अपने धर्म सहित अवस्थित रहे तो कभी प्रलय ही न हो सकेगा।

कार्य और कारण यद्यपि अनन्य हैं तो भी कार्य कारणात्मक हो सकता है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि कारण यथार्थ है और कार्य अविद्याजन्य है। जैसे मायावी अपनी माया से तीनों काल में भी संस्पृष्ट नहीं होता, क्योंकि माया 'अवस्तु' है, वैसे ही परमात्मा भी संसार की माया से संस्पृष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जैसे स्वप्नद्रष्टा स्वप्न की माया से संस्पृष्ट नहीं होता क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्ति में वह माया से अनुगम्यमान नहीं होता, अर्थात् स्वप्न की माया का जाग्रदावस्था में सर्वथा लोप हो जाता है। ठीक वैसे ही तीनों अवस्थाओं का साक्षी, एक, जो अव्यभिचारी ब्रह्म है, वह तीनों व्यभिचारी दशाओं (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय रूप) से संस्पृष्ट नहीं होता। परमात्मा का उक्त तीनों अवस्थाओं में अवभासना रज्जु में सर्पादि के समान माया मात्र ही है। वेदान्त के आचार्यों ने भी कहा है 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।' (गौड पा० कारि० १।१६) इसी प्रकार श्रुति में भी कहा है—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वाराहो वा पतंगो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (छान्दो० ६।९।२,३)[1] अर्थात् जब तक सत्य स्वरूप आत्मा की एकता का बोध नहीं होता, तब तक स्वाभाविक रीति से, सब प्राणी ब्रह्मात्म-बुद्धि का त्याग करके, देहादि को ही अपना स्वरूप समझते रहते हैं। इसलिये ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति होने से पूर्व समस्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहार उसी प्रकार सत्य हैं, जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य स्वप्न में अपने को, उच्च अथवा अधम भाव को प्राप्त हुआ देखता है और उसे जागने से पूर्व तक सत्य ही मानता है, माया मात्र नहीं।[2]

वस्तुतः ब्रह्म कूटस्थ और नित्य है, उसका कोई परिणाम नहीं होता।

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ३, सू० ६,९।

२— ,, —शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ६, सू० १४।

उसका 'ईश्वरत्व', 'सर्वज्ञत्व' एवं 'सर्वशक्तिमत्व' अविद्यारूप उपाधि के परिच्छेद से ही है। विद्या द्वारा सब उपाधियों की निवृत्ति होने पर ब्रह्म में 'ईशितृ', 'ईशितव्य' एवं 'सर्वज्ञत्व' आदि सब व्यवहार उपपन्न नहीं होते। श्रुति में कहा है—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छान्दो० ७।२४।१) इसी प्रकार स्मृति में भी कहा है—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥' (भ० गी० ५।१४,१५) एवं परमार्थावस्था में सब व्यवहारों का अभाव है, किन्तु व्यवहार दशा में श्रुति भी ब्रह्म के ईश्वरत्व आदि का समर्थन करती है। यथा—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृह० ४।४।२२) इसी प्रकार गीता में भी कहा है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'।[1] इस दृष्टि से जगत् भी सत् है क्योंकि कारण से कार्य की भिन्नता नहीं है। घट की उत्पत्ति मिट्टी से ही होती है न कि तंतु से, इसी प्रकार पट की उत्पत्ति भी तंतु से ही देखी जाती है, मिट्टी से नहीं। अर्थात् जिस वस्तु का जिसमें सर्वथा अभाव होता है वह वस्तु उससे कभी उत्पन्न नहीं होती, जैसे बालू से कभी तेल नहीं निकलता। तेल सदैव तिलों से ही निकलता देखा जाता है। अतः व्यावहारिक अवस्था में सत् ब्रह्म से सत् जगत् की उत्पत्ति मानना ही युक्तियुक्त है, और पारमार्थिक दृष्टि से कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है शेष सब अविद्याजन्य है।[2]

श्री पंचानन जी शंकर के उक्त विवर्त्त अपादानत्व का खण्डन करते हुए जगत् की वस्तुतः उत्पत्ति मानते हैं। अतः शंकर के समान इनकी दृष्टि में जगत् पारमार्थिक दशा में मिथ्या न होकर सत् स्वरूप ही है, क्योंकि विलक्षण चिदचिदात्मक सत्ता ही उसका मूल कारण है। जब कारण चिदचिदात्मक है तो कार्य भी चिदचिदात्मक ही होगा। क्योंकि कारण और कार्य में भेद नहीं होता। किन्तु कार्य की दृष्टि से कारण भिन्न ही होता है। यथा चिदचिदात्मक कारण ब्रह्म और जगत् रूप कार्य में अभेद होने पर भी जगत् (कार्य) ब्रह्म (कारण) नहीं हो सकता। इस दृष्टि से ब्रह्म भोक्ता है और जगत् भोग्य। जैसे देवदत्त भोक्ता है और 'ओदन' उसका भोग्य। अथवा

१—द्रष्टव्य—शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ६, सू० १४।

२— ,, —शांकर भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ६, सू० १५,१६।

भृत्य देवदत्त भोग्य है और राजा उसका भोक्ता। इस प्रकार कारण और कार्य दोनों चिदचिदात्मक होते हुए भी दोनों में भेद दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह विभाग अविद्यामूलक ही है, अभेद ही वस्तुतः सत् है। श्रुति में भी कहा है 'यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' ऐसा उपक्रम करके 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' ऐसा समाधान किया है। अतः अद्वैत ही वास्तविक है द्वैत अविद्याजन्य है।[1]

अब प्रश्न यह है कि यदि ब्रह्म और जगत् का अनन्यत्व है तो जगत् का हित-अहित ही ब्रह्म का हित-अहित माना जाएगा, तब ब्रह्म स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति समृद्ध कहाँ रह जाएगा ? श्री पंचानन जी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि स्वरूपाद्वैत मत में सत्ता 'चिदंशेन' अपरिणामिनी और 'अचिदंशेन' परिणामिनी है। वह अचिदंश के परिणाम से स्थूल रूप धारण करती है और चिदंश से प्रतिबिम्ब भाव को ग्रहण करती है उसके इस अंश का परिणाम नहीं होता। इस प्रकार विशेष होने पर भी जैसे प्रकृति का विकार प्रकृति से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार बिम्ब से प्रतिबिम्ब भी भिन्न नहीं है। अतः उभयात्मक ब्रह्म से विकारभूत जगत् का अनन्यत्व उसी प्रकार ठीक बैठ जाता है जिस प्रकार स्फटिकमणि में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर अभिव्यक्त सूर्यादि का प्रतिबिम्ब चिदंश का प्रतीक है और मणि का पार्थिवांश अचिदंश का प्रतीक है। इसी प्रकार संसार की अन्य वस्तुएँ भी चिदचिदात्मक हैं, यथा अचिदंश से वृक्ष बनता है और चिदंश से वह फलता-फूलता है। पूजन प्रक्रिया में पाषाणादि की प्रतिमा में चेतन देवता-विश्वनाथ, अन्नपूर्णादि–का आरोप करके ही पूजन किया जाता है। घटादि को भी पृथिव्याद्यभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण चिदचिदात्मक ही ग्रहण करना योग्य है। श्रुति-स्मृति में भी कहा है 'यं पृथिवी न वेद' अर्थात् पृथिवी को देवता माना गया है। तथा 'घट त्वं धर्मरूपोऽसि ब्रह्मणा निर्म्मितः पुरा। त्वयि लिप्ते सन्तु लिप्ताश्चन्दनैः सर्वदेवताः' इस मन्त्रलिंग द्वारा घट में भी 'देवतात्म' की प्रतीति होती है। अतः 'स्थिति स्थापकसंस्कार' के समान जैसे वृक्ष से खींची गई शाखा पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाती है उसी प्रकार संसार की सब वस्तुएँ विकार रूप होने पर पुनः अपने कारण चिदचिदात्मक ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। शारीरान्त होने पर भी यही प्रतीति होती है। जैसे दूध को बहुत काल तक रक्खे रहने से उसमें कीटादि उत्पन्न हो जाते हैं ठीक वैसे

१—द्रष्टव्य—शक्ति भाष्य, अ० २, पा० १, अधि० ५,६, सू० १३, १४।

ही निर्जीव देह को भी रक्खे रहने से उसमें कीटादि की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'देह भी चिदचिदात्मक है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उसमें कीटादि जीवों की उत्पत्ति कैसे होती ? अतः चिद्-चिद्-विशिष्ट ब्रह्मरूप धारण से सम्पूर्ण जगत् तथा घट, पटादि कार्य, चिदचिदात्मक ही हैं। एवं ब्रह्म और जगत् का 'अनन्यत्व' स्वतः सिद्ध होता है।'[1]

जहाँ तक हित-अहित का प्रश्न है ब्रह्म का स्वतः कोई हित-अहित नहीं देखा गया और न ही चैतन्य प्रतिबिम्बित जीव का कोई हित-अहित होता है। क्योंकि जैसे जल में पड़े सूर्य के प्रतिबिम्ब को जल की मलिनता आदि दोष वस्तुतः संस्पृष्ट नहीं करते उसी प्रकार उपाधिगत (देहादि) हित-अहित आदि दोष भी जीव को नहीं लगते और जैसे प्रतिबिम्बित मलिनतादि दोष बिम्ब सूर्य में नहीं घटते उसी प्रकार जीवगत हित-अहित आदि प्रतीत मात्र होने वाले दोष ब्रह्म में कैसे घटेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि हित-अहित आदि दोष (उपाधि) देह के ही धर्म हैं न कि जीव अथवा ब्रह्म के, क्योंकि यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अद्वैत भंग होने का दोष लगेगा।[2]

जगत् ब्रह्म का परिणाम है यह सिद्ध होने के उपरांत शंका होती है कि ब्रह्म तो श्रुतियों में 'निरवयव' कहा गया है। तो क्या सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य रूप में परिणत होता है अथवा उसके किसी एकदेश का परिणाम होता है द्वितीय मानने से ब्रह्म सावयव हो जाएगा। शंकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ब्रह्म तो निरवयवी ही है क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है—'निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरंजनम्' (श्वेता० ६।१९) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२) परन्तु समस्त ब्रह्म का परिणाम मानें तो कार्य के बिना प्रयत्न ही प्रत्यक्ष होने से ब्रह्म साक्षात्कार का प्रसंग ही समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार 'ब्रह्म दर्शन करने योग्य है' ऐसा उपदेश निरर्थक हो जाएगा। अतः समस्त ब्रह्म का कार्यरूप में परिणत होना युक्तिसंगत नहीं है। श्रुति में भी इसका निषेध किया गया है—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' (छा० ३।१२।६) श्रुति स्पष्ट रूप से जगत् रूप विकार से भिन्न ब्रह्म की स्थिति का वर्णन करती है। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि ब्रह्म के किसी एक देश

१—द्रष्टव्य—शक्तिभाष्य, अ० २, पा० १, सू० २३-२५।
२— ,, —शक्तिभाष्य, अ० २, पा० १, सू० २३।

का परिणाम होता है; क्योंकि जगत् तो अविद्या कल्पित माना गया है। अविद्या कल्पित रूप भेद से कोई वस्तु सावयव नहीं हो सकती। जैसे तिमिर रोग से पीड़ित व्यक्ति को, एक ही चन्द्र अनेक रूप दीखने पर, चन्द्र अनेक नहीं हो जाते ठीक वैसे ही अनिर्वचनीय रूप भेद से व्याकृत और अव्याकृत रूप को प्राप्त हुआ ब्रह्म व्यावहारिक दृष्टि से परिणामी प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः अपरिणामी और निरवयव ही है। परिणाम प्रतिपादक श्रुति का प्रयोजन सब व्यवहारों से रहित आत्मा का प्रतिपादन करने में ही है।[1]

श्री पंचानन जी अपने द्वन्द्वात्मक स्वरूपाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म को सावयव एवं निरवयव दोनों स्वीकार करते हैं। उनके मत में 'चिदंशेन' अपरिणामी होने से ब्रह्म का निरवयवत्व भी ठीक है और 'अचिदंशेन' परिणामी होने से ब्रह्म का सावयवत्व भी युक्ति युक्त है। 'पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् ब्रह्म के चार पादों में से एक पाद का परिणाम ही सर्व-सृष्टि समूह है। एवं 'अचिदंशेन' परिणामी होने पर भी 'चिदंशेन' अपरिणामी होने से साधारणीकरण द्वारा 'उभयपर्याप्तसत्तावच्छेदेन' ब्रह्म का 'निष्क्रियत्व' और 'निरवयवत्व' भी सिद्ध हो जाता है। धर्म अनित्य होने पर भी धर्मी नित्य होने से चिदचिद् दोनों में 'नित्यत्व' समान है। ब्रह्म को निष्कल कहना भी श्रुति विरुद्ध है, 'छान्दोग्योपनिषज्जाबालखण्ड' में कहा है—'ब्रह्मणस्ते पादं ब्रवाणि' ऐसा उपक्रम करके 'प्राची दिक् कला प्रतीची दिक् कला दक्षिणा दिक् कलोदीची दिक् कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम' अर्थात् ब्रह्म षोडशकला युक्त है। जैसे अरुन्धती नक्षत्र को दिखाने के लिये निरवयव आकाश के एक अंश की ओर निर्देश किया जाता है वैसे ही यहाँ बृहत् पाद की अपेक्षा क्षुद्र कला द्वारा ब्रह्म के एक अंश का निर्देश है। एवं उभयात्मक ब्रह्म के परिणामित्व में कोई बाधा नहीं है।[2]

शंकर उक्त समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे योगी बिना किसी साधन सामग्री के अपने ऐश्वर्य से, केवल संकल्प मात्र से, नाना प्रकार के शरीर, प्रासाद, रथ आदि का निर्माण करते हैं, और जैसे मकड़ी अपने में से ही तन्तु निकाल कर जाल बनाती है, बगुली शुक्र के बिना ही गर्भ धारण करती है और पद्मिनी (पुरैन) किसी साधन के बिना ही एक तालाब से

१—शांकर भाष्य; अ० २, पा० १, सू० २६,२७।
२— ,, वही सू० २७।

दूसरे तालाब में फैल जाती है; वैसे ही परम ऐश्वर्यशाली ब्रह्म भी किसी बाह्य साधन की अपेक्षा के बिना ही, स्वयं अपनी शक्ति से जगत् की रचना करने में समर्थ होता है। श्रुति में भी कहा है 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च' ॥ (श्वेता० ६।८)[1] उसकी यह कार्य-निर्माण शक्ति ही माया है। ब्रह्म, वस्तुतः निरवयव और अपरिणामी ही है।

इसके अतिरिक्त शंकर सृष्टि को अनादि ही मानते हैं उनके मत में सृष्टि को सादि मानने से मुक्त पुरुषों का भी पुनः जन्म होने लगेगा। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बाज होने का प्रवाह अनादि है वैसे ही प्राणियों के धर्माधर्म के आधार पर सृष्टि का प्रवाह भी अनादि है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' यह मंत्र तथा 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' गीता का यह श्लोक सृष्टि के अनादित्व का ही प्रतिपादन करते हैं।[2] श्री पंचानन जी भी परम्परा की दृष्टि से सृष्टि को अनादि ही मानते हैं परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से सादि मानने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं है। उनके मत में सादि मानने पर भी मुक्तावस्था के जीव पुनः उत्पन्न नहीं होंगे क्योंकि उनके कर्म सर्वथा क्षीण होने से उनकी अन्तःकरण रूप उपाधि का सर्वथा लय हो जाता है और निःसंस्कार साम्यावस्था की उपस्थिति हो जाती है। पुनः उत्पत्ति ससंस्कार साम्यावस्था से ही होती है क्योंकि निरपेक्ष ईश्वर सृष्टि रचना में समर्थ नहीं होगा। प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से ही वह सृष्टि रचना में समर्थ होता है। भाव यह है कि जब बीज का ही लय हो जाएगा तब मुक्त जीव की पुनरावृत्ति किस आधार पर होगी। अतः इस दृष्टि से सृष्टि को सादि मानने में भी कोई दोष नहीं आता।[3]

प्रकृतिः शुद्ध विद्या एवं माया

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) अथवा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ० २।५।१९) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म की शक्ति का कहीं माया रूप से तो कहीं प्रकृति रूप से वर्णन करती हैं। वह शक्ति परमेश्वर के अधीन और महासुषुप्ति रूप है। वही 'अव्यक्त' है, अक्षर है 'अक्षरात्परतः परः', महत् से भी श्रेष्ठ है 'अव्यक्तं महतः परम्'। हिरण्यगर्भ सम्बन्धी बुद्धि

१ — वही सू० २४,२५।
२ — वही सू० ३६।
३ — वही सू० ३६।

महत् रूप है, बुद्धयादि अवच्छिन्न होने से जीव भी महत् रूप है। अविद्या से ही जीव का सब व्यवहार चलता है अतः जीव भाव अव्यक्त (अविद्या) के अधीन होने से 'अव्यक्त महत् से श्रेष्ठ है' यह उचित कहा गया है। जीव का शरीर माया से बना है और शरीर के समान इन्द्रियाँ भी, अतः अव्यक्त पद का अर्थ यदि सूक्ष्म शरीर लिया जाय तब भी सांख्य की जड़ प्रकृति अव्यक्त पद का अर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि वह स्वतन्त्र है जबकि उपरोक्त श्रुति में महेश्वर को माया का 'अधिपति' कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि माया ब्रह्म की अव्यक्त शक्ति है, जिसकी सहायता से ब्रह्म सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है।[1]

माया का स्वरूप :

अब प्रश्न यह है कि माया का स्वरूप कैसा है ? शंकर उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं वह न सत् है, न असत् है, प्रत्युत इन दोनों से विलक्षण है। परन्तु पंचानन जी माया को सत् स्वरूप ही मानते हैं। उनके मत में परम सत्ता द्विरूपिणी (चित्-अचित्-स्वरूपा) होने से, शक्ति का अचिदंश ही मूल प्रकृति है, वह ईश्वरी (सत् स्वरूपा) है, और शुद्ध विद्या तथा माया उसके ये दो भेद हैं—'अचिन्मात्रदिशि ख्याता मूल प्रकृतिरीश्वरी। शुद्ध विद्या च माया च तद्भेदः परिकीर्तितः।[2] अतः शांकर वेदान्त के समान स्वरूपाद्वैतवाद में माया 'ब्रह्माश्रित' होने पर भी सदसत् से विलक्षण पदार्थ नहीं है, प्रत्युत वह ब्रह्म के समान ही सत् स्वरूपा है ब्रह्मरूपिणी है। वह ब्रह्म की इच्छा-मात्र नहीं है, जिसको वे (ब्रह्म) जब चाहें परित्याग कर सकते हैं, अपितु वह 'सत्ता' का नित्य स्वरूप है, जगत् जिसका शाश्वत परिणाम है। यही इन दोनों आचार्यों में प्रमुख मत वैभिन्य है।

पंचानन जी के तर्कानुसार शंकर की माया शक्ति 'सत्वासत्व विकल्पासहत्वेन' होने से अपदार्थ है, क्योंकि यदि माया को सत् मानते हैं तो वह 'चिन्मात्र' ब्रह्म से अन्य है या अनन्य, यह प्रश्न उठता है। यदि 'अन्य' रूप से उसका उपादानत्व माने तो 'चिन्मात्र स्वरूप' ब्रह्म का अपादानत्व' सिद्ध नहीं होगा, अपितु अपादानत्व माया का ही होगा। यदि 'अनन्यत्व' स्वीकार करें तो माया भी चित्स्वरूपा हो जाएगी। इष्टापत्ति मानने पर चित् ब्रह्म विकार रूप हो जाएगा। जैसे घट मिट्टी से अनन्य होने पर भी मिट्टी में रहने वाले

१—शांकरभाष्य, अ० १, पा० ४, सू० ३।

२—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२०।

भेद का प्रतियोगी होता है और भेदाभेदवान् होता है, वैसे ही मायाशक्ति चित् से अनन्य होकर भी चित् में रहने वाले भेद की प्रतियोगिनी होने से भेदाभेदवती हो जाएगी। और ऐसा मानने पर मायाशक्ति चिद्रूप नहीं हो सकती। साथ ही मायाशक्ति चित् से अभिन्न होने के कारण तथा उस चित् के मायाशक्ति में विराजमान होने से, जैसे घट से मिट्टी भिन्न नहीं होती, मायाशक्ति भी चित् से अभिन्न होती हुई चित्निष्ठ अभाव की प्रतियोगिनी बन जाएगी और इस प्रकार भेदाभेदवती हो जाएगी।[1]

इसके विपरीत यदि माया को असती स्वीकारें तो वह हेतुमति होनी चाहिये, क्योंकि प्राग्भाव ही घट का कारण होता है। तब जगत् का उपादान कारण कोई अन्य होगा, और वह उपादान कारण यदि चिन्मात्र (ब्रह्म) हो, तो ब्रह्म के विकार सहित होने से उसमें (ब्रह्म में) 'सविकारत्व' का दोष आ जाएगा। ब्रह्म के विकार रहित होने पर भी रज्जुसर्प के समान उसका उपादान उपादेय भाव यदि स्वीकार करें तो 'दृष्टान्त असिद्धि' दोष होगा, और ऐसा न मानने पर दृष्टान्त ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि रज्जुसर्प संज्ञक कोई पदार्थ ही कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका दृष्टान्त दिया जा सके। अतः रज्जुसर्प का दृष्टान्त यहाँ नहीं दिया जा सकता। यदि परपक्ष सन्तुष्टि हेतु दृष्टान्त मान भी लें तो सत्य रज्जु में ही अन्यत्र सत्य से भिन्न सर्प का उद्भव होता है, न कि असत्य रज्जु में, जबकि यहाँ तो (शांकर मत में) असत्य माया से जगत् का उद्भव माना जाता है। अतः यह सर्वथा विषम दृष्टान्त है। यदि माया में नहीं किन्तु चिन्मात्र ब्रह्म में ही यह उत्पत्ति मानी जाएगी तो सत् ब्रह्म से उत्पन्न हिरण्यगर्भ का सर्प के समान अन्यत्र अभाव होने से 'विषम दृष्टान्तता' ज्यों की त्यों बनी रहेगी।[2]

यदि यह कहा जाय कि सत्य मायाशक्ति ही वस्तुतः कर्त्री है अर्थात् वही जगत् का उपादान कारण है, ब्रह्म में कर्तृत्व एवं उसका उपादानत्व तो औपचारिक मात्र, अर्थात् गौण प्रयोग है और ब्रह्म का यह लक्षण 'शाखावच्छिन्नत्वमिव चन्द्रवत्' है अर्थात् जैसे किसी ने पूछा चन्द्रमा कौन-सा है ? तो उत्तर में पेड़ का निर्देश करके कहा गया कि 'वह पेड़ की शाखा के ऊपर जो दिखाई पड़ रहा है, वही चन्द्रमा है।' इसी लक्षणानुसार, वास्तव में जगत्कर्त्री तो माया है, ब्रह्म को गौण रूप से कर्त्ता कहा जाता है। इसके

१—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, अधि० ४, सू० ४, पृष्ठ ३०।

२—वही।

उत्तर में श्री पंचानन जी कहते हैं कि यह गौण प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ के सम्भव होने पर औपचारिकता की कल्पना करना युक्ति संगत नहीं होता। यदि यह कहो कि 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' ऐसी श्रुति है और इसलिये केवल निर्गुण का उपदेश होने से 'कर्त्तारम्' इस पद का मुख्यार्थ बाधित होगा। अतः 'औपचारिकता' (गौण प्रयोग) मानने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई गति ही नहीं है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। जैसे आत्मा और घट दोनों में 'आत्मत्व' नहीं रहता वैसे ही चिदचिद् दोनों में भी गुण नहीं है, ऐसी प्रतीति होने से अचित् गुणवान् होने पर भी चित् के निर्गुण होने से, दोनों में रहने वाला गुणत्व का अभाव उनमें रह ही जाएगा। अतः उपर्युक्त श्रुति में वर्णित 'निर्गुणत्व' का कर्तृत्व मुख्यार्थ से, ऊपर की युक्ति द्वारा सम्भव होने पर औपचारिकता की कल्पना व्यर्थ ही है। एवं सामानाधिकरण्य से 'चिदचिदुभयात्मक' शक्ति का कर्तृत्व मानना ही युक्तियुक्त है, न कि सदसत् विलक्षण माया का। ऐसी उभयात्मक सत्ता स्वीकार करने से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी।[1]

परम्परागत शाक्त मत में भी 'विमर्श' शक्ति नित्य एवं स्वभाव भूत है, न कि शांकर वेदान्त के समान अध्यस्त अथवा आरोपित। वही महाशक्ति है और अपने माया तथा विद्या-इन दोनों अंशों से जीव के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है। वही 'इदंता' अथवा 'इदं' भाव की प्रधानता के साथ भासित होने से 'घट' 'पट' आदि रूपों में दृष्टिगोचर होने पर माया कहलाती है— 'विमर्श एव इदन्तौत्वण्येन भासमानोमाया इत्युच्यते (मात्रिका चक्र विवेक) पुनः विमर्श ही 'अहंता' अथवा 'अहं' भाव की प्रधानता के साथ विद्योतित होने पर विद्या कहलाती है। 'सएवाहन्तौत्वण्येन विद्योतमानो विद्येति गीयते' (मात्रिका चक्र विवेक) इन दोनों (माया एवं विद्या) को ही देवी का 'अपर' तथा 'पर' रूप भी कहा जाता है—'परापरदशा हि सा'। शांकर वेदान्त में 'पर'-शुद्ध विद्या-तत्वज्ञान से अविद्या (माया) का नाश होना कहा गया है। परन्तु शाक्त मत में माया और विद्या विमर्श रूपा शक्ति के ही अंशद्वय कहे गए हैं। अतः उनमें नाश्य नाशक भाव सम्बन्ध नहीं है।

१—वही पृ० ३१।

स्वरूपाद्वैतवाद में भी शुद्धविद्या और माया अचित् प्रकृति के ही अंशद्वय होने से उनमें भी 'शांकर मत सम्मत' नाश्य नाशक भाव सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत वे यथाक्रम मोक्ष एवं संसार का कारण हैं। इसी आधार पर शंकर की माया कृत-सृष्टि जहाँ आभास अथवा कल्पना मात्र है, और तत्वज्ञान द्वारा उसका बाध हो जाता है। स्वरूपाद्वैतवाद में वह सत् प्रकृति का वास्तविक परिणाम होने से सत् स्वरूपा ही है। माया अथवा छलना मात्र नहीं है।

पंचम अध्याय

स्वरूपाद्वैतवाद की उभयात्मकता की स्थापना एवं अन्य प्रतिसिद्धान्तों का निराकरण

स्वरूपाद्वैतवाद की उभयात्मकता :

यथा पूर्व सम्बन्धित परिच्छेदों में वर्णन किया जा चुका है कि स्वरूपाद्वैतवाद का आधार 'सत्ता' की उभयात्मकता है अर्थात् वह द्विरूपेण वर्णित है 'चिदात्मकतः' एवं 'अचिदात्मकतः', और ये दोनों ही उसके समान रूप हैं। इनमें से (चित् अचित्) किसी एक अथवा दूसरे को छोड़कर 'सत्ता' को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, इसीलिये इनको 'नित्य सम्बद्ध' कहा गया है अर्थात् इन दोनों को मिलाने वाला 'बल' नामक सम्बन्ध है जो 'नित्य' है। चित् एवं अचित् दोनों अधिकरणों में 'सत्ता' समान रूप से व्याप्त है। अतः उसे 'उभयपर्याप्त' की संज्ञा दी गई है। एवं सत्ता का पूर्ण लक्षण हुआ—नित्यसम्बद्धचिदचिदुभयपर्याप्त सत्ता विशेष।

जड़ चेतनमय इस विश्व को लक्षित कर उसकी मूल सत्ता को भी 'चिदचिदात्मक' सिद्ध करना तर्कानुसार युक्तियुक्त ही है। केवल चेतन की प्रवृत्ति कहीं नहीं देखी जाती। शरीर के बिना इसके 'अध्यक्ष' चेतन को आज तक किसी ने भी क्रिया में प्रवृत्त होते नहीं देखा। इसी प्रकार केवल अचेतन पंचभौतिक शरीर भी जड़मात्र ही है, प्राण के बिना उसमें किसी प्रकार की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। चिदचिद्विशिष्ट शरीर ही जगत् के सम्पूर्ण कार्य-कलापों को करता है एवं प्रवृत्ति निवृत्ति आदि क्रियाओं का अधिष्ठान बनता है, और क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं इसलिये चिदचिद्विशिष्ट जगत् के सम्पूर्ण कार्यों का कारण चिदचिद्विशिष्ट सत्ता ही को स्वीकार करना पड़ेगा। यही तर्क सम्मत है।

स्वरूपाद्वैतवाद की इस उभयात्मकता (चिदचिद्विशिष्टत्व) का प्रतिपादन करके इसके विरुद्ध अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की अब समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

सांख्य मत निरास :

सांख्य मतावलम्बी आचार्यों का मत है कि चिदात्मक पुरुष असंख्य हैं और सुख-दुःख मोह स्वरूपा त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति एक है। वह

पुरुष के भोगार्थ चेतन कर्त्ता की अपेक्षा किये बिना स्वयमेव महदादि क्रम से जगदाकार में परिणत होती है। अतः जगत् की रचना अचेतन प्रधान से होने के कारण जगत् भी सुख-दुःख मोहात्मक है। जैसे एक ही स्त्री पति के लिये प्रेयसी होने से 'सुख रूपा' है, परन्तु अन्य 'सपत्नियों' के लिये दुःख रूपा है, और कामुक पुरुष के लिये 'मोह रूपा' होती है, वैसे ही जगत् की सब वस्तुएँ सुख-दुःख मोहात्मक हैं। जैसे घट शरावादि का कारण मृत्तिका ही होती है, स्वर्णादि विजातीय पदार्थ नहीं, वैसे ही बाह्य एवं आध्यात्मिक विकार सुख-दुःख मोह युक्त होने से उनका कारण भी सुख-दुःख मोहात्मक प्रकृति होनी चाहिये। यह युक्ति युक्त ही है।[1]

सांख्य के उक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं कि जब तुच्छ से तुच्छ घट पट आदि को बनाने के लिये भी चेतन कर्त्ता की आवश्यकता होती है, तब इतनी विस्तृत और गूढ़ सृष्टि की रचना में केवल अचेतन प्रधान कैसे समर्थ हो सकता है ? प्रत्यक्ष दृष्टान्त से यह सिद्ध है कि जगत् की कोई भी वस्तु चेतन की सहायता के बिना, केवल अचेतन द्वारा किसी पुरुष के भोग के लिये प्रवृत्त होती दृष्टिगोचर नहीं होती। घर, महल, शयन, आसन विहार आदि का निर्माण बुद्धिसम्पन्न शिल्पी ही करते हैं। इसी प्रकार जगत् की समस्त दृश्यमान वस्तुएँ किसी चेतन स्रष्टा होने का संकेत करती हैं, अचेतन का नहीं। हाँ, चेतन से अधिष्ठित होने पर अचेतन भी क्रिया करता हुआ देखा जाता है जैसे रथ आदि अचेतन पदार्थ चालक आदि चेतन के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। अतः प्रवृत्ति के लिये भी चेतन अधिष्ठाता की अनिवार्यता होने से 'केवल अचेतन प्रधान जगत् का कारण है' यह कथन सर्वथा असगत है।[2]

सांख्य का यह कथन—कि जैसे अचेतन दूध बछड़े के पोषणार्थ स्वयमेव प्रवृत्त होता है, और जैसे अचेतन जल 'लोकोपकाराय' प्रवृत्त होता है—वाष्प बन कर मेघ रूप में परिणत होता है, और फिर वर्षा के द्वारा पुनः भूतल पर गिर कर नदी रूप में प्रवहमान होता है, वैसे ही अचेतन प्रकृति भी पुरुष के भोगार्थ 'चेतनाधिष्ठान' के बिना ही 'साम्यावस्था' की प्रच्युति के द्वारा सृष्टि रचना में प्रवृत्त होगी, भी ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुति में कहा है 'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) तथा 'एतस्य वा अक्षरस्य

१—शक्तिभाष्य, अ० २, पा० २, सू० १।

२— ,, वही सू० २।

प्रशासने गार्गि, प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।६) अर्थात् समस्त जगत् की क्रियाओं का प्रेरक परमात्मा ही है। कार्य के द्वारा उसके चेतन कर्त्ता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। श्रुति चेतन के 'अधिष्ठातृत्व' का प्रबल समर्थन करती है। 'यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठन्सएकः'।[1] अतः अचेतन प्रधान को जगत् का कारण कहना सर्वथा युक्ति रहित है।

यदि यह कहा जाए कि प्रधान किसी प्रेरक की अपेक्षा नहीं रखता, सर्ग काल में साम्यावस्था से प्रच्युति ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है। जैसे कि 'सप्तच्छद' वृक्ष शरद् काल में स्वभावतः ही पुष्पित होता है अन्य ऋतु में नहीं; वैसे ही प्रकृति भी साम्यावस्था के प्रच्युति काल में स्वभावतः सृष्टि रचना में प्रवृत्त होती है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रेरक की अपेक्षा न होने पर प्रकृति कभी महदादि आकार में परिणत होगी, कभी नहीं भी होगी, ऐसा दोष आएगा। अतः यह युक्ति भी समीचीन नहीं है।[2]

'जैसे तृणादि पदार्थ अन्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना दूध आदि के रूप में परिणत होते हैं वैसे ही विना किसी निमित्त के प्रधान का भी परिणाम होता है'. सांख्य का यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि तृणादि भी दूध में तभी परिणत होते हैं जब चेतन गाय उसका भक्षण करती है। इसके अतिरिक्त गाय के खाने पर ही तृणादि से दूध की प्राप्ति होती है बैलादि के खाने से नहीं। इससे स्पष्ट है कि यदि बिना किसो निमित्त की अपेक्षा के केवल तृण से दूध प्राप्त हो जाता तो गाय की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु ऐसा तो कहीं दृष्टान्त नहीं मिलता। अतः बिना किसी चेतन निमित्त की अपेक्षा किये सृष्टि प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं कही जा सकती।[3]

प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति मानने पर भी प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि 'पुरुष का भोग' प्रवृत्ति में प्रयोजक माने तो सुखादि अतिशय रहित निर्गुण पुरुष का भोग कैसे होगा? यदि 'मोक्ष' को प्रयोजन मानें तो 'मोक्ष तो सांख्य में पुरुष को स्वभावतः सिद्ध' होने से प्रवृत्ति निरर्थक हो जाएगी। प्रधान की प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग दोनों के लिये मानना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृति के अचेतन होने से भोग नहीं

१—वही सू० ३।

२—वही सू० ४।

३—वही सू० ५।

होगा और उसके 'त्रिगुणात्मिका' (सुख दुःख मोहात्मिका) होने से कैवल्य की प्राप्ति नहीं होगी। अतः सांख्य में जीव के बंधन एवं मोक्ष का सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। यदि यह कहा जाय कि मुक्त पुरुष की बुद्धि का लय और भाविमुक्तिक पुरुष की बुद्धि का लय एक जैसा नहीं है, क्योंकि मुक्त पुरुष की बुद्धि का विलय बीज नाश हो जाने के कारण 'अनागतावस्था' से रहित होता है किंतु भाविमुक्तिक पुरुष की बुद्धि का लय सबीज होता है और अनागतावस्था से युक्त होता है। अतः निर्बीज बुद्धि विलय का फिर आविर्भाव नहीं होता, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि सत्कार्यवाद में 'निरन्वयध्वंस' (सर्वथा नाश) नहीं माना जाता। साथ ही अतीतावस्था की वस्तु की भी कारण रूप से स्थिति माननी पड़ेगी और इसका फल यह होगा कि विवेक ज्ञान और अविवेक ज्ञान दोनों के सामानाधिकरण की सम्भावना बन जाएगी। इस प्रकार के संकर से निर्बीज बुद्धि का विलय भी कभी सबीज हो जाएगा, क्योंकि बुद्धि का आविर्भाव प्रकृति का स्वरूप है अतः प्रकृति में उसका विलय नहीं होगा। अन्ततः सांख्य का यह सिद्धान्त सर्वथा तर्क विरुद्ध है। इसके विपरीत स्वरूपाद्वैतवाद में जहाँ चिदचिदात्मक ब्रह्म को ही जगत् का कारण माना जाता है 'यह बुद्धि अब पुनः आविर्भाव को प्राप्त न हो और अपनी कारणावस्था में विलीन रहे' ऐसा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने से बुद्धि का अत्यन्त विलय हो जाता है और मुक्त आत्मा का प्राक्तन बुद्धि के साथ पुनः संयोग सम्भव नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त ही युक्ति संगत है सांख्य मत नहीं।[1]

सांख्य का यह दृष्टान्त कि 'जैसे पंगु पुरुष स्वयं 'अप्रवर्त्तमान' होने पर भी किसी 'अन्धे' व्यक्ति के कन्धे पर चढ़कर अपने सन्निकर्ष से उसे प्रवर्त्तित कराता है और वहाँ गतिरूप प्रवृत्ति अन्धे की ही होती है पंगु की नहीं। तथा जैसे अयस्कान्त-मणि स्वयं अप्रवर्त्तमान होने पर भी सन्निकर्ष विशेष द्वारा अयः (लोहे) को प्रवर्त्तित करती है वैसे ही स्वयं अप्रवर्त्तमान होने पर भी पुरुष प्रकृति को स्व-सन्निकर्ष से प्रवर्त्तित करता है'—भी युक्तियुक्त नहीं है। इससे प्रथम प्रधान की स्वतन्त्रता की हानि होगी क्योंकि सांख्य उसे पुरुष द्वारा संचालित नहीं मानता। द्वितीय सर्वथा निःसंग निर्व्यापार पुरुष प्रधान को किस प्रकार प्रवृत्त करावेगा ? क्योंकि पंगु भी अन्धे पुरुष को वाणी से प्रवृत्त कराता है, सांख्य मत में तो पुरुष उदासीन एवं व्यापार शून्य है।

१– वही सू० ६ ।

अतः वह कैसे प्रधान को प्रवर्त्तित करावेगा ? अयस्कान्त मणि के समान केवल सन्निधि मात्र से भी पुरुष प्रधान को प्रवृत्त नहीं करा सकता है। क्योंकि पुरुष की नित्य सन्निधि होने के कारण प्रवृत्ति में भी नित्यता प्राप्त होगी और इस प्रकार प्रलय और मोक्ष कभी होगा ही नहीं। अतः यह दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है।[1]

सांख्य की प्रकृति सृष्टि के आरम्भ काल में यद्यपि गुण वैषम्य को प्राप्त होती है, तथापि सुख दुःख मोहात्मिका बनी रहने के कारण उसके स्व-स्वरूप का नाश भी नहीं होता। क्योंकि स्वरूप नष्ट होने पर सृष्टि की उपपत्ति नहीं होगी। सांख्य के इस अनुमान का खण्डन करते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं कि 'ज्ञ-शक्ति के वियोग के कारण, अर्थात् चिद्रूप शक्ति के न होने के कारण यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। प्रत्युत स्वरूपाद्वैतवाद में नित्य सम्बद्ध चिदचिदुभयपर्याप्त सत्ता के ही उपादान कारण होने का जो अनुमान किया जाता है वही श्रुत्यनुकूल है। सांख्य सम्मत सुखदुःखमोहात्म कद्रव्य होने से उपादानत्व की सिद्धि नहीं होती। अतः केवल अचेतन प्रधान को कारण नहीं माना जा सकता, चिदचिद्विशिष्ट सत्ता ही उपादान कारण बन सकती है। श्रुति अनुमोदित होने से स्वरूपाद्वैतवाद का सिद्धान्त ही निर्दुष्ट है, सांख्य सिद्धान्त नहीं।[2]

वैशेषिक मत निरास

वैशेषिकों की यह प्रक्रिया है कि परिमण्डल परिमाण से ह्रस्व अणु तथा द्व्यणुक उत्पन्न होता है और ह्रस्व द्व्यणुक से महत् एवं दीर्घ त्र्यणुकादि उत्पन्न होते हैं, तो इससे निष्कर्ष यह निकला कि द्व्यणुक अवयव है और त्र्यणुकादि उसके अवयवि हैं। किंतु परिमाण उत्पन्न करने का नियम यह है कि परिमाण स्व-समान जातीय परिमाण उत्पन्न करता है और अपने से उत्कृष्ट परिमाण पैदा करता है। जैसे मध्यम परिमाण के दो कपालों का परिमाण मध्यम जातीय परिमाण घट उत्पन्न करता है, और कपाल के परिमाण की अपेक्षा अधिक उत्कृष्टतर परिमाण पैदा करता है। किंतु द्व्यणुक से त्र्यणुक उत्पन्न करने में द्व्यणुक का परिमाण, जो अणु परिमाण है, त्र्यणुक के परिमाण को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि त्र्यणुक का परिमाण महत् जाति वाला है। अतः द्व्यणुक के परिमाण से विजातीय है। इसलिये वैशेषिक का

१—वही सू० ७।

२—वही सू० ८-६।

यह कथन कि अवयवी में अवयव परिमाण का सजातीय और उत्कृष्ट परिमाण उत्पन्न होता है, ठीक नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म, जो जगत् का अवयव है वह अपने अवयवि जगत् के परिमाण से अपकृष्ट (सूक्ष्म) परिमाण वाला है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।[1]

समवायिकारण में रहने वाले समवेत गुण कार्य में स्वसजातीय गुणान्तर के जनक होते हैं, ऐसा वैशेषिकों का नियम है। जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को मानने पर जगत् भी चेतन होना चाहिये यह वैशेषिकों का आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार द्व्यणुक का परिमाण रूप गुण अपने कार्य त्र्यणुक में सजातीय गुण का आरम्भक नहीं होता और उक्त नियम का व्यभिचार स्वीकार किया जाता है, ठीक इसी प्रकार चेतन ब्रह्म का चैतन्य गुण भी अपने कार्य जगत् में नहीं आता ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार कारण के गुण कार्य में स्व-सजातीय गुणों के आरम्भक होते हैं, इस नियम का व्यभिचार दिखा देने से वैशेषिकों का यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है।[2]

परमाणु कारणवाद का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है — पृथ्वी जल तेज और वायु नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं। परमाणु रूप ये भूत नित्य हैं और उनसे द्व्यणुक आदि क्रम से पृथ्वी आदि अनित्य भूतों की उत्पत्ति होती है। जगत् में सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति देखी जाती है जैसे तन्तुओं से पट तथा अंशुओं से तन्तु उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म सूक्ष्मतर इस परम्परा में परमाणु अन्तिम वस्तु हैं। अतः ये परमाणु नित्य हैं, और निरवयव हैं। प्राणियों के भोगादृष्ट युक्त जीवात्मा के संयोग से परमाणु में कर्म (क्रिया) उत्पन्न होता है पुनः वह अन्य परमाणु से संयुक्त होकर द्व्यणुक उत्पन्न करता है। द्व्यणुक भी अणु परिमाण वाला ही है। बहुत से द्व्यणुकों से मिल कर त्र्यणुकादि महद् द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनसे स्थूल द्रव्य और क्रमशः कपालादि उत्पन्न होते हैं, और कपालादिकों से घट की उत्पत्ति होती है।[3]

परमाणु पुञ्ज से घट उत्पन्न नहीं होता। यदि परमाणु पुञ्ज से घट की उत्पत्ति मानी जाए तो मुद्‌गर से घड़े के नाश होने के अनन्तर जो कुछ

१—शक्तिभाष्य, भाग २, अ० २, पा० २, अधि० २, सू० ११।
२—वही सू० ११।
३—वही।

चूर्णादि प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है वह नहीं होना चाहिये, क्योंकि घट के अवयव परमाणु अतीन्द्रिय हैं। त्र्यणुक के नाश के पश्चात् भी त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक, अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्षत्व की योग्यता नहीं रखते। अतः छः परमाणुओं से त्र्यणुक की उत्पत्ति, जो प्राचीन आचार्य मानते हैं, नहीं स्वीकार की जा सकती। इसीलिये वाचस्पतिमिश्र आदि दार्शनिकों ने त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक माने हैं, परमाणु नहीं माने। घट उपगृहीत परमाणुओं के समान, परमाणुत्व होते हुए भी बहुत्व होने के कारण, परमाणु साक्षात् स्थूल के आरम्भक नहीं होते। यह तो उन लोगों के अनुमान की प्रक्रिया है। जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या वैशेषिक मत में इस प्रकार की गई है—आकाश, दिक्, काल आदि इस मत में नित्य हैं अतः उत्पन्न नहीं होते, फिर भी संयोग विशेष से घटक हैं। जगत् का घटकत्व उनमें माना जा सकता है, इस रीति से जगत् का उपादान कारण परमाणु है और यह जगत् ईश्वर रूपी कर्त्ता के बिना नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि भात्र कार्य मात्र, उपादान गोचर, अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा, कृतिमान कर्त्ता से ही जन्य पदार्थ, अर्थात् कार्य उत्पन्न हुआ करते हैं—यही वैशेषिकों का सिद्धान्त है।[1]

प्रलय के समय परमाणु परस्पर विश्लिष्ट होकर निस्पन्द पड़े रहते हैं। अथवा अन्य परमाणुओं से संयोगजनक क्रिया से रहित होते हैं। प्रलय के अन्त में वायवीय परमाणु में संयोग हेतुक क्रिया उत्पन्न होती है जिससे वह अन्य परमाणुओं से संयुक्त बनता है और इस प्रकार महावायु, पृथ्वी, अग्नि, जल आदि उत्पन्न होते हैं। वैशेषिकों की इस प्रक्रिया का खण्डन इस प्रकार है—सृष्टि के आरम्भ में द्व्यणुक आरम्भक संयोग हेतुभूत क्रिया, कारण की असत्ता अथवा सत्ता दोनों ही दृष्टियों से परमाणु में सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि परमाणुओं में तादृश कर्म सम्भव नहीं है। अतः परमाणु जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। आशय यह है कि जब तक दो परमाणुओं में संयोग न हो तब तक द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उस संयोग का भी कारण होना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य मात्र कारण के अधीन ही होते हैं। यहाँ संयोग का कारण 'प्रयत्न रूपी कर्म,' 'अभिघात' अथवा 'नोदन' आदि में से क्या है? प्रत्यक्ष तो इनमें से कोई भी कारण उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि शरीर के अभाव में किसी जीव में प्रयत्न नहीं हो सकता। 'अभिघात', 'नोदन' आदि भी कारण नहीं बन सकते क्योंकि स्पर्शवत्

१—शक्तिभाष्य, अ० २, पा० २, अधि० २, सू० ११।

स्थूल द्रव्य में ही अभिघात नोदनादि कर्म सम्भव होते हैं। किन्तु प्रलयावस्था में अभी स्थूल द्रव्य उत्पन्न हुए ही नहीं। इसीलिये वैशेषिक सूत्रकार आद्य कर्म को अदृष्ट द्वारा उत्पन्न मानते हैं, किन्तु अदृष्ट कारित कर्म भी परमाणु में युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि अदृष्ट (धर्माधर्म) जीवनिष्ठ होते हैं तथा स्वयं अचेतन होते हैं।[1]

शरीरादि की उत्पत्ति न होने के कारण उस समय जीव भी अचेतन ही रहता है। इस प्रकार अचेतन जीव में रहने वाले, अचेतन अदृष्ट को प्रलय दशा में मानने पर भी, परमाणुओं के संयोग जनक क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि सृष्टि के लिये प्रवृत्त सर्वज्ञ उस ईश्वर की, जो जीवों के अदृष्टों की भोग जनन की उन्मुखता को जानता है, प्रेरणा से कर्म के अनुकूल इच्छा के द्वारा, सृष्टि के आद्य काल में, अदृष्ट कर्म हेतु बन सकता है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अदृष्ट तो जीव में रहते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से भिन्न अधिकरण में रहने वाले कर्म कैसे हेतु बन सकते हैं। यदि यह कहो कि स्व-समवायि संयोग सम्बन्ध से अदृष्ट परमाणु कर्मों का सामानाधिकरण्य बन जाएगा तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से संसर्ग मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः सामानाधिकरण्य युक्ति संगत नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार की परम्परा का संसर्गत्व मान भी लें तो भी यह मत दोषयुक्त ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर सृष्टि काल और प्रलयकाल की कोई व्यवस्था ही सिद्ध नहीं हो सकती। प्रलयकाल में भी अदृष्ट स्व-समवायि संयोग सम्बन्ध से परमाणु में रहता ही है। अर्थात् आत्मा (जीवात्मा) में अदृष्ट का समवाय सम्बन्ध है और परमाणुओं से आत्मा का संयोग सम्बन्ध है, ऐसा मानने से परमाणु काल में भी अन्य परमाणु से संयोग का हेतु कर्म उत्पन्न होता रहेगा और द्व्यणुक आदि क्रम से सृष्टि बराबर होती रहेगी। अतः प्रलय और सृष्टि काल की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।[2]

प्रश्न हो सकता है कि प्रलय दशा में स्व-समवायि संयोग सम्बन्ध से परमाणु में अदृष्ट की सत्ता और उससे कर्मोत्पत्ति का आक्षेप कैसे किया जा सकता है, तथा ईश्वर कर्तृक सृष्टि मानने पर भी ईश्वर की सृजन करने की इच्छा भी सृष्टि का हेतु मानी जा सकती है। यह ईश्वर की इच्छा नित्य होने

१—वही सू० १२।

२—वही सू० १३।

के कारण सर्ग और प्रलयकाल की व्यवस्था कैसे बन सकेगी। इन दोनों शंकाओं का समाधान इस प्रकार है—समवाय सम्बन्ध नित्य होने के कारण सृष्टि और प्रलय दोनों कालों में ही स्व-समवायि संयोग रहता है। अतः सृष्टि और प्रलय की व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि व्यवस्था के लिये समवाय को अनित्य भी मान लिया जाए, तो भी सृष्टि के प्राक्क्षण में परमाणु में अदृष्ट न रहने के कारण कर्मोत्पत्ति सम्भव नहीं होगी और इस प्रकार द्व्यणुकादि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। ईश्वर की इच्छा को लेकर शंका का उत्तर देते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं—कि ईश्वर की इच्छा नित्य होने पर भी सृष्टि आदि उपाधि के अनित्य होने के कारण तत् तत् उपाधि अवच्छिन्न इच्छा को भी अनित्य स्वीकार किया जाता है, जैसे घटाकाशादि को। वस्तुतः वैशेषिक मत में सृष्टि प्रक्रिया की स्थापना तभी हो सकती है यदि समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया जाय तो। किंतु समवाय नामक कोई सम्बन्ध नित्य नहीं कहा जा सकता। अतः यह प्रक्रिया दोषयुक्त है।[1]

'शुक्लः पटः' 'मधुरं जलं' इत्यादि प्रयोग ही जगत में देखे जाते हैं। यदि समवाय सम्बन्ध नित्य हो तो 'पटे शुक्लः' 'जले मधुरः' व्यवहार भी होना चाहिये जो होता नहीं। अतः 'शुक्लः पटः' इत्यादि स्थलों में तादात्म्य-सम्बन्ध से ही पट आदि में शुक्लादि की प्रतीति माननी चाहिए। सर्वत्र अयुत-सिद्ध स्थलों में तादात्म्य सम्बन्ध ही से काम चल सकता है, तब समवाय सम्बन्ध की क्या आवश्यकता है? गुण गुणी का तादात्म्य मानने पर रूपं घटः ऐसा प्रयोग होने लगेगा, ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये। जिस प्रकार न्याय में 'कृ' धातु तथा 'यत्' धातु दोनों का एक ही अर्थ होने पर भी 'घटं करोति' ऐसा ही प्रयोग होता है 'घटं यतते' ऐसा नहीं होता। इस प्रकार समवाय की कल्पना व्यर्थ हो जाने के कारण यह सिद्धान्तयुक्ति संगत नहीं है। स्वरूपाद्वैतवाद में तादात्म्य सम्बन्ध भेदाभेद रूप तथा अभेद रूप माना जाता है। अतः 'घटे रूपं' अथवा 'रूपवान् घटः' ये दोनों ही प्रयोग हो सकेंगे इसमें कोई बाधा नहीं है। जब तादात्म्य से काम चल सकता है तब समवाय की आवश्यकता नहीं रह जाती।[2]

यदि यह शंका करे कि गुण गुणी का अभेद कथन तो व्याहत है क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय से दोनों का भेद प्रतीत होता है। 'शुक्लः पटः' इत्यादि स्थल में शुक्लादि गुण विशिष्ट में शुक्लादिपद निरूढ़ लक्षणा से सामानाधि-

---

१—वही सू० १४।

२—वही सू० १५।

करण्य का प्रयोग होता है, इसलिये कोश में भी कहा गया है 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगाश्च तद्वति' तो इसका खण्डन करते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं—क्योंकि समवाय सम्बन्ध अप्रसिद्धवस्तु है और इसे मानने पर भी द्रव्य में इसके लिये भी सम्बन्धान्तर अन्य समवाय मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। यदि अनवस्था के भय से समवाय को स्वात्मक सम्बन्ध ही मान लिया जाता है तो उसी प्रकार गुणादियों से द्रव्यादियों का स्वात्मक सम्बन्ध क्यों नहीं माना जा सकता है? यह सम्बन्ध या तो तादात्म्य सम्बन्ध होगा या स्वरूप सम्बन्ध होगा। यदि यह कहा जाय कि गुणादि रूप से जो वस्तुयें कही गई हैं उनको सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस संयोग को, जो गुण विशेष ही है, सम्बन्ध माना जाता है। अतः तादात्म्य सम्बन्ध से काम चल जाता है, समवाय सम्बन्ध की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस समवाय के खण्डन के द्वारा परमाणु को जगत् का उपादान मानने वाला वैशेषिक सिद्धान्त सर्वथा निरस्त हो जाता है।[1]

बौद्ध-मत निराकरण

विज्ञानवाद :

बौद्धों के चार भेद हैं—यथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक (जिन्हें सर्वास्तित्व-वादी भी कहते हैं, जो बाह्य और आन्तर भेद से उक्त दो प्रकार के माने जाते हैं) योगाचारी (विज्ञानास्तित्व वादी) तथा माध्यमिक (सर्वशून्यत्ववादी)। इनमें से, विस्तार भय के कारण, यहाँ केवल अन्तिम दो–विज्ञानवादी एवं शून्यवादी का ही प्रबलतर होने के कारण प्रधानमल्ल निर्वहणन्याय से खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। विज्ञानवादी बाह्यार्थ का सर्वथा अभाव मानते हैं और केवल विज्ञान (बुद्धि) को ही तत्व मानते हैं। सब व्यवहारों को वे अन्तस्थ (मानसिक) ही सिद्ध करते हैं। प्रमाण स्वरूप उनका मत है कि जैसे स्वप्न में बाह्यार्थ की अपेक्षा न करके केवल बुद्धि से व्यवहार दिखाई देता है वैसे ही जाग्रत् व्यवहार की भी उपपत्ति होगी। अतः विज्ञानवादी संसार को विज्ञानात्मक ही मानते हैं केवल ज्ञान (बुद्धि) से ही उसकी उपलब्धि होती है। ज्ञान से भिन्न बाह्य जगत् की, उनके मत में कोई सत्ता नहीं है। श्री पंचानन जी इसका तीव्र विरोध करते हैं क्योंकि वे तो आद्या जननी के शिशु रूप जगत् को सर्वथा सत् मानते हैं। अतः उनके मत में

१—वही सू० १६।

सृष्टि केवल विज्ञानात्मक हो ही नहीं सकती। इसी आधार पर वे विज्ञानवादियों के स्वप्न दृष्टान्त को सर्वथा असंगत कहते हैं। स्वप्न के समान जगत् की स्थिति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि प्रबोधावस्था में स्वप्नावस्था के व्यवहार का पूर्णतः बाध होता है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में हम जो अनुभव करते हैं उसका स्वप्न में बाध होता है, फिर यह दृष्टान्त कैसे उपपन्न हो सकता है?[1]

वस्तुतः बाह्य संसार की वस्तुयें उस ज्ञान का विषय हैं जो किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। आलय विज्ञान शरीर के भीतर की वृत्ति से ग्रहण किया जाता है किंतु घट पटादि का ज्ञान शरीर से बाहर होता है, क्योंकि वह इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य ज्ञान है, और स्वप्न में दोषजन्य ज्ञान होता है। दोनों में बहुत अन्तर है, प्रथम में प्रमा अनुमिति है द्वितीय में भ्रम है। स्वप्न का ज्ञान, ज्ञान हो सकता है, परन्तु प्रमा (यथार्थ ज्ञान) नहीं। तुलना वहीं होती है जहाँ भिन्नता के साथ कुछ समानता भी हो। वासनामूलकत्व होने से भी समानता नहीं हो सकती, क्योंकि वासना का कारण बाह्य वस्तुयें हैं जिन्हें बौद्ध मानते ही नहीं। जिसकी उपलब्धि ही नहीं होती तो उसकी वासना कैसे होगी, और वासना के अभाव में ज्ञानवैचित्र्य भी उत्पन्न नहीं होगा। वासना को अनादि मानने से भी अप्रतिष्ठित अनवस्था दोष आएगा, क्योंकि घट होने से ही घट का संस्कार होगा और संस्कार होने से ही वासना होगी। इसके अतिरिक्त क्षणिकवाद होने से बीजांकुर न्याय से वासना रहेगी ही नहीं। आलय ज्ञान क्षणिक होता है वासनाजन्य ज्ञान एक ही क्षण में रह नहीं सकता। दोनों का सामानाधिकरण्य न होने से उनका कार्य कारण भाव भी नहीं बन सकता। अतः योगाचार मत (विज्ञानवाद) सर्वथा असिद्ध है।[2] स्वरूपाद्वैतवाद ही सर्वथा युक्तियुक्त है।

शून्यवाद

विज्ञानवाद के सभी दोष शून्यवाद में भी विद्यमान हैं। यह मत प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्वों से शून्य होने के कारण सर्वथा तुच्छ है। यदि प्रमाण ही तुच्छ हो तो तुच्छता से ज्ञान कैसे हो सकता है? इस प्रकार सुगत का यह मत युक्तिरहित और हेय है। यह मत शून्यवाद तक ही सीमित नहीं प्रत्युत जगत् को आकाश में बने गन्धर्वनगर के समान मिथ्या बताता है, जबकि आकाश मिथ्या नहीं है। इसलिये जगत् का आश्रय शून्य होने पर भी जगत्

---

१. शक्तिभाष्य अ० २, पा० २, अधि० ५ सू० २८।

२. वही सू० २९-३१।

का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। किंतु परमार्थ सत्त्व ही है इसी को शून्य कहा जाता है यह अर्थ करने पर भी ठीक नहीं बैठता। क्योंकि तब शून्यत्व केवल वाणी का विषय मात्र ही रह जाता है। परमार्थ सत्ता और शून्य परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। अतः शून्य को परमार्थ सत्ता नहीं माना जा सकता। सुगत का यह मत प्रमाणरहित होने के कारण सर्वथा असमीचीन है।[1]

जैन मत खण्डन

आर्हतों का मत है कि जीव और अजीव ये दो (भिन्न) पदार्थ हैं। इनमें जीव चेतन है और अजीव अचेतन है। जीव तीन प्रकार का है–बद्ध, योगसिद्ध और मुक्त–और वह देह परिमाण वाला है। जगत् निरीश्वर है। अजीव का निर्माण परमाणुओं से होता है। आर्हत मत सम्मत मोक्षोपायों का आश्रय करने से सिद्धि प्राप्त होती है और तब बन्धनों का क्षय होने से 'सततोर्ध्वगमन' को ही मोक्ष कहते हैं। अजीवों के बहुत से भेद हैं। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। जीवात्मा के एक ही शरीर परिमाण में निबद्ध होने से योगी द्वारा बनायी दूसरी देह में जीव नहीं रहेगा। आर्हत सब पदार्थों में 'सप्तभंगीनय' को काम में लाते हैं। वह न्याय इस प्रकार है—(१)स्यादस्ति, (२) स्यान्नास्ति, (३) स्यादस्ति च नास्ति च, (४) स्यादवक्तव्यः, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, (६) स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च, (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च। इस प्रकार स्यात एक है, स्यात अनेक है अथवा स्यात एक और अनेक है, इस सप्तभंगी न्याय से तो वस्तु मात्र का अस्तित्व ही अनिश्चित हो जाता है। 'घट है' इस ऐकान्तिक अस्तित्व के विषय में कभी भी, कैसे भी 'नहीं है' नहीं हो सकता और न ही तृतीय भंग के अनुसार 'है भी और नहीं भी' एक साथ हो सकता है। इसी प्रकार अन्य 'नय' भी युक्तिसंगत नहीं कहे जा सकते। अतः यह मत सर्वथा असम्बद्ध है।[2]

जगत् को निरीश्वर मानना भी ठीक नहीं, यदि एक ईश्वर कृत मानने में दोष दृष्टिगोचर होता तो उसे 'चिदचिद्विशिष्ट' सत्ता कृत मानने से हटाया जा सकता है। जगत् सकर्त्तृक है क्योंकि कार्य से ईश्वर का अनुमान होता है। स्वरूपासिद्धि संज्ञक दोष ठीक नहीं; क्योंकि कार्य अवश्य किसी से उत्पन्न होता है। यदि यह कहो कि जैसे प्रासादादि का निर्माण बहुत से पुरुष मिल कर करते हैं इसी प्रकार एक ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता कैसे हो सकता है, तो

---

१. शक्तिभाष्य अ० २, पा० २, अधि० ६ सू० ३२।

२. शक्तिभाष्य ,, ,, अधि० ७ सू० ३३।

इसके उत्तर में यही कहना है कि बहुत से ईश्वर मिलकर सृष्टि का निर्माण नहीं करते। जैसे एक ही कुम्हार घट का निर्माता होता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। व्याप्ति में बताया गया व्यभिचार यहाँ घटित नहीं होता। 'जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' यहाँ कर्त्ता एक भी हो सकता है और अनेक भी, अतः व्यभिचार नहीं है।[1]

आत्मा को देह परिमाण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य मरने के उपरान्त किसी कर्म विपाक से यदि हाथी का जन्म प्राप्त करे तो उसका आत्मा हाथी के विपुल काय शरीर में व्याप्त न हो सकेगा और पुनः पुत्तिका शरीर प्राप्त करने पर उसके शरीर में समस्त न समाएगा। एक ही आत्मा में विभिन्न परिणाम नहीं हो सकते। बड़े शरीर के लिये अवयव उत्पन्न हो जाते हैं और छोटे के लिये उनका नाश हो जाता है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि अवयवों की वृद्धि और ह्रास से सर्वदा पूर्ण और क्षीण होता हुआ जीव विकारवान् हो जाएगा और विकारवान् होने से उसे अनित्य मानना पड़ेगा। एवं मुक्ति का प्रसंग भी नहीं आएगा। इसके अतिरिक्त नवीन अवयव कहाँ से उत्पन्न होंगे और कहाँ से लीन होंगे, क्योंकि जीव का निर्माण भूतादि उपादानों से तो होता नहीं।[2]

आर्हत मतावलम्बी भी मुक्ति और जीव को नित्य ही मानते हैं। धर्माधर्म-बन्धनरहित का सतत उद्‌र्ध्व गमन ही उनके मत में मोक्ष कहलाता है। ऐसा मोक्ष जीव के कौन से परिमाण में होगा? जीव का स्वाभाविक परिमाण महद् है अथवा अणु, कोई एक तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि दोनों एक साथ रह नहीं सकते। जीव के नित्य होने से वह सावयव भी नहीं हो सकता। निरवयव वस्तु में आगन्तुक अवयवों का सम्बन्ध असम्भव होने से मुक्तावस्था में धर्माधर्म सम्बन्ध का अभाव होगा और अवयवों के आगमन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः मुक्तावस्था का जो स्वाभाविक परिमाण है वही सर्वदा सत्य होने से जीव का देह परिमाण मानना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार जैन मत युक्ति संगत नहीं है।[3]

शांकर-सिद्धान्त : विवर्त्तवाद की समीक्षा

विवर्त्तवाद में चिन्मात्र ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। श्री पंचानन जी श्रुति प्रमाण द्वारा इसका खण्डन करते हैं। वे श्रुतियाँ हैं—

---

१. वही शक्तिभाष्य अ० २, पा० २, अधि० ७, सू० ३३।
२. वही अ० २, पा० २, अधि० ७ सू० ३४, ३५।
३. वही ,, ,, ,, सू० ३६।

'एष भूताधिपतिरेष भूतपालः' (बृह० ४।४) 'भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा' (श्वेता० ५।३) 'पतिं पतीनाम्' (श्वेता० ६।७) एवं परमात्मा को 'पति' शब्द से सम्बोधित किया गया है, और चिन्मात्र ब्रह्म अव्यय, अविकारी होने से सर्वाधिपति नहीं हो सकता, क्योंकि पालनशासनादि पतिकार्य वह नहीं कर सकता। चिन्मात्र मानने से जब कार्य ही सिद्ध नहीं होगा तब उससे सम्बन्धित कारणत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? अतः चिन्मात्र ब्रह्म को जगत् का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं। चिदचिद्विशिष्ट सत्ता ही जगत् का आदि कारण होगी। 'पतित्व' किसी दूसरे की अपेक्षा रखता है, इस प्रकार द्वैत आएगा ही। चिद् के साथ अचिद् सत्ता को भी संश्लिष्ट मानने से ब्रह्मका 'पतित्व' भलीभाँति सिद्ध हो जाएगा।[1]

चिन्मात्र ब्रह्म अपरिणामी होने से भी जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि 'यत्र यत्र कारणत्वं तत्र तत्र परिणाम साहचर्यम्' इस व्याप्ति के आधार पर अपरिणामी ब्रह्म को कारण मानने में दोष आएगा। 'अयस्कान्तमणि' जैसे बिना परिवर्तित हुए भी लोहे को खींचने का कारण होती है, वैसे ही ब्रह्म भी परिणामी हुए बिना जगत् का कारण बन जाएगा, ऐसा यदि कहो तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अयस्कान्तमणि (चुम्बक) भी यद्यपि परिणाम बिना समाकर्षण का हेतु होने पर भी उसकी उत्पत्ति विनाशादि का परिणाम तो सर्वविदित है। अतः वह सर्वथा अपरिणामी नहीं कही जा सकती। सर्वथा अपरिणामी पदार्थ में कारणत्व रह ही नहीं सकता। अतः चिदवच्छेदेन अपरिणामी और अचिदवच्छेदेन परिणामी सत्ता को सृष्टि का हेतु मानना ही युक्तिसंगत है।[2]

यदि प्रपंच को मायाजन्य माने तो ब्रह्म को कारण नहीं मान सकते, क्योंकि मृत् और कुलाल के समान माया और ब्रह्म दोनों कारण नहीं हो सकते। माया की चित् सत्ता से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। अतः सद् ब्रह्म ही कारण हुआ। दूसरे माया का ब्रह्म से भेद है या अभेद अथवा भेदाभेद सम्बन्ध है ? तीनों में से कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इससे माया का ब्रह्मात्मकत्व तो सम्भव नहीं है। मायिक प्रपंच का ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म में विश्वकर्तृत्व का अभाव होने से चिन्मात्र अद्वितीय ब्रह्म में 'विश्वकर्तृनिष्ठ पतित्व' भी सिद्ध नहीं होता। अन्धकार और प्रकाश के समान भ्रम और प्रमा रूप होने से माया और ब्रह्म में भी बाध्य बाधक भाव

---

१. शक्तिभाष्य अ० २, पा० २, अधि० ८, सू० ३७।
२. वही ,, ,, ,, सू० ३७।

होने के कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि माया के द्वारा ब्रह्म कारण होगा तो माया कारण होने पर भी, वह घड़ा बनाते समय मिट्टी की चिकनाहट के समान ही होगी। यदि माया सत् ही है तो ब्रह्म-शक्ति स्वरूपा होने से शक्ति और शक्तिमान् का अभेद वास्तविक है या औपचारिक? यदि वास्तविक है तो माया और ब्रह्म पर्याय शब्द होने से चिन्मात्र अर्थ को ही प्रतिपादित करेंगे, जैसे घट और कलश। यदि औपचारिक अभेद मानो तो अद्वैत भंग हो जाएगा। सदसद्विलक्षण माया अपदार्थ होने से 'स्यादवाद' के समान ही सर्वथा असंगत है।[1]

इस आधार पर यदि यह आक्षेप किया जाए कि परस्पर स्वरूप विरोधी चिदचिद् का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रदीप और घट के समान विभिन्न स्वरूप होने पर भी चिदचिद् में अग्नि और जल जैसा 'असहवृत्तित्वरूप' विरोध नहीं है। ब्रह्म माया का अधिष्ठाता भी नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्म में गुणों का अभाव है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से अप्रत्यक्ष माया में उपादान कारणता वर्णित न होने से माया उपादान कारण भी सिद्ध नहीं होती।[2]

यदि यह कहो कि शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठाता नहीं बन सकता तो मायाधिष्ठित ब्रह्म-ईश्वर तो जगत् का अधीश्वर हो ही सकता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे मायाधिष्ठित जीव करणादि के कारण सुखदुःखादि का भोक्ता होता है उसी प्रकार ईश्वर भी भोक्ता होने से उसका ईश्वरत्व कहाँ रहेगा? इसके अतिरिक्त मायोपाधिक ब्रह्म को ईश्वर कहना भी ठीक नहीं। 'उपाध्युपाधेय' दोनों बाध्य बाधक के समान असम्भव है। माया ब्रह्म के प्रकाश को तिरोहित करती है इससे भी विवर्त्तवाद असमंजस है।

वैष्णवमत निरास

पांचरात्रिक वैष्णव मानते हैं कि भगवान् वासुदेव निरंजन ज्ञानस्वरूप परमार्थ तत्व रूप एक हैं। वह ही वासुदेव व्यूह, संकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह, अनिरुद्ध व्यूह, इन चार व्यूहों में स्थित हैं। इनमें वासुदेव परमात्मा है, संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन है, और अनिरुद्ध अहंकार है। इनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न होता है, संकर्षण से प्रद्युम्न उत्पन्न होता है और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है। श्री पंचानन जी इस उत्पत्ति क्रम का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जीव की उत्पत्ति

१— शक्तिभाष्य अ० २, पा० २, अधि० ८, सू० ३८।
२—वही ,, ,, ,, ,, ,, सू० ३८,३९।

मानना श्रुति विरुद्ध है क्योंकि श्रुति में स्पष्टतः जीव के लिये 'न जायते म्रियते वा' कहा है। एवं जीव की उत्पत्ति मानने से जीव अनित्य हो जाएगा।[1]

उत्पत्ति क्रम में आगे जो जीव से मन की उत्पत्ति कही गई है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि मन तो करण है और जीव कर्त्ता है। कर्त्ता से करण की उत्पत्ति कहीं देखी नहीं जाती। जैसे तक्षा (बढ़ई) कर्त्ता है और कुठारादि उसके करण हैं, तो बढ़ई से कुठार की उत्पत्ति होती आज तक किसी ने नहीं देखी। हाँ, कर्त्ता द्वारा करण में व्यापार (क्रिया) होते सभी देखते हैं। अतः जीव जगत् के व्यापार आदि का कर्त्ता तो है जैसे तक्षा (बढ़ई) छेदनादि क्रिया का होता है। परन्तु जैसे तक्षा (बढ़ई) अपने अंश से कुठारादि को उत्पन्न नहीं कर सकता वैसे ही जीव भी मन को उत्पन्न नहीं कर सकता। श्रुति में भी कहा है—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' अर्थात् परमात्मा से ही मन प्राण आदि की उत्पत्ति होती है न कि जीव से। अतः जीव से मानसादि की उत्पत्ति सर्वथा असंगत एवं श्रुति विरुद्ध है।[2]

यदि ऐसा अभिप्राय हो कि सब वासुदेव ही हैं अर्थात् संकर्षणादि वस्तुतः सब परमात्म स्वरूप ही हैं इससे उत्पत्ति दोष नहीं लगेगा; क्योंकि उत्पत्ति आदि का कथन तो उपाधि सम्बन्ध मात्र से है, तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि उपाधि देह रूप है अथवा अदेह रूप, इस विकल्प का समाधान नहीं किया जा सकता। यदि यह उपाधि देह मानी जाए तो उसे 'जीव', ऐसी सामान्य-संज्ञा नहीं दी जा सकती। देवता, नर, पशु, तिर्यक आदि नाना देहों में अवस्थित जीवात्मा अनेक रूपों में विराजमान है, उसका एक संकर्षण देह ही अधिष्ठान नहीं बन सकता। संकर्षण को देह रूप उपाधि से अधिष्ठाता या अधिपति रूप मानें तो यह भी ठीक नहीं है। जीव रूप से उसका कथन असंगत होगा, अर्थात् यह कथन कि प्रजाओं का अधिपति एवं अधिष्ठाता जैसे राजा होता है वैसे ही संकर्षण भी देव, नर, पशु आदि का अधिष्ठाता और अधिपति मानना चाहिये-यह कथन युक्तिसंगत नहीं हो सकता। क्योंकि राजा और प्रजा का अभेद नहीं होता और न उनमें अभेद का प्रयोग किया जाता है। यदि यह कहें कि आकाश प्राणादि शब्दों का जिस प्रकार ब्रह्म से अभेद प्रयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी मान लिया जाए तो यह भी ठीक नहीं। आकाशादि शब्दों का श्रुति के प्रामाण्य से ब्रह्म-

१— शक्तिभाष्य अ॰ २, पा॰ २, अधि॰ ६ सू॰ ४२।
२—वही, ,, ,, ,, सू॰ ४३।

परत्व माना जाता है किंतु पांचरात्र सिद्धान्त में जीव और परमात्मा का अत्यन्त भेद होने के कारण आकाशादि शब्दों का ब्रह्मपरत्व के समान अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार देह रूप उपाधि मानने का पक्ष निरस्त हो जाता है।

अदेह रूप उपाधि स्वीकार करना भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि उपाधि से अनवच्छिन्न परमात्मा का और जीव का आपके मत में भेद माना जाता है। अतः अभेद कथन असंगत है। इस प्रकार यह पंचरात्र मत भी असंगत ही है।[1]

पाशुपत मत खण्डन

पाशुपत मत में निरपेक्ष पशुपति जगत् का कारण कहा गया है शास्त्र में उपदिष्ट विधि के अनुसार उसकी उपासना करने से दुःखादि समाप्त हो जाते हैं। दुःखों का अन्त दो प्रकार से होता है—निरात्मक और सात्मक। सब दुःखों की पूर्णतः समाप्ति निरात्म दुःखान्त है, और सात्मक दुःखान्त प्रकृष्ट ज्ञान एवं क्रिया शक्ति रूप ऐश्वर्य को प्राप्त करना है। उपासना प्रकार में दीक्षा प्रवेश प्रथम है और कापालव्रत अन्तिम है, जिसकी प्रशस्ति इ सप्रकार गाई गई है—'दीक्षा प्रवेश मात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणात्। कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः'। (श्री भाष्य) शैवागमों में और भी विस्तार से महिमा कही गई है। इस मत में सर्वप्रथम दोष बताते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं कि निरपेक्ष पशुपति को जगत् का कारण मानने से 'वैषम्य' और 'नैर्घृण्य' संज्ञक दोष आवेंगे, क्योंकि निरपेक्ष पशुपति को जीवों के अदृष्ट की सापेक्षता तो रहेगी नहीं। कार्य कारण भाव विभिन्न अधिकरणों में नहीं रह सकता, अर्थात् यह नहीं हो सकता कि अदृष्ट—धर्माधर्म तो जीव में रहें और उसकी अपेक्षा ईश्वर को हो, यह सर्वथा तर्क विरुद्ध है। अतः निरपेक्ष पशुपति जगत् का कारण नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त वर्ण भेद भी, ईश्वर कर्तृक है, ऐसा पंचानन जी मानते हैं। एवं दीक्षा मात्र से ही कोई भी मनुष्य ब्राह्मण हो जाए यह कहीं भी कहा नहीं गया। अतः दीक्षा मात्र से ब्राह्मण होना और कापालक्रिया मात्र से 'यति' होना ये दोनों बातें ही वेद विरुद्ध हैं। अतः पाशुपत मत भी श्रुति विरुद्ध होने से असंगत है और प्रमाणशून्य ही है।[2]

१—शक्तिभाष्य, अ० २, पा० २, अधि० ६, सू० ४४।
२— ,, ,, ,, अधि० १० सू० ४५।

षष्ठ अध्याय

शक्तिभाष्य का आध्यात्मिक सिद्धान्त

शक्ति की कृपा और 'तत्त्वज्ञान' :

महाशक्ति की करुणा ही 'तत्त्वज्ञान' का मूल कारण है। वह करुणा भगवती की उपासना के अधीन है, और उपासना भी उनकी करुणा विशेष का ही फल है। अर्थात् भगवती की कृपा के बिना मनुष्य उपासना में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। श्रुति में भी कहा है :—'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि' (ऋ० देवी सूक्त १०।१२५।५) वह जिसे चाहती है उसी को ऊँचा उठाती है। तात्पर्य यह है कि पूर्व पूर्व करुणा से पर पर उपासना की प्राप्ति एवं तत् तत् उपासना से भगवती की करुणा की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सृष्टि अनादि होने के कारण बीजांकुर न्याय से अनवस्था दोष नहीं आता। उक्त दोनों प्रकार की करुणा के स्वरूप में भेद है, अतः अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं हो सकता है।[1]

उपासना

जिस उपासना से भगवती की करुणा का लाभ प्राप्त होता है प्रथम उसका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है 'उपासात्रैविध्यात्', उपांआसा-वह क्रिया जिससे परमेश्वर के सान्निध्य का लाभ प्राप्त हो। आशय यह है कि माता से दूरस्थ बच्चे के समान साधक पहले भय से चकित-सा होकर, दूर खड़ा रहता है, फिर माता (भगवती) के उप = पास आता है। सामीप्य-सामान्य, विशेषतर और विशेषतम भाव से माता के गर्भ रूप से समीप हो जाना ही चरम उपासना है। इसी आधार पर उपासना तीन प्रकार की कही गई है—(१) ग्राह्यालम्बन, (२) ग्रहणालम्बन, तथा (३) ग्रहीत्रालम्बन। प्रथम स्थूल बाह्य-तेजोरूप तथा मन्त्रमय शब्दात्मक रूप है। द्वितीय चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहणरूप तथा तृतीय जीव द्वारा साकार एवं निराकार ब्रह्म के साक्षात्कार रूप है।

मातृ भाव से इस त्रिविध उपासना को किस प्रकार करना चाहिए, इसे समझाते हुए श्री पंचानन जी कहते हैं कि—(१) तृतीय वर्ष से पंच वर्ष

---

१. शक्तिभाष्य, प्रथम भाग भूमिका, पृष्ठ २।

तक जैसे बच्चा भोजन, पेय, वस्त्रादि का आलम्बन करके रहता है वैसे ही भगवती के ग्राह्य रूप को लेकर उपासना करना 'ग्राह्यालम्बन' उपासना है। इसमें भक्त कामना प्राप्ति की प्रार्थना करता है (२) जन्म से लेकर दो वर्ष तक जैसे बालक दुग्धपानादि करता है और माँ को ही सब कुछ समझता है वैसे ही भक्त भी माता (भगवती) को ही सर्वत्राणमयी जानकर उसी को इन्द्रिय, मन बुद्धि द्वारा दर्शन मनन और आकांक्षा का विषय बनाता है; यही 'ग्रहणालम्बन' उपासना है। (३) जैसे भ्रूण मां से अभिन्न रहता है वैसे ही भक्त जब अपने को माँ से सर्वथा अभिन्न समझता है तब यह 'ग्रहीतालम्बन' उपासना कहलाती है। ग्रहीत—माँ है, उसी का आलम्बन लेना यह उसका शब्दार्थ है। मातृ रूप से अविषय होने पर भी स्वरूप से विषय है, इसी से आलम्बनत्व है। उदाहरणतः जैसे राजा सुरथ को प्रथम प्रकार की उपासना सिद्ध थी। उसे उसके द्वारा प्रार्थित समस्त भोग प्राप्त हुए थे। 'समाधि' को द्वितीय प्रकार की उपासना सिद्ध थी। वह कामनारहित, परम निवृत्ति हेतु ज्ञानमात्र का अनुरागी था। महर्षि वामदेव को तृतीय प्रकार की उपासना (भ्रूण भाव) सिद्ध थी। श्रुति में भी कहा है 'गर्भे नु सन् नन्वेषामवेदमहम्' (ऐ० २ अ०) भ्रूण के समान 'मातृशरणतया' अनन्य दर्शन से ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान का लाभ प्राप्त होता है। अतः यही सर्वोत्तम उपासना है। ये तीनों प्रकार की उपासनाएँ ऐश्वर्य रूप, पुत्री रूप एवं मातृ रूप से पुनः तीन तीन प्रकार की है।[1]

श्री चक्र के उपासकों में 'दिव्य', 'वीर' और 'पशु' भाव से तीन प्रकार की उपासना कही गई है। कुण्डलिनी की उपासना में भी 'कुमारी' 'पतिव्रता' और "योषित्' क्रमशः उपासना की तीन अवस्थाएँ सर्वविदित हैं। उपासना की त्रिविधता के कारण ही उपासकों की भी 'उत्तम', 'मध्य' और 'निम्न' संज्ञक तीन श्रेणियाँ की जाती हैं। इनमें उत्तमाधिकारी के लिए बाह्योपासना सर्वथा निषिद्ध है। मध्यमधिकारी सूर्यादि में मातृभाव से उपासना कर सकता है और निम्नाधिकारी के लिए बाह्योपासना भी ग्राह्य है।

शक्ति कृपा का स्वरूप :

श्री पंचानन जी शक्ति कृपा का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं :—'चिदचिदात्मक शक्तिस्वरूप ब्रह्म तत्त्वोपदेशं प्राप्तवतोऽधिकार विशेषवतः कर्मश्रद्धातिरेक जनित यज्ञसिद्धिस्तदन्तःकरणे धर्माख्यं सात्विकवृत्ति विशेष मादधती

१—शक्तिभाष्य अ०, १, पा० १, सूत्र ३१ पृ० १५२-५४।

तदुपादान भूत प्रकृतौ परिणामभेदमुपजनयति या हि चिदचिदात्मक शक्ति ब्रह्मणः कृपेत्युच्यते' अर्थात् चिदचिदुभयात्मक शक्तिस्वरूप ब्रह्म के तत्त्वोपदेश को जिस अधिकारी विशेष ने प्राप्त कर लिया है, कर्म और श्रद्धा के आधिक्य से उत्पन्न यज्ञ सिद्धि, उस पुरुष के अन्तःकरण में धर्म नामक सात्त्विक वृत्ति-विशेष का आधान करती है; और उस पुरुष के अन्तःकरण की उपादान-भूत प्रकृति में परिणाम विशेष उत्पन्न कर देती है। इसी को चिदचिदात्मक शक्ति स्वरूप ब्रह्म की कृपा कहा जाता है। जैसे शिशु कण्ठ से निःसृत ध्वनिभेद यद्यपि अन्य सामान्य जनों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता तथापि वही वायुमण्डल में वृत्तिविशेष का आधान करता है और जब वह उस शिशु की माता के श्रवणेन्द्रिय गोचर होता है तब उस माता के अन्तःकरण में एक विशेष अन्तर्वृत्ति को उत्पन्न करता है, वैसे ही उपर्युक्त शक्ति की कृपा को भी समझना चाहिए। अथवा जिस प्रकार गहरे अन्धकार से आवृत्त घर के मध्य भाग में प्रदीप्त की जाती हुई दीपशिखा, तत्क्षण अन्धकार की आवरण शक्ति का तिरस्कार कर देती है, ठीक इसी प्रकार चिदचिदात्मक शक्ति-ब्रह्म की कृपा भी तमोगुण की आवरण शक्ति का तिरस्कार कर देती है। तत्पश्चात् शक्ति की वही कृपा ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए उपयोगिनी बन जाती है। यह वृत्ति विशेष ही, अथवा इससे अभिव्यज्यमान निरवसान परमानन्द ही मुक्ति कहा जाता है। इस विषय में जिस प्रकार कर्म और अदृष्ट (धर्माधर्म) में कार्य कारण भाव रहता है और उससे स्वर्ग का फल मिलता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म कृपा और यज्ञादि उपासना इन दोनों में भी कार्य कारण भाव है और दोनों ही अभिव्यक्ति विशेष में परिसमाप्त होते हैं। अतः इन दोनों में परस्पर किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है। अधिकार विशेष के कारण उन योगियों के, जो निर्विशेष अपरिच्छिन्न ब्रह्म का अभेद अपनी आत्मा में देखते हैं, जन्म का भी उच्छेद हो जाता है। ये उत्तमाधिकारी योगी जब श्रवणादि से लेकर निदिध्यासनान्त उपासना विशेष का सेवन करते हैं तब उनके प्रतिबन्धक तिरोहित हो जाते हैं और उन्हें श्रवण मनन निदिध्यासन रूप उपासना से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। संसार के हेतुभूत मोह के निवृत्त हो जाने पर इस अवस्था में अवस्थित योगी को आत्मस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश हो जाता है और इसी को मोक्ष कहते हैं। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे भेषजादि से अन्धेपन के दूर हो जाने पर सूर्य के प्रकाश का दर्शन होने लगता है वैसे ही मोह की निवृत्ति के पश्चात् योगी को भी आत्मस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश का दर्शन होता है। यह प्रकाश ही मोक्ष है।

यह ब्रह्म प्रकाश (मोक्ष) निरतिशयानन्द ब्रह्म से उसी प्रकार भिन्न नहीं है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न वस्तु नहीं होता।[1]

उच्छिन्न जन्मा पुरुष को जब ब्रह्म से अभेद दर्शन हो जाता है तब वही उसकी निरतिशयानन्द स्वरूपता होती है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में दो मार्ग सूचित किये गये हैं। स्वर्ग अथवा शत्रुवधादि कामनाओं से दूषित हृदय वाले पुरुष का कर्म यद्यपि ब्रह्मोपासना रूप ही है किंतु वह 'वर' कर्म नहीं है 'अवर' कर्म ही है। यह भी उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है 'यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते'। भाव यह है कि जो रागपूर्वक कर्म करते हैं उन पर शक्ति की कृपा मोक्षप्रद नहीं होती, अपितु उनके काम्य फलों को देनेवाली होती है। अतः मुण्डक उपनिषद् में कहा है 'तं यथायथोपासते तदेव भवति' (मुण्ड० १।१।७) स्मृति में भी कहा है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता) एवं जो पहले अपरा विद्या को प्राप्त कर लेता है उसी को परा विद्या प्राप्त होती है। इस परा विद्या से जिस पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि शक्ति ब्रह्म है वह 'काली' आदि की दृष्टि से अग्नि में अपरिच्छिन्न भाव से आहुति प्रदान करता है। इससे उसको यज्ञ-सिद्धि प्राप्त होती है और वह पुरुष, ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। काली आदि शरीरावच्छिन्न साकार की उपासना करने वाला साधक भी जब केवल माता की कृपा मात्र का अभिलाषी होता है, अन्य किसी काम्य फल की आकांक्षा नहीं करता तब उसे मोक्ष की ही प्राप्ति होती है। 'काली' आदि नाम ब्रह्म के ही नाम हैं। काली–जो सबके लिये काल स्वरूपा हैउसे श्रुति में कृष्ण वर्णा कहा गया है 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः' (श्वे० ६।२) तथा 'अजामेकाम लोहित शुक्ल कृष्णाम्' इत्यादि। काली शब्द से 'काली तारा' दोनों ही मूर्तियों का यहाँ संग्रह समझना चाहिये।[2]

शक्ति की यह कृपा सत्ता के अचिदंश में ही रहती है न कि चिदंश में, क्योंकि चिदंश तो ज्ञान स्वरूप है और कृपा अचित् का ही एक स्वरूप मात्र है।[3] इसीलिये इन दोनों के फल में भी भेद है। साकार ब्रह्मोपासना रूप शक्ति की कृपा से स्वर्ग अथवा भोग की प्राप्ति होती है। परन्तु चरम ब्रह्म का साक्षात्कार उत्तमाधिकारी को निराकार ज्ञानस्वरूप ब्रह्मोपासना से ही

---

१. शक्तिभाष्य, प्रथम भाग, पा० ४ सू० २८।

२. ,, अ० १, पाद १, सू० ३१।

३. ,, भाग २, अ० ३, पाद ३, अधि० ८, सू० १८।

होता है।[1] इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री पंचानन जी उपासना को प्रमुखता देते हुए भी ज्ञान के महत्त्व को कम नहीं करते। शंकर ने उपासना को 'मानसिक क्रिया' मात्र कहकर मिथ्या माना है और ज्ञान को ही सत् माना है। श्री रामानुज ने उपासना ही को प्रधानता दी है। इस प्रकार श्री पंचानन जी उक्त दोनों मतों का सुन्दर अभिनव समन्वय करते हुए चलते हैं। चिदचिद्विशिष्ट सत्ता मानने से ज्ञान और उपासना दोनों का समन्वय युक्तियुक्त ही है। और इस प्रकार वैष्णव अद्वैतवाद एवं शांकर अद्वैतवाद में दृष्टिगोचर होने वाला उपासना और ज्ञान का विरोध तिरोहित हो जाता है।

निर्माण-काय-सिद्धान्त :

शक्ति भाष्य में ब्रह्म रूप शक्ति साकार और निराकार द्विरूपेण वर्णित है। भक्त पर अनुग्रह का आश्रय करके 'निर्माण काय द्वारा' अर्थात् स्वेच्छया शरीर धारण करने से शक्ति का साकारत्व है। इसी को 'भौतिक गुणक' भी कहा जाता है। वस्तुतः स्व-स्वरूप से तो शक्ति निराकार 'अभौतिक-गुणक' ही है। अतः निराकार ब्रह्म से साकार ब्रह्म का कोई भेद नहीं है, दोनों अभिन्न ही हैं।[2] देवत्व की कामना से जो अपने अभीष्ट रूप के आलम्बन द्वारा 'नीरूप' अथवा मातृभाव द्वारा ब्रह्म की उपासना करते हैं उनको रूप दर्शन के द्वारा अतिशय-चिरकाल तक स्थिर रहने वाली तृप्ति होती है, किंतु उनका मोक्ष नहीं होता। मोक्ष तो कामनारहित होकर ब्रह्म की प्रीतिमात्र के लिये उपासना करने पर, ब्रह्म ज्ञानादि की प्राप्ति के अनन्तर चरम ब्रह्म का साक्षात्कार करने से ही होता है।[3]

अवतारवाद :

चिदचिद्शक्ति ही उपासक और अधिकारी भेद के कारण साधकों पर कृपा करने के लिये निर्माण काय उत्पन्न कर लेती है और इस प्रकार उपासकों के सम्मुख अनेक रूपों में अवतीर्ण और आविर्भूत होती है। शंकर ने कृष्णावतार का वर्णन करते हुए गीता भाष्य के प्रारम्भ में 'स्वमायां वशीकृत्य' इत्यादि कथन के द्वारा इसी अवतारवाद की ओर संकेत किया है। दोनों के ही मत में 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' द्वारा धर्म स्थापनादि प्रयोजन समान ही हैं। अतः अवतारवाद का सिद्धान्त दोनों को मान्य है।

---

१. शक्तिभाष्य प्रथम भाग अ० १, पाद ४, अधि० ८, सू० २८।

२. वही प्रथम भाग भूमिका, पृ० १।

३. वही अ० १, पाद १, सू० ६, पृ० ७६।

प्रतीकोपासना :

शक्ति के उक्त साकारत्व को लेकर ही प्रतीकोपासना प्रचलित हुई। सत्ता चिदचिदात्मक होने से प्रतिमा ब्रह्म (शक्ति) का ही स्वरूप है। अतः प्रतीक के द्वारा भी ब्रह्म की उपासना विधेय है। अधिकारी विशेष से साकार एवं निराकार की उपासना विहित है। इसीलिये सप्तशती में 'समाधि' नामक वैश्य का वृत्तान्त दिया गया है, जो प्रतिमा के द्वारा साकार ब्रह्म की उपासना करके मनोवांछित फल प्राप्त करता है।[1] अतः प्रतीकोपासना को अवतारवाद का ही प्रारम्भिक स्वरूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

जीव का बन्ध एवं मोक्ष :

जैसा कि जीव के प्रकरण में भी कहा जा चुका है जीव वस्तुतः चिद-चिदात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है। अन्तःकरण की उपाधि के कारण ही अपरिच्छिन्न जीव अपने को परिच्छिन्नवत् समझता है और यही उसके बन्धन का मूल कारण है। जैसे सामान्य मिट्टी से घट का भेद होने पर भी घट की मिट्टी घट से अभिन्न ही होती है वैसे ही ब्रह्म और जीव का अभिन्नत्व है। परन्तु अज्ञान से जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है और सुख दुःख का भोक्ता बनता है। अनादि कर्म संस्कारों के कारण जब तक परिच्छिन्न भाव का यह अज्ञान चलता रहता है, तब तक भगवती की कृपा से मोह का नाश नहीं होता, तभी तक आत्मा का जीव भाव बना रहता है। मोह नाश होने पर वह अपने को चिदचिदात्मक अपरिच्छिन्न ब्रह्मस्वरुप ही समझने लगता है।

जीव की यह निवृत्ति दो प्रकार की कही गई है। प्रथम 'द्वेष प्रभवा' और द्वितीय 'महाशक्ति करुणा प्रभवा'। इनमें 'द्वेष प्रभवा' निवृत्ति वास्तविक निवृत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि विषय के प्रति द्वेष भी राग के समान दोष ही कहा जाएगा। यहाँ यह तर्क कि मोक्ष के प्रति जो राग है, जैसे वह दोष नहीं माना जाता वैसे ही विषय के प्रति द्वेष को भी दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि विषय के प्रति द्वेष प्रवृत्ति का कारण नहीं होता, यह ठीक नहीं। क्योंकि मुमुक्षु पुरुष की भी श्रवण मननादि में प्रवृत्ति देखी जाती है। इस दृष्टि से विषय के प्रति द्वेष जिस प्रकार दोष माना जाता है उसी प्रकार मोक्ष के प्रति राग होना भी दोष ही होगा। परन्तु यह दोष महाशक्ति की करुणा का अभाव होने पर ही दोष कहलाता है। भगवती की करुणा होने पर चाहे मोक्ष के प्रति राग हो अथवा विषय के प्रति द्वेष हो, दोनों ही दोष

१—वही अ० ४, पाद १, सू० ४।

नहीं कहे जाते। क्योंकि ये 'राग द्वेष' राजसवृत्ति की वस्तु नहीं हैं, यह दो प्रकार का है—महाशक्ति कहीं सामग्री विघटित (हटा करके) तो कहीं सामग्री घटित (प्रस्तुत करके) राग द्वेष उत्पन्न करती है। इनमें प्रथम प्रकार का 'राग द्वेष' (विघटित सामग्री जन्य) दोष स्वरूप ही है और बन्धन का कारण होता है। परन्तु द्वितीय (घटित सामग्री जन्य) 'राग द्वेष' महाशक्ति का विभूति रूप होने से मोक्ष की प्राप्ति कराता है।[1]

मोक्ष स्वरूप :

स्वरूपाद्वैतवाद में 'परमंसाम्यम्' को ही मोक्ष कहा गया है। भगवती पराशक्ति से मुख्यभावेन एकत्व स्थापित हो जाना ही 'परमसाम्य' है। तात्पर्य यह है कि स्व का 'ब्रह्म स्वरूपत्व' ज्ञान ही अपरिच्छिन्नत्व ज्ञान है। वही ब्रह्मसाक्षात्कार की चरम पूर्णानन्द रूप अवस्था है, और यह तभी सम्भव है, जब मातृभाव से चिदचिदात्मक शक्ति रूप ब्रह्म की उपासना की जाए। इसी से परिच्छिन्नत्व मात्र मोह का नाश हो जाता है और राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। वही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[2]

मोह की निवृत्ति होने पर ब्रह्मभाव स्फुरित होने से कर्मों का नाश हो जाता है, कर्म नाश होने से पुनर्जन्म का अभाव होता है और इस प्रकार मुक्ति रूपी अमृतत्व की प्राप्ति होती है। ससीमता का भाव समाप्त हो जाता है, और जीव, असीम रूप ब्रह्म हो जाता है।

मुक्ति तीन प्रकार की है :

१. जीवन्मुक्ति—यह मुक्ति उन संन्यासियों को प्राप्त होती है जो निदिध्यासन के परिपाक से उत्पन्न महाशक्ति की कृपा का लाभ कर लेते हैं। इस कृपा से निर्विशेष शक्तिस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन्मुक्ति की दशा है। भगवती की कृपा लाभ में संन्यासोचित धर्मों का अनुष्ठान सहकारी कारण का काम करते हैं। गृहस्थियों को भी भगवती की कृपा से निर्विशेष शक्तिस्वरूप का साक्षात्कार होता है। ये गृहस्थी निराकार रूप में अथवा दुर्गादि रूप में मातृभावना के द्वारा अपने में बाल भाव का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार सविशेष उपासना करने वाले ये गृहस्थी भी मन्त्रादि की महिमा से प्रथम सविशेष शक्ति का साक्षात्कार करते हैं और तदनन्तर उसी की कृपा से निर्विशेष शक्ति स्वरूप का साक्षात्कार लाभ करते हैं। वन में निवास करने

१—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग (उपोद्घात), पृ० ७।

२—वही अ० १, पाद १, सू० ७, पृ० ६५।

वाले वानप्रस्थियों तथा ब्रह्मचारियों को भी ब्रह्मसाक्षात्कार का लाभ प्राप्त हो सकता है। वे उपर्युक्त दोनों मार्गों में से किसी एक को ग्रहण करके जब प्रवर्तित होते हैं तब उन्हें जो शक्ति का साक्षात्कार होता है वह जीवन्मुक्ति ही है। संन्यासियों के उक्त निर्विशेष ब्रह्म साक्षात्कार में तथा गृहस्थियों के सविशेष ब्रह्म साक्षात्कार में जो क्रम दिखलाया गया है उसका कहीं कहीं वैपरीत्य भी दिखलाई पड़ता है।

२. कैवल्यमुक्ति—जीवन्मुक्त पुरुष को स्थूल देह के पात हो जाने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है। यह स्थूल देह ससीम होने के कारण उनकी स्मृति को भी ससीम बनाए रखती है। अतः इसके पात होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति के पूर्व न केवल स्थूल देह का पात ही होता है अपितु लिंग देह का भी नाश हो जाता है। यह लिंगदेहनाश या तो स्थूल देह के पात के साथ ही उसी क्षण में हो जाता है अथवा स्थूल देहपात के ठीक अव्यवहित पूर्व क्षण में यह नष्ट हो जाता है। गृहस्थियों की कैवल्य-प्राप्ति में संन्यासियों से इतना ही भेद है कि ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर गृहस्थियों के जो सुकृत दुष्कृत होते रहते हैं उनका दाय अर्थात् अंश उनके सुहृद एवं शत्रुओं को क्रमशः प्राप्त हो जाता है। संन्यासियों का ऐसा कोई 'दाय' नहीं होता, क्योंकि उनके सर्व कर्मों का नाश पहले ही हो चुका होता है।

३. क्रम मुक्ति—यह दो प्रकार की है--(१) मुख्य और (२) गौण। मुख्य क्रम मुक्ति-देवयान मार्ग से जाने वाले पुरुष को प्रथम स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। वहाँ उसे निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और पुनः अपुनरावृत्ति के लिये सत् की सम्प्राप्ति होती है। आधे मार्ग में ही इन लोगों के सुकृत और दुष्कृत का लिंग शरीर से निष्क्रमण हो जाता है और सत्सम्पत्ति से पहले ही लिंग शरीर का नाश हो जाता है। गौणी क्रम मुक्ति—कल्पपर्यन्त ब्रह्मलोक में निवासका नाम ही गौणी मुक्ति है। यही श्रुतिमें प्रदर्शित प्रक्रिया है।

शांकर भाष्य और शक्तिभाष्यानुसार अधिकारी भेद

शंकर ने 'शारीरिक भाष्य' के प्रथम सूत्र में साधन चतुष्टय—(१) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, (२) इस लोक तथा परलोक के विषय भोग में वैराग्य, (३) शम दमादि साधन संपत्ति और (४) मुमुक्षुत्व--सम्पन्न व्यक्ति को ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया गया है। ऐसा अधिकारी संन्यासी ही हो सकता है, क्योंकि शेष तीन आश्रमियों—ब्रह्मचर्याश्रमी, गृहस्थाश्रमी एवं

वानप्रस्थाश्रमी के लिये श्रुति ने 'त्रयो धर्मस्कंधा' (छां० २।२३।१) अर्थात् अध्ययन, यज्ञ दानादि धर्म के तीन स्कन्ध कहे हैं। इन तीनों को पुण्य लोक की प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति में आगे कहा है। परन्तु 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' (छां० ५।१०।१) तथा 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।११) अर्थात् जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं उन ब्रह्मनिष्ठ को अमृतत्व प्राप्त होता है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति (छां० २।२३।१)।[1] अतः श्रुति अन्य तीन आश्रमवासियों के लिये मोक्ष रूप परमपुरुषार्थ का निषेध एवं पुण्यलोक का समर्थन करती है। इसके विपरीत उपर्युक्त साधन चतुष्टय सम्पन्न संन्यासी के लिये मोक्ष की प्राप्ति का विधान करती है, एवं ब्रह्मज्ञान का अधिकारी शंकर के मत में संन्यासी ही है।

'ब्रह्मसंस्थ' का अर्थ है—ब्रह्म में तत्पर हो जाना, अर्थात् अन्य सभी व्यापारों से रहित होकर ब्रह्ममय हो जाना। यह अन्य तीनों आश्रमों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके आश्रम विहित कर्मों के न करने से दोष होता है ऐसा श्रुति कहती है। परन्तु परिव्राजक के सब कर्मों का त्याग होने से, उसको उनके न करने का दोष नहीं प्राप्त हो सकता। शम-दमादि धर्म तो उसकी ब्रह्मनिष्ठता के पोषक हैं, विरोधी नहीं हैं, वे ही उसके आश्रम विहित कर्म हैं। श्रुति भी कहती है 'न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) अर्थात् संन्यास ब्रह्मा है, क्योंकि ब्रह्मा ही श्रुति और स्मृति में श्रेष्ठ है, ब्रह्म अर्थात् संन्यास श्रेष्ठ है। अन्य तप 'अवर' हैं—गौण हैं, संन्यास ही उनमें श्रेष्ठ है। 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः' (मुं० ३।२।६, नारा० १२।३, कैवल्य ३) अर्थात् वेदान्त के विज्ञान का अर्थ (परमात्मा) जिनके चित्त में सुनिश्चित है, और जिनका सत्व संन्यास योग से शुद्ध हुआ है ऐसे जन ही मुक्त होते हैं। इसी प्रकार स्मृति में भी कहा है 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) अर्थात् उस ब्रह्म में ही जिनकी बुद्धि है, वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है, उस परब्रह्म में ही जिनकी निष्ठा है, वही परम गति जिनकी है वे पुनरावृत्तिरहित मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतः इससे सिद्ध है कि संन्यासी ही ब्रह्मज्ञान का एकमात्र अधिकारी है।[2]

श्री पंचानन जी शंकर के उक्त मत का खण्डन करते हुए गृहस्थ को भी ब्रह्म विद्या का अधिकारी मानते हैं। उनके मत में गृहस्थ में रहते हुए भी

---

१. शांकरभाष्य, अ० ३, पाद ४, सू० १८।
२. वही सू० २०।

सर्वथा निःसंग रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं उनका अपना जीवन इसका प्रमाण है, यह तथ्य उनके जीवनी विषयक प्रकरण से ग्रहण किया जा सकता है। वे अधिकारी भेद साधक के सामर्थ्यानुसार करते हैं। उत्तम द्विजाधिकारी को, जो श्रवण निदिध्यासनादि द्वारा उच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर चुका है, वे बिना किसी आश्रम संकोच के ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर, मोक्ष का अधिकारी मानते हैं। यहाँ तक कि इसमें 'स्त्रीत्व' भी बाधक नहीं है। अर्थात् वे स्त्री को भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानते हैं।[1] उनके मत में कर्म और ब्रह्म-ज्ञान में विरोध नहीं है, क्योंकि श्रुति स्वयं उत्तम कर्म करते हुए सौ वर्ष पर्यन्त जीने का आदेश देती है—'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' (ईशा० २) इस दृष्टि से संन्यासी को भी निष्काम कर्म करना चाहिये। ऐसा कर्म बन्धन का हेतु नहीं होगा, प्रत्युत ब्रह्म-विद्या का ही अंग होगा, क्योंकि श्रुति स्वयं 'न कर्मलिप्यते नरे' कहती है। कर्मरहित जीवन तो व्यर्थ है। कर्मनिवृत्त संन्यासी को जीने की कामना भी छोड़ देनी चाहिये, ऐसा श्री पंचानन जी का मत है। संन्यासी के भी वे चार भेद करते हैं—(१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस तथा (४) परम हंस।[2] इससे स्पष्ट है कि शंकर के समान वे संन्यासी के सर्व कर्मों का निषेध नहीं करते। इसीलिये जब उत्तम कर्म करते हुए संन्यासी ब्रह्म-विद्या का अधिकारी हो सकता है तब सर्वथा निःसंग, शमदमादि साधन सम्पत्ति सम्पन्न गृहस्थी भी ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् अवश्य हो सकता है।

गृहस्थ आश्रम का महत्त्व :

शास्त्र यद्यपि चार आश्रम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तथापि श्री पंचानन जी गौतमादि ऋषियों की उक्ति 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' के आधार पर गृहस्थाश्रम को ही अधिक महत्त्व देते हैं। श्रुतिमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' ऐसा जो ब्रह्मचारी के लिये विधान है; ब्रह्मचर्य को गृहस्थाश्रम का ही पूर्वांग मान लेने से उसका विरोध नहीं होगा। इस प्रकार पृथक्‌ः एक आश्रम (ब्रह्मचर्य) मानने की अनिवार्यता भी समाप्त हो जाएगी, क्योंकि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ होने की तैयारी मात्र ही तो है। शंकर की यह शंका कि गृहस्थाश्रम में कर्मकाण्ड करते हुए मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, सर्वथा निर्मूल है; क्योंकि सात्त्विक कर्मों से चित्त की शुद्धि होती है और चित्त शुद्ध होना ही ज्ञान का हेतु कहा गया

१—शक्तिभाष्य, अ० ३, पाद ३, सू० ४३।
२—वही, वही, पा० ४ सू० १७।

है। एक बार ज्ञान उत्पन्न होने पर फिर मोक्ष प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा॥

गीता की इस उक्ति के आधार पर काम्य कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहा गया है और सब कर्मों के फल का त्याग ही वास्तविक त्याग है। यह त्याग गृहस्थाश्रम में भी संभव है। इसके लिये आवश्यक नहीं कि संन्यास ही लिया जाए। अतः गृहस्थाश्रम की चरमावस्था में परिपक्वज्ञान के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

शंकर ने आरण्यवासी के लिये मोक्ष और गृहस्थी के लिये क्रम मुक्ति कही है—'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्च्चिषमभिसंभवन्ति' (छां० ५।२०) तथा 'अथ य इमे इष्टापूर्त्तेदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छां० ५।२०) परन्तु श्री पंचानन जी के मत में इन श्रुतियों में 'उपासना' क्रिया की प्रधानता है। एक में श्रद्धा तप से उपासना कही गई है, दूसरी में इष्ट, आपूर्त्त और दान रूप में उपासना कही गई है। यदि कोई 'गृहस्थाश्रम' में ही श्रद्धा तप से उपासना करे तो उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा, ऐसा उनका दृढ़ सिद्धान्त है। क्योंकि कारण के उपस्थित होने पर कार्य अवश्य होगा। अतः उपर्युक्त श्रुतियों में ग्राम और अरण्य पदों में अरण्य पद का प्राधान्य मानना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि कोई अरण्य में भी 'इष्टापूर्त्तदत्तम्' ऐसी उपासना करेगा तो उसे पुनर्जन्म की प्राप्ति अवश्य होगी, इसे कोई नहीं रोक सकता। इससे स्पष्ट है कि मुक्ति का भेद आश्रमभेद से नहीं है, प्रत्युत उपासना के स्वरूप भेद से है। अतः गृहस्थाश्रम में भी ज्ञान के परिपाक होने से मुक्ति की सिद्धि हो सकती है। मनु द्वारा 'गृहस्थोऽपि हि मुच्यत' स्मरण करने से गृहस्थी के भी 'प्रवृत्ति' एवं 'निवृत्ति' दो धर्म हो जाते हैं। जिनमें अन्तिम का पालन करने से वह भी मुक्ति लाभ कर सकता है।

एकाश्रम मानने से 'भिक्षाचर्य्यांचरन्ति' इस श्रुति का भी बाध नहीं होगा। अन्नादि के प्रति स्वत्वाभिमान त्यागने से वह भिक्षा के समान ही होगा। क्योंकि 'भिक्षाचर्यां चरन्ती' में भिक्षा तुल्य आचरण समझना चाहिये न कि 'भिक्षां चरन्ति' (भिक्षा को ग्रहण करे) ऐसा, दोनों में बहुत अन्तर है। पुत्र के ऐश्वर्य में सुख से रहते हुए स्वत्वाभिमान का त्याग मनुस्मृति में वर्णित है। शंकराचार्य ने भी गृहस्थों के लिए मोक्ष मार्ग का उपदेश देने के

निमित्त ही 'प्रपंचसार' की रचना की है। अतः गृहस्थाश्रम ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण अंगी आश्रम है, ब्रह्मचर्य और संन्यास को क्रमशः उसी के पूर्वाङ्ग एवं उत्तरांग के रूप में ग्रहण करना उचित है, यही पंचानन जी का मत है।

मुक्ति के फल में भी संन्सासी और गृहस्थी का कोई भेद नहीं है। जैसे संन्यासी भ्रूण भाव से उपासना करने पर ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है, वैसे ही गृहस्थी भी महाशक्ति की कृपा प्राप्त करके भ्रूण भावेन उपासना करने से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है। स्वरूपाद्वैतवाद में शंकर के समान सन्यासी के लिये ही मोक्ष नियत नहीं है।[1] प्रत्युत गृहस्थी भी मोक्ष का उतना ही अधिकारी है जितना संन्यासी।

श्रीचक्रोपासना का महत्त्व

श्रीचक्र-स्वरूप :

श्रीचक्र त्रिपुरसुन्दरी का यन्त्र है। त्रिपुरसुन्दरी कामराज विद्यास्वरूपा है, वही ब्रह्म है। सगुण निर्गुण दोनों ही उसके समान रूप हैं। इसी से स्वरूपाद्वैतवाद सार्थक है।[2] यह चक्र नवयोन्यात्मक है जिसमें चार चक्र शिव के तथा पाँच शक्ति के हैं, इसके उपासक 'समयि' कहलाते हैं। शास्त्र में भी कहा है—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पंचभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥
त्वगसृंमांसमेदोऽस्थिधातवः शक्तिमूलकाः।
मज्जा-शुक्र-प्राण-जीव-धातवः शिवमूलकाः॥
नवधातुरयं देहो नवयोनिसमुद्भवः।
दशमी योनिरेकैव परा शक्तिस्तदीश्वरी॥
एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद्वद् ब्रह्माण्डमाबभौ।'

इससे सिद्ध है कि मानव शरीर श्रीचक्र रूप नवधातु युक्त नवयोन्यात्मक है। नवधातुओं में भी पाँच धातुयें—त्वक्, सृङ्, मांस, मेदा एवं अस्थि शक्तिमूलक हैं और चार धातुयें—मज्जा, शुक्र, प्राण, जीव—शिवमूलक हैं। जैसे छब्बीस तत्त्व युक्त श्रीचक्र शिवशक्ति युक्त है वैसे ही सम्पूर्ण अण्ड पिण्ड ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति भी शिवशक्ति के सम्मिलन से होती है।[3] समयिमतानुसार उक्त

१—शक्तिभाष्य, प्रथम भाग 'उपोद्घात', पृष्ठ २,३। तथा
वही , द्वितीय भाग, अ० ३, पा० ४, सम्पूर्ण।
२—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, सू० २, पृ० २०।
३— ,, वही , वही , , सू० ३, पृ० २६।

छब्बीस तत्त्वों में से पंचभूत, पंचतन्मात्रा, दश इन्द्रियाँ और मन, ये इक्कीस तत्त्व 'मायिक' हैं। माया, शुद्धविद्या, महेश्वर, सदाशिव एवं शिव-शक्ति सम्मिलित रूप ये पाँचो शुद्ध तत्त्व हैं।

शरीर में श्रीचक्र की स्थिति :

श्रीचक्र के आधार पर शरीर में भी नवचक्रों का उल्लेख किया जाता है,[1] यथा—(१) आधार चक्र, यह चतुर्दलात्मक है और इसकी कर्णिका त्रिकोणात्मक है। शरीर में गुह्य प्रदेश में स्थित है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र, यह षड्दलात्मक है और इसकी कर्णिका अष्टकोणात्मक है। इसकी स्थिति लिंगमूल में है।

(३) मणिपूरक—यह दशदलात्मक है और इसकी कर्णिका दशकोणात्मक है। इसकी स्थिति नाभिमण्डल में है।

(४) अनाहत चक्र—यह द्वादश दलात्मक है और इसकी कर्णिका भी द्वितीय दश कोणात्मक है। इसकी स्थिति हृदय में है।

(५) विशुद्ध चक्र—यह षोडश दलात्मक है और इसकी कर्णिका चतुर्दश कोणात्मक है। इसकी स्थिति कण्ठ में है। ये पाँचो शक्ति चक्र हैं। इनकी कर्णिका श्रीचक्र की पाँच शक्ति रेखायें हैं। शेष चारो शिव रेखायें दो-दो कर्णिकाओं से युक्त हैं और वे दोनों कर्णिका द्विदलात्मक हैं।

(६) स्वाधिष्ठान चक्र—इसके अन्त में एक वृत्त रुद्र ग्रंथ्यात्मक है।

(७) अनाहत चक्र के अन्त में द्वितीय वृत्त विष्णु ग्रंथ्यात्मक है।

(८) आज्ञा चक्र के अन्त में तृतीय वृत्त ब्रह्म ग्रंथ्यात्मक है। शरीर में इसकी स्थिति भ्रूमध्य है।

(९) सहस्रार चक्र इन सबके ऊपर स्थित है और सहस्रदल कमल कर्णिका युक्त है। चतुर्द्वार युक्त इस कर्णिका के मध्य में 'बैन्दव' स्थान है। शरीर में इसकी स्थिति शिरः—स्थान है।

उक्त विवेचन से श्रीचक्र और शरीरचक्र का ऐक्य सम्पादन होता है। इसी प्रकार मातृकाचक्र का भी इन दोनों चक्रों के साथ ऐक्य पाया जाता है। पंचाशत् मातृका वर्ण, आगम शास्त्र की इस उक्ति 'त्रिखण्डो मातृका मन्त्र सोमसूर्य्यानलात्मकः' के अनुसार अवरोह क्रम से स्थित है। (१) आग्नेय खण्ड मूलाधार एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र द्वयात्मक' है। (२) सौर खण्ड—'मणिपूरानाहतचक्रद्वयात्मक' है। (३) सोम खण्ड—'विशुद्धाज्ञाचक्रद्वयात्मक' है। इन तीनों खण्डों में पंचदशाक्षरी का सन्निवेश है। प्रथम खण्ड में ककार,

१—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, सू० ४, पृ० ४०।

एकार, ईकार तथा लकार हैं, उनके अन्त में 'रुद्रग्रन्थिस्थलीय' माया बीज है। द्वितीय खण्ड में अकार, सकार, हकार, लकार, तथा अंत में 'विष्णुग्रंथिस्थानीय' पुनः माया बीज है। तृतीय खण्ड में सकार, ककार, लकार हैं। उसके ऊपर 'ब्रह्मग्रंथिस्थानीय' अकारादि षोड्श स्वर, ककार लकारादि चतुस्त्रिंशत् व्यंजन मिलकर ही पंचाशत् मातृका वर्ण हैं। तंत्र शास्त्र में दो 'लकार' माने गए हैं, उनमें अन्तिम लकार, हकार के स्थान पर प्रयुक्त होता है।

सहस्त्रदल कमल 'चंद्रकला खण्ड' नाम से कहा जाता है, उसमें एक श्रीबीज है वही त्रिपुरसुन्दरी है। चंद्र की षोडश कलायें प्रसिद्ध हैं और वे 'षोडश नित्या' हैं जो प्रतिपदा आदि तिथियों में क्रम से ध्यान करने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) त्रिपुरसुन्दरी, (२) कामेश्वरी, (३) भगमालिनी, (४) नित्यक्लिन्ना, (५) मेरुण्डा, (६) वह्निवासिनी, (७) महाविधेश्वरी, (८) रौद्री, (९) त्वरिता, (१०) कुलसुन्दरी, (११) नीलपताका, (१२) विजया, (१३) सर्वमंगला, (१४) ज्वाला, (१५) मालिनी, (१६) चिद्रूपा। अंतिम चिद्रूपा कला ही मूलविद्याभूता त्रिपुरसुंदरी है। प्रथम वर्णित त्रिपुरसुन्दरी तो मात्र समनाम्नी है, वह चिद्रूपा नहीं है। शेष 'पंचदशकलात्मक' देवियाँ 'पंचदशाक्षरी' विद्यास्वरूपा हैं। इनकी आज्ञाचक्रस्थ चन्द्र मण्डल में स्थिति है और ये षोड्शदलात्मक विशुद्धचक्र में विहार करती हैं। 'चन्द्रकला खण्डस्थ' चंद्रबिम्ब में केवल 'सादाख्या' कला मात्र वर्तमान है वही त्रिपुरसुन्दरी है। इस प्रकार श्रीचक्र का यह रहस्यपूर्ण ध्यान और साधना साधक को पूर्ण कल्याणकारी है।

समयिमत में नाद से विन्दु का ऐक्य है, विन्दु से कला का ऐक्य है, कला का नाद से ऐक्य है, कला से विन्दु का ऐक्य है, कला से नाद का ऐक्य है और श्रीविद्या से इन पाँचों का ऐक्य है। इस प्रकार के छः प्रकार ऐक्य का अनुसंधान करना ही ज्ञान का परम साधन है।[1]

श्रीचक्रोपासना का अधिकार :

श्रीचक्र की उपासना का अधिकार मनुष्यमात्र को है, परन्तु अधिकारी भेद से उपासना का भेद है। (१) उत्तमाधिकारी ब्राह्मणों के लिये बाह्य पूजा निषिद्ध है। जैसा कि सनत्कुमार संहिता में कहा है—

"बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा क्षुद्रफलदा नृणामैहिकार्थैकसाधनात्।"[2]

१— शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, सू० ४, पृष्ठ ४१-४४।
२— वही , वही वही, वही, पृष्ठ ४५।

अर्थात् बाह्य पूजा क्षुद्र फल देने वाली है और वह केवल ऐहिक अर्थ की ही पूर्त्ति करती है। उससे परमपुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। इसी से उत्त-माधिकारियों के लिए उसका निषेध किया गया है। उनके लिए केवल आन्तरिक उपासना का ही विधान है। किन्तु जो 'कामना-रहित' वैदिक आचार-विचार का पालन करने वाले साधक आन्तरिक साधना करने में असमर्थ होते हैं, उनके लिए बाह्य साधना भी दोषरहित है। ऐसे योगी जन बाह्य पूजा भी कर सकते हैं।[1]

ज्ञानवान् ऋषि को बाह्य पूजा की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य पूजा करते हुए भी योगियों की आन्तरिक पूजा साथ ही चलती है। अतः दोनों में कोई भेद नहीं है।[2] आन्तरिक आराधन में प्राण को ही श्रीचक्र का रूप कहा गया है। प्राण का अर्थ है—'दुर्गा' वही उमा रूप ब्रह्म वाचक, है, 'दुर्गोऽहं शरणं गत'। प्राण में श्रीचक्र की भावना करके अन्तर प्राण में त्रिपुर-सुन्दरी का आराधन करना ही आन्तरिक पूजा है। बहिःपूजन में इसी प्राण का अर्थ प्राणायाम है। आन्तरिक पूजन में अशक्य जनों के लिए इसका विधान है।[3]

(२) मध्यमाधिकारी के लिए बाह्याराधन का विधान है। उसे चाहिए कि 'श्रीगुरु' एवं कुमारि अथवा सधवा की श्रीविद्या रूप से उपासना करे। यह आराधना दुर्गामन्त्र के अतिरिक्त गायत्री मन्त्र द्वारा भी की जा सकती है।[4] इनके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि में श्रीचक्र का आराधन भी मध्यमाधिकारी के लिए श्रेयस्कर है, क्योंकि शास्त्र में 'सोम सूर्यानलात्मक त्रिखण्डे मातृका चक्र कहा गया है। वे ही माहेश्वरी के चरण हैं जो श्रीचक्र का स्वरूप है। इस बाह्य पूजन के साथ साथ आन्तरिक पूजन भी मध्यमा-धिकारी के लिए आवश्यक है।[5]

(३) तृतीय मन्द बुद्धि वाले निम्नाधिकारी के लिए भूमि पर श्री यन्त्र स्थापन कर पूजा करने का विधान है। फिर भी यथाशक्ति आन्तरिक पूजा भी साथ-साथ चलती रहनी चाहिए। इससे ऐहिक सुख की प्राप्ति होती

१—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, सू० १२, पृष्ठ १२०।
२— वही वही वही, सू० २७, पृष्ठ १३६।
३— वही वही वही, सू० २८।
४— वही वही वही, सू० २३, पृ० १२८।
५— वही वही वही, सू० २४, पृ० १३२-३३।

है। श्रीचक्र के उपासक को अन्य किसी यज्ञादि कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। श्रीचक्र का आराधन स्वयं में एक यज्ञ है और वह आनन्द-स्वरूप है।

श्रीचक्रोपासना से मुक्ति :

श्रीचक्रोपासना से प्राप्त मुक्ति पांच प्रकार की कही गयी है—

(१) सार्ष्टि मुक्ति—दशभुजा भगवती श्रीविद्या का मणिपूर चक्र में निदिध्यासनपूर्वक आराधन करने से, देवी प्रसन्न होकर 'सार्ष्टि मुक्ति' देती है। इस मुक्ति की व्याख्या श्री पञ्चानन जी इस प्रकार करते हैं—'सार्ष्टिनाम, देव्या ब्रह्माण्डशिरःस्थ पुरसमीपे पुरान्तरे देवी सेवानन्देनावस्थानम्' अर्थात् देवी के ब्रह्माण्ड शिरस्थपुर के समीप ही स्थित अन्यपुर में देवी की सेवा के आनन्द में अवस्थित रहना ही सार्ष्टिमुक्ति है।

(२) सालोक्य मुक्ति—अनाहत चक्र में संवित्कमल में देवी की उपासना सिद्ध होने से उसकी कृपा से 'सालोक्य मुक्ति' प्राप्त होती है। 'सालोक्य' अर्थात् देवी के 'पत्तने' (शतर में) निवास करना।

(३) सामीप्य मुक्ति—विशुद्ध चक्र में उपासना करने से 'सामीप्य मुक्ति' मिलती है। 'सामीप्य' अर्थात् देवी की अंग सेवा करना।

(४) सारूप्य मुक्ति - आज्ञा चक्र में देवी का ध्यान करने से 'सारूप्य मुक्ति' प्राप्त होती है। समानरूप होने पर भी इसमें अन्तिम 'सायुज्य मुक्ति' के समान 'तदीय' भाव की प्राप्ति नहीं होती। उक्त चारो प्रकार की मुक्तियाँ विषय दुःख की निवृत्ति करती हैं और आनन्द प्रदान करती हैं। परन्तु फिर भी गौण हैं, क्योंकि इन्हें प्राप्त करने के पश्चात् भी पुनरावृत्ति सम्भव है।

(५) सायुज्य मुक्ति—पुनरावृत्ति से रहित, निरतिशयानन्द रूप यह मुक्ति 'सहस्रकमलोपासना' से ही प्राप्त होती है, यही जीवन्मुक्ति है। इस मुक्ति के प्राप्त होने पर देह प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए 'कुलाल चक्र भ्रमिवत्' स्थित रहती है।[१] यह मुक्ति उत्तमाधिकारी को ही प्राप्त होती है। श्रीचक्रोपासक समयिमतावलम्बी साधक का यही चरम लक्ष्य है, यही परम पुरुषार्थ है। भगवती त्रिपरसुन्दरी से 'परमं साम्यं' ही उसका अन्तिम उद्देश्य है। 'समय' शब्द का अर्थ ही है 'समं साम्यं याति प्राप्नोति' इति समयि।[२] स्वरूपाद्वैतवाद में इस प्रकार साधनापक्ष की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है।

१—शक्तिभाष्य, अ० १, पा० १, सू० ४, पृष्ठ ४५।
२— वही वही वही, सू० ६ पृष्ठ ७९।

सप्तम अध्याय

शंकर की तुलना में शक्तिभाष्य का अधिकरण निर्देशपूर्वक व्याख्या भेद

शंकर के 'शारीरिक-भाष्य' से श्री पंचानन कृत 'शक्ति-भाष्य' के अधिकरणों एवं सूत्रों की व्याख्या में पर्याप्त भेद है। यह भेद केवल अधिकरण के नाम एवं संख्या मात्र का ही नहीं है, प्रत्युत विषय, श्रुति एवं सूत्रों के व्याख्यागत भी है। यहाँ इस भेद को अधिकरणों के क्रम से स्पष्ट किया जा रहा है—

अधिकरण १— शंकर ने इस अधिकरण को 'जिज्ञासाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा उसमें ब्रह्म-विद्या के अधिकारी, साधन चतुष्टय, ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता आदि विषयों का विवेचन किया है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र का अर्थ 'साधन चतुष्टय के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये' किया है तथा प्रमाणस्वरूप छां० ८।१।६, तैत्ति० २।१ तथा ३।१ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इसी को 'प्रतिज्ञाधिकरण' की संज्ञा दी है और उसमें पूर्व और उत्तर मीमांसा की संगति, ब्रह्म निरूपण प्रतिज्ञा एवं उसके अभिधेय प्रयोजनादि का विवरण प्रस्तुत किया है। सूत्र के 'अथ' पद का अर्थ 'पूर्व मीमांसा के अध्ययन के पश्चात् उत्तर मीमांसा पढ़ो' किया है। प्रमाण स्वरूप बृ० ३।८।१० श्रुति उद्धृत की है।

अधि० २—शंकर ने 'जन्माद्यधिकरण' नाम दिया है। इसमें 'स्वभाववाद' का निरसन एवं श्रुति प्रमाण द्वारा 'ब्रह्म कारणवाद' की स्थापना की है। 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र का अर्थ 'जिससे इस जगत् का जन्मादि होता है, वह ब्रह्म है' किया है प्रमाण स्वरूप तै० ३-१, बृ० २।४।५, छां० ६।१४।२, तै० ३।६ आदि श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इसे 'आद्यजन्माधिकरण' कहा है। परमात्मा ही ब्रह्म पदार्थ है, 'शक्ति' उसी का नामान्तर मात्र है, ब्रह्म का लक्षण-आद्य (ब्रह्मा) का उपादानत्व है। विवर्त्तवाद का संक्षेप में निरास एवं 'समयि' मत में 'ब्रह्म का लक्षण' निरूपित किया गया है। सूत्र का अर्थ 'जिससे आद्य का जन्म होता है वही ब्रह्म है' किया है तथा प्रमाण स्वरूप कठ० १।२।२४, बृ० १।४। ११, तै० ३।१, श्वे० १।३, माण्डू० ७, मुण्ड० २।२।३, १।१।१, श्वे० ४।१२,

बृ० ४।४।२३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने एक ही नाम 'शास्त्रयोनित्वाधिकरण' दिया है किंतु विषय प्रतिपादन भिन्न-भिन्न है। शंकर ने इस अधिकरण में सर्वज्ञ ब्रह्म से शास्त्रों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म सर्वज्ञ है क्योंकि वह शास्त्रों का मूल है' किया है तथा प्रमाण स्वरूप बृ० २।४।१० श्रुति उद्धृत की है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में ब्रह्म के चेतनत्व का प्रतिपादन करने के साथ साथ 'समयि मत' सम्मत प्रमाण प्रदर्शित किया है। सूत्र का अर्थ 'चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण है, शास्त्र इसका प्रमांण है' किया है तथा प्रमाणस्वरूप ऋग्वेद देवी सूक्त का पंचम मन्त्र उद्धृत किया है।

अधि० ४—नाम दोनों आचार्यों ने 'समन्वयाधिकरण' दिया है परन्तु विषय एवं श्रुतिगत भेद है। शंकर ने इस अधिकरण में—ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्र प्रामाण्य, मोक्ष उत्पाद्य नहीं है, ज्ञान क्रिया स्वरूप नहीं है, ब्रह्मज्ञान के पश्चात् कर्तव्य नहीं रहता, मीमांसकों का खण्डन आदि विषयों का विवेचन किया है। 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र का अर्थ 'वह ब्रह्म शास्त्रगम्य है क्योंकि ब्रह्म ही में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य है' किया है तथा प्रमाणस्वरूप छां० २।१, ६।८।९, ८।७।१, २।१०।५, ८।१२।१, ७।१।३, ७।२६।२, ५।७।१, ५।८।१, ६।८।७, ४।३।१, ३।१९।१, ३।१८।१, ऐत० २।४।१।१, बृह० २।५।१६, २।४।१३, २।४।५, १।४।७, १।४।१५, ४।३।१५, ४।२।४, १।४।१०, ३।१।६, १४।१०, २।४।६, ४।५।१५, २।५।१९, ४।४।१२, ३।६।२६, ४।४।७, मुण्ड० २।२।११, ३।२।६, २।२।१, २।२।८, २।२।२८, ३।।१ काठ० १।२।२१, १।३।४, १।३।११, कठ० २।१५, तै० २।६, ईश० ७,८, श्वे० ६।११, प्र० ६।८, केन० १।३, १।४, २।३ आदि श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में नित्य सम्बद्ध चिदचिदुभयात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन, चिन्मात्र ब्रह्म का खण्डन तथा चिदचिदात्मक ब्रह्म का समर्थन, अद्वैत श्रुतियों की सार्थकता, श्रीचक्र का विवरण एवं उसकी उपासना के विधानादि विषयों की व्याख्या की है। सूत्र का अर्थ 'आद्य का उपादान कारण चित् अचित् का नित्य समन्वय ही ब्रह्म है' किया है। प्रमाणस्वरूप मुण्ड० ३।१।३, श्वे० २।६, १।८, ६।८, बृह० २।३, १।१०, ऋ० ८।७।१७ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ५—नाम दोनों आचार्यों ने एक ही 'ईक्षत्यधिकरण' दिया है। शंकर ने इस अधिकरण में ५ से ११ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है

और उसमें 'प्रधान कारणवाद' का खण्डन किया है। 'ईक्षतेर्नाशब्द' सूत्र का अर्थ 'शब्द से प्रतिपादन न करने योग्य प्रधान जगत् का कारण नहीं है ईक्षण का निर्देश होने से' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ६।२।१, ६।२।३, ६।२।४, प्र० ६।३,४, मुण्ड० १।१।६, श्वे० ६।८,३।१६; बृ० ३।७।२३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ६)—'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' सूत्र का अर्थ 'आत्म शब्द होने से इक्षति शब्द गौण नहीं है' किया है तथा प्रमाणस्वरूप छां० १०।२।१, ६।२, ६।२।३, ६।८।७ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ७)—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म में निष्ठा वाले को मोक्ष का उपदेश है' किया है और प्रमाण में छां० ६।८।७, ६।१४।२, ६।१६।६ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ८)—'हेयत्वावचनात्' सूत्र का अर्थ 'सत् शब्द से प्रधान का ग्रहण नहीं हो सकता' किया है। छां० ६।१।२,३,४,६ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ९)—'स्वाप्ययात्' सूत्र का अर्थ 'सुषुप्ति काल में जीव के लय होने से सत् शब्द प्रधानवाचक नहीं है' किया है। छां०६।८।१, ६।२।३, ६।८।३,५ बृह० ४।३।२१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १०)—'गतिसामान्यात्' सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म में सर्व वेदान्तों के तात्पर्य की समानता से ब्रह्म ही जगत् का कारण है प्रधान नहीं' किया है। कौशी० ३।३, तैत्ति० २।१, छां० ७।२६।१, प्र० ३।३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ११)—'श्रुतत्वाच्च' सूत्र का अर्थ 'श्रुति में कथन होने से ब्रह्म ही जगत् का कारण है' किया है, प्रमाणस्वरूप श्वे० ६।९ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ५ में श्री पंचानन जी ने ५ से ८ संख्यक सूत्र सम्मिलित किये हैं और उसमें शाक्तवाद की प्रमाणिकता, श्रुति स्मृति के प्रमाण, शक्ति के ब्रह्मत्व में लिंगभेद का विचार, श्रीचक्रोपासक-समयि मत की श्रुति प्रमाणिकता सांख्यमत में युक्तियों का प्रदर्शन और उनका खण्डन आदि विषयों पर विचार किया गया है। सूत्र ५ का अर्थ 'दर्शनार्थक धातु घटित श्रुतियां शब्द प्रमाण से रहित नहीं हैं' किया है, और वे श्रुतियां हैं—छां० ६।२।७, ६।२, ८।३, श्वे० १।१, १।३; तै० २।६।

सूत्र ६ का अर्थ 'आत्म शब्द होने से ब्रह्म का उभयात्मकत्व गौण नहीं है, शक्ति पदार्थ भी गौण नहीं है' किया है। श्रुति वही (श्वे० १।३) उद्धृत की है।

सूत्र ७ का अर्थ 'तादात्म्य तो चेतन से ही संभव है' किया है। प्रमाण-स्वरूप छां० ४।५।४, ६।१४ ; श्वे० १।६ ; कठ० १।३।११ ; मुण्ड० १।१।७; ते० २।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र ८ का अर्थ 'अचिन्मात्र, अकथनीय होने से जगत् का कारण नहीं हो सकता' किया है। प्रमाणस्वरूप 'तत् सत्यं स आत्मा' श्रुति उद्धृत की है।

सूत्र ९ से ११ को श्री पंचानन जी ने 'स्वाप्ययाधिकरण' की संज्ञा दी है। यहीं से अधिकरण की संख्या में भेद प्रारंभ हो जाता है। सूत्र ९ का अर्थ 'संप्रसाद श्रुति छां० ८।३।४ में वर्णित ब्रह्म का विचार' किया है। प्रमाण-स्वरूप छां० ३।३।३८, ८।१।२, ८।६, ६।८, ३।१।१ ; श्वे० ६।८, १।४ , बृ० ४।४।१ ; कठ० २।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र १० का अर्थ 'शक्ति का उभयत्व ही युक्तियुक्त है' किया है। प्रमाण-स्वरूप छां० ८।३ ; बृ० ५।३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र ११ का अर्थ 'श्रुति भी इसका समर्थन करती है' किया है। प्रमाण-स्वरूप केन० ३।१२ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने इसे 'आनन्दमयाधिकरण' कहा है। परन्तु संख्या में भेद है। शंकर इसे छठा अधिकरण मानते हैं, श्री पंचानन जी सप्तम। शंकर ने इस अधिकरण में सोपाधिक और निरूपाधिक ब्रह्म का निरूपण, आनन्दमय शब्द से ब्रह्म ही निर्दिष्ट है आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र १२)–'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र का अर्थ 'श्रुति में बार बार कथन होने से आनन्दमय ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २।१।५, २।५,६,७,८,९, ३।६; बृ० ३।९।२८ श्रतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १३)–'विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' सूत्र का अर्थ 'विकार शब्द बहुवाचक होने से आनन्दमय अर्थ का ही द्योतक है' किया है। प्रमाण-स्वरूप तैत्ति० २।८ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १४)–'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' सूत्र का अर्थ 'हेतु कथन से भी आनन्द-मय ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २।७ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १५)–'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' सूत्र का अर्थ 'मन्त्रों से कहे हुए ब्रह्म को ही श्रति में कहा गया है' किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २ १, २।५, ३।६ उद्धृत की हैं।

(सूत्र १६)–'नेतरोऽनुपपत्तेः' सूत्र का अर्थ 'उपपत्ति न होने से ब्रह्म से इतर जीव आनन्दमय नहीं है' किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २।६ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १७)–'भेदव्यपदेशाच्च' सूत्र का अर्थ 'भेद के कथन से भी जीव आनन्दमय नहीं है' किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २।७; बृ० ३।७।२३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १८)–'कामाच्च नानुमानापेक्षा' सूत्र का अर्थ 'इच्छापूर्वक सृष्टि होने से प्रधान की यहां अपेक्षा नहीं है' किया है। प्रमाणस्वरूप–'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १९)–'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' सूत्र का अर्थ 'आनन्दमय ब्रह्म में ही ब्रह्म-भाव की प्राप्ति का श्रुति उपदेश करती है' किया है। प्रमाण स्वरूप–तै० २।७, २।१,२,३,४,५,६–९,३।६; बृह० ४।३।११, ३।९, श्वे० ६।११; छां० ७।२४।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

उक्त अधिकरण में श्री पंचानन जी ने शंकर के छठे अधिकरण के समान १२-१९ तक के सूत्र रखे हैं और इनमें निराकार ब्रह्म के स्वरूप कथन एवं उसके आनन्दमयत्व का प्रतिपादन किया है। श्रीचक्र पक्ष में मोक्ष का स्वरूप वर्णित है।

सूत्र १२ की व्याख्या इन्होंने इस प्रकार की है 'आनन्दवाचक शब्द के द्वारा पुनः पुनः निराकार ब्रह्म का ही कथन है'। प्रमाणस्वरूप 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' 'सैवानन्दस्य मीमांसा भवति' 'एतयात्मानमानन्दमयमुपसंक्रम्य' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र १३ का अर्थ शंकर जैसा ही किया है, किंतु श्रुतिभेद है। तै० २।८, बृ० ४।३।३२, १।४।२ उद्धृत की हैं।

सूत्र १४ का अर्थ 'मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ का ही द्योतक है क्योंकि श्रुति में वही हेतु कहा गया है' किया है।

सूत्र १५ का अर्थ 'मन्त्र द्वारा आनन्दमय के चिदचिदात्मकत्व का ही कथन है' किया है। वे मन्त्र हैं 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'तदेषाभ्युक्ता', 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'।

सूत्र १६ का अर्थ 'ब्रह्म के अतिरिक्त प्राणमयादि आनन्दमय नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती' किया है। 'अन्न प्राण मनोविज्ञानानन्दानाम्' में आनन्द अन्तिम है।

सूत्र १७ का अर्थ 'भेद का कथन होने से भी आनन्दमय से अतिरिक्त विज्ञानमयादि ब्रह्म नहीं है' किया है। प्रमाण स्वरूप—'अपाम सोममृता अभूम' आनन्द रूपममृतं यद्विभाति' 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

सूत्र १८ का अर्थ 'कामना श्रुति होने से प्रधान का ब्रह्मत्व, चिदचिदात्मक ब्रह्म में बाधित होने के कारण यहाँ अपेक्षित नहीं है' किया है। वह श्रुति है तै० २।२, २।६।

सूत्र १९ का अर्थ 'चिदचिदात्मक ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहा गया है, जड़ प्रकृति नहीं, किया है। प्रमाणस्वरूप तै० २।१, ३।४, ३।३, ३।५,२।५; छां० १।१, ४।१० ३।१८, ८।५, ८।३।४, ७।७, केन० १, ऐ० ३।२, बृ०५।३, ३।६।२८ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'अन्तरधिकरण' नाम दिया है। परन्तु संख्या में भेद है। शंकर इसे सप्तम अधिकरण मानते हैं, श्री पंचानन जी अष्टम। प्रथम ने इसमें 'आदित्य मण्डल आदि में स्थित पुरुष ब्रह्म ही है' इस विषय का निरूपण किया है। 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म के धर्म का उपदेश होने से आदित्य और चक्षु के मध्य में ब्रह्म का ही उपदेश है' किया है। छां० १।६।६,७,८ १।७।५,६, १।१४।२, ७।२४।१, कौशी० १।३।१५, बृ०४।४।२२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं। 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' सूत्र का अर्थ अन्य श्रुति में सूर्य और परमात्मा के भेद कथन से सूर्य ब्रह्म से भिन्न है' किया है। वह श्रुति है—बृ० ३।७।९.

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में 'हिरण्यमयादित्यस्थ' पुरुष को ही 'उमा' की सज्ञा दी है और उमा के जीवत्व का निषेध किया है। समयि मत में उत्तमाधिकारी के लिये बाह्य पूजा का निषेध एवं अन्तःपूजा का समर्थन किया है। उक्त दोनों सूत्रों का अर्थ क्रमशः 'अन्तःवाचक श्रुति पुरुष प्रतिपादक है', 'पुरुष ही उमा है' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० १।४।८, १।६।१, ८।७।१, मुण्ड० २।२।६, ३।१, बृ० ४।६।२८ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ८— दोनों आचार्यों ने 'आकाशाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का उक्त भेद यहाँ भी वर्तमान है। छान्दोग्य (१।६।१) में 'आकाश' शब्द ब्रह्म के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, इसमें दोनों आचार्य एक मत हैं। श्री पंचानन जी इस अधिकरण में श्रीचक्र में बाह्य पूजा का अधिकारी तथा पूजाधार का भी निरूपण करते हैं। सूत्र 'आकाशस्तल्लिंगात्' का अर्थ समान है। किंतु श्रुति का भेद है। शंकर ने इसमें छां० १।६।१.२, ८।१४, ३।१४।३,

४।१०।५, तै० २।७, २।१, ३।६ बृ० ३।६,२८, ऋ० १।१६४।३९ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। श्री पंचानन जी ने के० ३।१२, कठ० १।२।२२, बृ० ३।७।१२, छां० ३।१७।७. श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ९—दोनों आचार्यों ने 'प्राणाधिकरण' संज्ञा दी है। परन्तु संख्या का उक्त भेद यहाँ भी वर्त्तमान है। शंकर ने छान्दोग्य (१।११।४) में वर्णित 'प्राण' शब्द को ब्रह्मपरक माना है। श्री पंचानन जी ने बृह० (१।३।१ से ६) श्रुति को प्राण श्रुति कहा है। श्रुति के भेद को छोड़ कर सूत्रार्थ दोनों आचार्यों का समान हैं। श्री पंचानन जी ने साकारोपासना में दुर्गा ब्रह्म ही है—उक्त श्रुति से यह विशेष अर्थ निकाला है। इसके अतिरिक्त श्रीचक्र में पूजाधार का विशेष कथन है।

अधि० १०—शंकर ने इस अधिकरण का नाम 'ज्योतिरधिकरण' रक्खा है तथा इसमें छान्दोग्य (३।१७।७) का 'ज्योति' शब्द ब्रह्मवाचक एवं गायत्री शब्द भी ब्रह्मवाचक कहा गया है। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' सूत्र का अर्थ 'पाद के कथन से ज्योति ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ३।१३।७, ६।३।३, ३।१२।६, ३।१२।१, बृ० ४।४।२४, ४।४।१६, ४।३।५, ५।५।३, कौ० २।५।१५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २५)—'छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम्' सूत्र का अर्थ छन्द के कथन से ब्रह्म का कथन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, कहना ठीक नहीं क्योंकि छन्द के द्वारा चित्त के समाधान कथन से वैसा ही श्रुति वाक्य है, किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ३।१२।१, ३।१२।७, ३।११।३, ३।१४।१, ४।३।८ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २६)--'भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्' सूत्र का अर्थ 'भूतादि रूप अवयवों के कथन का ब्रह्म में ही संभव होने से गायत्री शब्द द्वारा ब्रह्म ही कहा गया है' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ३।१२।५, ३।१२।७, ३।१३।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २७) 'उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्' सूत्र का अर्थ 'उपदेश भेद होने पर भी दोनों में विरोध न होने से ब्रह्म का ज्ञान होता है' किया है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'गायत्र्यधिकरण' कहा है। 'गायत्री वा इदं सर्वं' इस श्रुति से गायत्री को ब्रह्म प्रतिपादित किया गया है तथा दुर्गा मन्त्र के समान उपासना में गायत्री मन्त्र की महत्ता भी स्वीकार

की गई है। सूर्य चन्द्र अग्नि आदि में श्रीचक्र की आराधना करना मध्यमाधिकारी को विधेय है। सूत्र २४ का अर्थ 'छां० ३।१२।१ में वर्णित गायत्री पद ज्योति-भर्गमयी होने से ब्रह्मपरक ही है' किया है। प्रमाणस्वरूप बृ० ५।१५, ५।१४; छां० ३।१२।५, ६।५।४, ३।१८।२, ५।१०, मुण्ड० १।२ श्रुतियां उद्धृत की हैं। सूत्र २५ का अर्थ 'शंकर के समान ही किया है। सूत्र २६ का अर्थ' ब्रह्म भी चतुष्पाद है गायत्री भी, एवं समान संख्या होने से गायत्री भी ब्रह्मपरक है' किया है। बृ० ५।२४ श्रुति उद्धृत की है। सूत्र २७ का अर्थ शंकर के समान ही किया है। बृ० ३।६।४ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ११–शंकर ने इसे 'प्रतर्दनाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें कौ० (३।१) श्रुति में वर्णित प्राण शब्द ब्रह्म वाचक ही है, इसकी व्याख्या की है। 'प्राणस्तथानुगमात्' सूत्र का अर्थ 'समन्वय से प्राण ही परमात्मा है' किया है। प्रमाणस्वरूप कौ०३।१।२।३।, ३।८, ३।१; श्वे० ३।८; मु० २।२।८ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र २९)–'न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' सूत्र का अर्थ 'शरीर का उपदेश होने से प्राण शब्द का वाच्य ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता' किया है। बृ० ३।८।८, २।५।१६, कौ० ३।२,३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३०)—'शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' का अर्थ वामदेव के समान शास्त्र दृष्टि से भी इन्द्र ने उपदेश किया है।' बृ० १।४।१० श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ३१)—'जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' सूत्र का अर्थ उपासना की त्रिविधता होने से, जीव और मुख्य प्राण के आश्रित होने से तथा जीव और मुख्य प्राण के लिंग से कौ० १।३ श्रुति में ब्रह्म का ही कथन है' किया है। प्रमाणस्वरूप प्र० २।३, कौ० ३।४, काठ० २।५।५, के० १।४, छां० ३।१४।२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'अनुगमाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा उसमें 'प्राणो वै बलमिति' श्रुति के अनुसार प्राण ब्रह्मपरत्व है, गायत्री ब्रह्म का तात्पर्य, त्रिविध-मातृ उपासना-मातृभाव, दुहितृ भावादि से उपासना-आदि विषयों का समावेश किया है। सूत्र २८ का अर्थ 'बृ० ५।१४।४ श्रुति में वर्णित प्राण शब्द इन्द्रियपरक नहीं, ब्रह्मपरक ही है' किया है। सूत्र २९ का अर्थ 'ब्रह्म ही जीव रूप से शरीर में रहता है अतः जनक का वुड़िल के

प्रति भूमा-तुरीय-शब्द से उसी का उपदेश है।' बृ० ५।१४।८ १।२।७, ५।१४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं। सूत्र ३० का अर्थ वामदेव ने गर्भ में ही 'अहं मनु अहं सूर्यं केवल अपने को ही सर्वात्मभाव से देखकर कहा था वैसे ही जनक ने भी उपदेश किया है' छां० ३।१८, प्र० २, श्वे० ४।२ श्रुतियां उद्धृत हैं। सूत्र ३१ का अर्थ 'तुरीय' पद मुख्य प्राण और लिंग का ज्ञापक होने से जीवपरक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता'। उपासना तीन प्रकार की ही है।' प्र० २, ऐ० २, बृ० ४।४।२२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अध्याय प्रथम पाद में शंकर ने जहाँ ११ अधिकरण किये हैं वहाँ श्री पंचानन जी ने उनकी संख्या १२ स्वीकार की है।

पाद द्वितीय :

अधिकरण १—शंकर ने इसे 'सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरण' संज्ञा दी है एवं छान्दोग्य ३।१४।१, २ में कही हुई उपासना ब्रह्म ही की है, जीव के लक्षण ब्रह्म के लक्षण से मिलते हैं, आदि विषय निरूपित किये हैं। 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' सूत्र का अर्थ 'वेदान्त वाक्यों में प्रसिद्ध ब्रह्म के उपदेश से छां० ३।१४।१,२ श्रुति में भी ब्रह्म का ही कथन है' किया है।

(सूत्र २) 'विवक्षित गुणोपपत्तेश्च' सूत्र का अर्थ 'कथन योग्य गुणों की ब्रह्म में संगति होने से उसी का उपास्य रूप से कथन है' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ८।७।१, श्वे० ४।३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३)—'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' का अर्थ 'सत्य संकल्पत्व आदि गुणों की जीव में असिद्धि होने से जीव उपास्य नहीं है' किया है। 'ज्यायान पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ४)—'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' सूत्र का अर्थ 'कर्म और कर्त्ता के कथन से भी जीव मनोमयत्व धर्मवान् है' किया है। प्रमाणस्वरूप छां० ३।१४।४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ५)—'शब्द विशेषात्' का अर्थ 'शब्द के विशेष से भी मनोमयत्व आदि गुणों वाला ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाणस्वरूप श० ब्र० १०।६।३।२ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ६)—'स्मृतेश्च' स्मृति में भी ब्रह्म का ही कथन है। गीता १८।६१.

(सूत्र ७)—'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चैन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' का अर्थ 'हृदय रूप अल्पस्थान में रहने से तथा उसकी सूक्ष्मता के

कथन से यहाँ जीव का नहीं ब्रह्म का ही कथन है क्योंकि ब्रह्म ही देखने योग्य एवं आकाशवत् सर्वव्यापी है' किया है। 'एष य आत्मान्तर्हृदये' 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' आदि श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ८)—'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' का अर्थ 'भेद होने से ब्रह्म को भी जीव के समान सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होगी' किया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा बृ० ३।७।२३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'उमाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा उसमें उमा और प्रणव शब्द का एकत्व, उमोपासना में स्पष्ट विधि का कथन, श्री चक्रोपासक कौल और समयि मतावलम्बियों में भेद आदि का निर्वचन किया है। सूत्र १ का अर्थ 'सब श्रुति-स्मृतियों में उपासना विधि' 'अ-उ-म' इन तीन वर्णों के ही आश्रित होने से ये ही ब्रह्म हैं' किया है। प्रमाण स्वरूप केन० ४।४।६; बृ० ५।७; छां० ६।८; ऐ० ३।१।२, ३।२ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र २—का अर्थ श्रुति में ब्रह्म के विवक्षित गुणों की उमा में भी उपपत्ति होने से उमा ब्रह्म ही' किया है। छां० ३।१४ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र ३-' का अर्थ शंकर के समान ही है। सूत्र ४ में श्रुतिभेद है—कठ० १।२।२२ उद्धृत की है।

सूत्र ५ का अर्थ 'श्रुति वाक्यों द्वारा मातृभाव की उपासना ही विवक्षित है।' किया है। छां० ५।२४; श्वे० ३।२७; बृ० ४।४ श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र ६ का अर्थ 'स्मृति में भी मातृभाव की उपासना का कथन है' किया है। 'प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य' 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता' 'सैव सर्वेश्वरी' (सप्तशती) उद्धृत हैं।

सूत्र ७ का अर्थ 'शिशु देह के आश्रित होने से उमा ब्रह्म नहीं, कहना ठीक नहीं क्योंकि वह व्योम संज्ञावान् भी है' किया है। प्र० ६।५ तथा 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० २—शंकर ने इसे 'अत्ताधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें कठोपनिषद् १।२।२४ में वर्णित भक्षणकर्त्ता ब्रह्म ही है' वर्णित किया है। 'अत्ता चराचरग्रहणात्' सूत्र का अर्थ 'चराचर के ग्रहण होने से भक्षणकर्त्ता ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाण स्वरूप क० १।२।२५, बृ० १।४।६ मु० ३।१।१ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। 'प्रकरणाच्च' सूत्र का अर्थ 'प्रकरण से भी ब्रह्म ही भक्षक है' किया है। कठ० १।२।१८ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'अत्ताधिकरण' की संज्ञा दी है तथा उसमें 'अत्ता विश्वस्य सत् पति' मन्त्र के द्वारा ब्रह्म का मातृत्व प्रतिपादित किया है और इसी भाव से उपासना का वर्णन है। सूत्र ९ का अर्थ 'प्र० २।११ के अनुसार चराचर का ग्रहण होने से अत्ता पद माता वाचक है क्योंकि वही पालनकर्त्री है' किया है। प्र० २।१० श्रुति उद्धृत है। सूत्र १० का अर्थ 'मातृभाव द्योतक प्रकरण से अत्ता पद मातापरक ही है' किया है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने एक ही नाम 'गुहाप्रविष्टाधिकरण' दिया है। शंकर ने इसमें कठ० १।३।११ और मुण्डक ३।१।१ में जीव और परमात्मा का ही वर्णन स्वीकार किया है। (सूत्र ११) 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' का अर्थ 'गुहा में प्रवेश किये हुए जीवात्मा और परमात्मा ही है क्योंकि श्रुति में वैसा ही कहा है' किया है। क० १।३।१, १।१।२०, १।२।१४, १।२।१२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। (सूत्र १२) 'विशेषणाच्च' सूत्र का अर्थ 'विशेषण से भी जीव और ब्रह्म का निश्चय होता है' किया है। क० १।३।३, १।३।९, १।२।१२, मु० ३।१।१,२, बृ० ४।५।१५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'अणोरणीयान' की संज्ञा दी है तथा उसमें आत्मा के अणुत्व एवं महत् दो धर्मों का विवेचन उपास्य उपासक भाव का प्रयोजन, महत् ब्रह्म उपास्य है एवं अणु जीव उपासक है—आदि विषयों का विवरण है। सूत्र ११ का अर्थ 'क० १।२।२० में गुहा स्थित आत्मा के दो धर्मों का कथन है' किया है। सूत्र १२ का अर्थ 'विशेषण होने से उपासक अणीयान् है और उपास्य महीयान्' किया है। क० २।६, श्वे० ६।८, मु० २।२।३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ४—शंकर ने सूत्र १३-१७ तक 'अन्तराधिकरण' स्वीकार किया है और उसमें छान्दोग्य में वर्णित 'अक्षि पुरुष' ही परमात्मा है, विषय का विवेचन किया है। सूत्र १८-२० तक को 'अन्तर्य्याम्यधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें बृहदारण्यक ३।७ में वर्णित अन्तर्य्यामी ब्रह्म ही है, प्रधान और जीवात्मा नहीं है—विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १३) 'अन्तर उपपत्तेः' का अर्थ 'अमृतत्वादि गुणों की संगति से नेत्रों के अन्तर ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाण स्वरूप छां० ४।१५।१, बृ० ५।५।२, ४।१।५२, ४।१५।३,४ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र १४) 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' का अर्थ 'ध्यानादि के लिये स्थान का कथन होने से नेत्र में ब्रह्म ही है' किया है। बृ० ३।७।३, छां० १।६।७।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १५) 'सुखविशिष्टाभिधानादेव च' का अर्थ 'सुख गुण विशिष्ट के कथन से नेत्रों के भीतर ब्रह्म ही है' किया है। छां० ४।१४।१, ४।१०।५, ४।१४।३, ४।१५।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १६) 'श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च' का अर्थ 'उपनिषद् में सगुण ब्रह्म की उपासना के अनुष्ठान कथन से भी अक्षि पुरुष परमात्मा ही है' किया है। प्र० १।१०, छां० ४।१५।१ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १७) 'अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः' का अर्थ 'सर्वदा स्थिति न होने से और अमृतत्वादि गुणों के असम्भव होने से दूसरा छायात्मादि यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। छां० ८-६-१, तै० २।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १८)—'अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' का अर्थ 'अधिदेवादि में जो अन्तर्यामी है उसके धर्म के कथन से वही परमात्मा है' किया है। बृ० ३।७।१,२; ३।६।१० श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १९)—'न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्' का अर्थ 'सांख्य स्मृति में कहा हुआ प्रधान भी उसके धर्मों का कथन न होने से अन्तर्यामी नहीं है' किया है। बृ० ३।७।२३, ३।४।२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २०)—'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' का अर्थ 'काण्व शाखा वाले और मध्यंदिनी शाखा वाले भी इस जीव को भेद द्वारा कहते हैं अतः जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है' किया है। बृ०३।७।२२ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने शंकर के उक्त दोनों अधिकरणों को मिलाकर एक 'अन्तर्य्याम्यधिकरण' की संज्ञा दी है और उसमें पूर्वाधिकरण में वर्णित उपास्योपासक भाव का समर्थन एवं आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन किया है। सूत्र १३ का अर्थ 'बृ० ३।७।३ में वर्णित अन्तर में रहने वाला ब्रह्म ही है, जीव या अन्य देवता नहीं' किया है। सूत्र १४ का अर्थ 'स्थान-शरीर-गुण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है' किया है। सूत्र १५ का अर्थ 'आनन्दस्वरूप ब्रह्म सुखस्वरूप है।' किया है। सूत्र १६ का अर्थ 'आरुणिरुद्दालकः' श्रुति में ब्रह्म का ही कथन है' किया है।

सूत्र १७ का अर्थ 'अन्तर्यामी जीव से भिन्न अन्य कोई नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न पृथिवी में ब्रह्म का अवस्थान ठीक नहीं है और जीव से ब्रह्म का भेद भी असंभव है' (पूर्व पक्ष)।

सूत्र १८ का अर्थ 'अन्तर्यामी आदि देवों में ब्रह्म के ही धर्मों का व्यपदेश होने से अन्तर्यामी जीव नहीं अपितु ब्रह्म ही है' किया है।

सूत्र १६ का अर्थ 'स्मृति में कहे जीव के धर्मों का यहां निषेध नहीं है' किया है।

सूत्र २० का अर्थ 'यजुर्वेदीय और आथर्वण शाखा वाले ब्रह्म और जीव में उपास्य-उपासक भेद मानकर ही' एनं, का अध्ययन करते हैं' किया है। मु० १।१।५ श्रुति उद्धृत हैं।

अधि० ५–दोनों आचार्यों ने 'अदृश्यत्वाधिकरण' संज्ञा दी है। परन्तु संख्या का भेद है। शंकर इस अधिकरण को षष्ठ अधिकरण मानते हैं जबकि पंचानन जी पंचम। शंकर ने इसमें मुण्डक १।१।५ में कथित 'भूत योनि' परमात्मा है जीव और प्रधान नहीं—विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र २१)—'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' का अर्थ 'धर्म के कथन से अदृश्यत्वादि गुण वाला ब्रह्म ही है' किया है। मु० १।१।५, ६,७; १।२।१, १।२।१३, १।१।३, १।१।१, १।२।७, १।२।१२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २२)–'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ' का अर्थ 'विशेषण और भेद के कथन से भूतयोनि परमात्मा ही है, जीव या प्रधान नहीं है' किया है। मु० २।१।२ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २३)–'रूपोपन्यासाच्च' का अर्थ 'रूप के उपन्यास से ब्रह्म ही भूत-योनि है' किया है। मु० २।१।४, २।१।१०, तै० ३।१०।६; क० १०।१२।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में अदृश्यत्वादि धर्म ब्रह्म के ही हैं तथा काली, शिव, सरस्वती, राम-कृष्ण, दुर्गादि मूर्तियों का प्रतिपादन किया है। सूत्र २१ शंकर के समान ही है। सूत्र २२ का अर्थ 'उपासना विधि वाक्य में 'तज्जलान्' ऐसा जो विशेषण है उसका व्यपदेश न केवल चिन्मात्र में और न केवल अचिन्मात्र में है प्रत्युत चिदचिदात्मक ब्रह्म में ही है' किया है। सूत्र २३ का अर्थ 'रूप कथन होने से साकार ब्रह्म की भी उपासना विधेय है' किया है। श्वे० ४।१२ ; बृ० ४।४ ६ श्रुतियां उद्धृत है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'वैश्वानराधिकरण' संज्ञा दी है। श्री पंचानन जी ने 'अग्नयधिकरण वा' और लगा दिया है। संख्या का उक्त भेद यहाँ भी वर्तमान है। शंकर ने इसमें छान्दोग्य ५।११ में वर्णित वैश्वानर ब्रह्म हैं, वह अग्नि आदि का अभिमानी देवता नहीं है। उपासना के हेतु ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में जैमिनि, आश्मरथ्य, बादरि और जाबाल का मत दिया गया है।

(सूत्र २४)—'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' का अर्थ 'छान्दोग्य में कहा हुआ वैश्वानर साधारण शब्द के विशेष से ब्रह्म ही है' किया है। छां० ५।११।१, ५।११।६, ५।१८।१,२, ५।२४।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २५)—'स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति' का अर्थ 'स्मृति द्वारा अनुमान होने से भी वैश्वानर शब्द ब्रह्म वाची ही है, किया है।

(सूत्र २६)—'शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते' का अर्थ' शब्दादि से और शरीर के भीतर स्थिति से, उपासना के उपदेश से, केवल जठराग्नि में 'स्वर्ग जिसका मस्तक' इत्यादि के असम्भव होने से तथा वाजसनेय शाखा वाले इसको पुरुष रूप से अध्ययन करते हैं, इसलिये वैश्वानर ब्रह्म ही है' किया है। छां० ५।१८।२, ५।१९।१, ३।१।८१, ३।१४।२, श० ब्रा० १०।६।१।१२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २७)—'अतएव न देवता भूतं च' का अर्थ 'इसीलिये वैश्वानर अग्न्याभिमानी देवता या भूताग्नि नहीं है' किया है।

(सूत्र २८)—'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' का अर्थ 'साक्षात् जठराग्नि के सम्बन्ध बिना ईश्वर के उपास्य होने में भी शब्द का अविरोध है ऐसा जैमिनि का मत है' किया है।

(सूत्र २९) -'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः का अर्थ 'प्रादेश मात्र होने का कथन प्रकटता के लिए है ऐसा आश्मरथ्य मानते हैं।'

(सूत्र ३०)—'अनुस्मृतेर्बादरिः' का अर्थ 'प्रादेश मात्र—हृदय में रहे हुए ब्रह्म का मन द्वारा अनुस्मरण होने से ब्रह्म को प्रादेश मात्र कहा है' ऐसा बादरि मानते हैं।

(सूत्र ३१)—'सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति' का अर्थ 'मूर्धादि स्थान की प्राप्ति रूप निमित्त से ब्रह्म प्रादेश मात्र है श्रुति भी यही दिखलाती है ऐसा जैमिनि का मत है।

(सूत्र ३२)—'आमनन्ति चैनमस्मिन्' का अर्थ 'परमात्मा को मस्तक और दाढ़ी के मध्य में जाबाल मुनि उपदेश करते हैं।'

श्री पंचानन जी इस अधिकरण में 'अग्नेनये' आदि श्रुति में अग्नि शब्द ब्रह्मपरक है। यज्ञादि कर्म ब्रह्मोपासना विशेष के अन्तरगत ही हैं। वैश्वानर विद्या भी ब्रह्म-विद्या ही है। कर्त्ता के भेद से कर्म का बन्ध हेतुत्व और मोक्ष-हेतुत्व कथन, 'काली' आदि की मूर्ति भी श्रुति सम्मत होने से ब्रह्म परक ही है, आदि विषयों का समावेश करते हैं।

सूत्र २४ का अर्थ-नानार्थ बोधक वैश्वानर शब्द विशेषता से ब्रह्मपरक ही है। बृ० ५।१५, १।४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र २५ का अर्थ—'स्मृति के आधार पर श्रुति का अनुमान किया जाता है' किया है।

सूत्र २६ का अर्थ—श्रुति स्मृति से अन्तःकरणावच्छिन्न होने से 'अग्ने' इस पद द्वारा जीव ही सम्बोधित है ब्रह्म नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुति में वैसा ही उपदेश है, अग्नि शब्द का अन्य अर्थ असम्भव होने से तथा शतपथ शाखा वाले अग्नि (वैश्वानर) शब्द से अन्तःपुर में अधिष्ठित पुरुष ही अध्ययन करते हैं। अतः अग्नि शब्द ब्रह्मवाची है।

सूत्र २७-३१ का अर्थ—शंकर के समान ही है।

सूत्र ३२ का अर्थ 'अग्नि वैश्वानरादि शब्दार्थ में परमात्मा को ही अभ्यास से श्रुतियां कहती हैं' किया है। मु० १।२।२-६, १।१।७, बृ० ३।८।-१०, छां० १।१।१; श्वे० ६।२.

तृतीय पाद :

अधिकरण १—दोनों आचार्यों ने 'द्युभ्वाद्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें मुण्डक २।२।५ में वर्णित स्वर्गादि का आधार परमात्मा है, प्रधान या जीवात्मा नहीं है, का विवेचन किया है। (सूत्र १) 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' का अर्थ 'श्रुति में वर्णित आत्म शब्द से स्वर्ग और पृथिवी आदि का आधार ब्रह्म ही है' किया है। प्रमाण स्वरूप बृ० २।४।१२, ३।७।२, ४।५।१३, छां० ६ ८।४, मु० २।२।११; कठ० २।४।११ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र २)—'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' का अर्थ 'मुक्त पुरुषों को ब्रह्म प्राप्य है इससे भी स्वर्गादि का अधिष्ठान ब्रह्म है' किया है। मु० २।२।८, ३।२।८, २।२।५, बृ० ४।४।७, ४।४।११ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ३)—'नानुमानमतच्छब्दात्' का अर्थ प्रधान प्रतिपादक शब्द के अभाव से प्रधान स्वर्गादि का अधिष्ठान नहीं है' किया है। मु० १।१।६ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ४)—'प्राणभृच्च' का अर्थ 'प्राणधारण करने वाला जीवात्मा भी स्वर्गादि का अधिष्ठान नहीं है' किया है।

(सूत्र ५)—'भेदव्यपदेशात्' का अर्थ ज्ञाता तथा ज्ञेय के भेद कथन से भी जीव अधिष्ठान नहीं है' किया है।

(सूत्र ६)—'प्रकरणात्' का अर्थ 'प्रकरण होने से ब्रह्म ही अधिष्ठान है' किया है। मु० १।१।३ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ७)–'स्थित्यदनाभ्यां च' का अर्थ 'स्थिति आदि से भी ब्रह्म ही अधिष्ठान है' किया है। मु० ३।१।१ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में 'पृथिव्येव यस्यायतनम्' इस श्रुति में 'यस्य' पद से ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं ? ब्रह्म का ही ग्रहण करना युक्तियुक्त है—का विवेचन किया है।

सूत्र १ का अर्थ 'बृ० ३।६ में वर्णित पृथ्वी और आकाश जिसका आयतन है, ऐसा ब्रह्मवाचक शब्द होने से ब्रह्म ही यहाँ निर्दिष्ट है' किया है। बृ० ३.६।१० श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २ का अर्थ 'सारी दिशाओं में आत्मा की भावना करके रहने वाला मुक्त – जीवन्मुक्त-याज्ञवल्क्य के उपदेश से ब्रह्म ही निर्दिष्ट है' किया है।

सूत्र ३ का अर्थ 'ब्रह्म बोधक शब्द न होने से द्युभू का आयतन ब्रह्म नहीं है' (पूर्व पक्ष) किया है। छां० ६।१४।१, ६।१६।१, ५।१८ श्रुतियां उद्धृत हैं। सूत्र ४ का अर्थ 'शंकर के समान ही है।

सूत्र ५ का अर्थ 'बृ० ३।६।२६ में भेद का ही व्यपदेश होने से ब्रह्म आयतन है' किया है।

सूत्र ६ का अर्थ 'प्रकरण से तो जीव ही सिद्ध होता है' (पूर्व पक्ष)।

सूत्र ७ का अर्थ 'हृदय में स्थिति होने के कारण भी जीव का ही कथन है' (पूर्व पक्ष)।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'भूमाधिकरण' संज्ञा दी है तथा छान्दोग्य ७।२३।२४ श्रुति में वर्णित भूमा ब्रह्म ही है - विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र ८) 'भूमासंप्रसादादध्युपदेशात्' का अर्थ 'संप्रसाद से ऊपर उपदेश होने से छां० ७।२३।२४ में वर्णित भूमा ब्रह्म ही है। छां० १।१५।१, ७।१।३, ७।२४।१, ७।१६, ७।१।३१, ७।२६।८, तै० २।१, श्वे० ६।१५ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ९)—'धर्मोपपत्तेश्च' का अर्थ 'अमृतत्वादि धर्मों की संगति से भूमा ब्रह्म ही है' किया है। बृ० ४।५।१५, ४।३।३२, ३।४।२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त सूत्रों का अर्थ शंकर के समान ही किया है। श्रुतियाँ क्रमशः छां० ७।१५, ७।२४, बृ० ३।८।७,८, कठ० १।२।१२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० ३ – दोनों आचार्यों ने अक्षराधिकरण' संज्ञा दी है तथा उसमें बृ० ३।८।८ श्रुति में अक्षर से परमात्मा ही निर्दिष्ट है, विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र १०)—'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' का अर्थ 'आकाश पर्यन्त के धारण करने से अक्षर ब्रह्म है' किया है। बृ० ३।८।७,८, छां० २।२३।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ११)—'सा च प्रशासनात्' का अर्थ 'श्रुति की आज्ञा से वह आकाश पर्यन्त को धारण क्रिया ब्रह्म का ही कर्म है' किया है। बृ० ३।८।६ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १२)—'अन्यभावव्यावृत्तेश्च' का अर्थ 'ब्रह्म से भिन्न जड़ प्रधान के भाव से भेद दिखलाने के कारण अक्षर शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है' किया है। बृ० ३।८।११, ३।८।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त तीनों सूत्रों का अर्थ शंकर के समान ही किया है। व्याख्या में दुर्गाबीजोद्धार तथा वह भी ब्रह्म रूप ही है, का विशेष विवरण दिया है। बृ० ५।२।२ श्रुति उद्धृत है।

अधि० ४—शंकर ने इसे 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें प्रश्नोपनिषद् ५।५ में वर्णित ध्यान का विषय ब्रह्म ही है। इस विषय का निरूपण किया है। 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः' सूत्र का अर्थ भी यही है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण को 'ईक्षतिकर्माधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'अक्षरं चादृष्टमश्रुतं चेति' इन श्रुतियों में वर्णित 'अदृष्ट' और 'अक्षर' पद आत्मवाची नहीं प्रत्युत ब्रह्मवाची हैं, इस विषय की व्याख्या की है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'दहराधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें छा० ८।१।१ में वर्णित 'दहराकाश' ब्रह्म ही है, इस विषय का निरूपण किया है।

(सूत्र १४)—'दहरउत्तरेभ्यः' का अर्थ 'छां० ८।१।१ ऐसे उत्तर वाक्य में कहे हुए हेतुओं से दहराकाश ब्रह्म ही है' किया है। छां० ८।१।३,६, प्र० ५।५, बृ० २।५।१८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १५)—'गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च' का अर्थ 'दूसरी श्रुति ८।३।२ में भी हेतु दृष्ट होने से तथा गति और शब्द से भी दहराकाश ब्रह्म ही है' किया है। छां० ३।८।१ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १६)—धृतेश्च महिम्नो स्यास्मिन्नुपलब्धेः' का अर्थ 'सब जगत् के धारण से तथा अन्य श्रुति छां० २।४।१ में ब्रह्म की महिमा की प्राप्ति होने से दहराकास ब्रह्म ही है' किया है।

(सूत्र १७)—'प्रसिद्धेश्च' का अर्थ 'कारण रूप आकाश की ब्रह्म रूप से प्रसिद्धि होने के कारण भी दहराकाश ब्रह्म ही है' किया है। छां० ८।१४, १।६।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १८)—'इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्' का अर्थ 'असंभव होने से जीव दहराकाश नहीं हो सकता' किया है। छां० ८।३।४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १६)—'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' का अर्थ उत्तर वाक्य छां० ८।७।१ श्रुति में वर्णित जीव उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्मस्वरूप होने से ब्रह्म ही दहराकाश है' किया है। छां० ८।७।४, ८।६।३, ८।१०।१, ८।११।१,२, ८।१२।३, मु० ३।२।६, क० १।२।२२, बृ० ४।३।३० श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २०)—'अन्यार्थश्च परामर्शः' का अर्थ 'छां० ८।३ ४ में जीव का ग्रहण ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए है' किया है।

(सूत्र २१)—'अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम्' का अर्थ 'आकाश के अल्पत्व की श्रुति होने से दहराकाश ब्रह्म ही है, इसका समाधान पहले किया जा चुका है' किया है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इस श्रुति में ब्रह्म का अल्पत्व प्राप्त होने पर 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इस श्रुति द्वारा संगति बैठाकर आक्षेप का परिहार किया है। दुर्गाबीज एवं मायाबीजोद्धार प्रदर्शन भी किया है। प्रथम सगुणोपासना फिर निर्गुणोपासना विधेय मानी है।

सूत्र १४ का अर्थ 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इस श्रुति के उत्तर वाक्य में जो लिंग है उससे दहराकाश ब्रह्म ही सिद्ध होता है' किया है।

सूत्र १५ का अर्थ 'छां० ८।१।६ में परलोक गमन अथवा शुभाशुभावस्था वाचक शब्दों से दहराकाश ब्रह्म ही है' किया है। बृ० ३।८।१०, २।४।५, छां० ८।१।५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र १६ का अर्थ 'द्यावा पृथिवी जिसके गर्भ में स्थित हैं उसका (ब्रह्म) महत्त्व उनसे (द्यावा पृथिवी) भी अधिक है' किया है। मु० २।२।५ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र १७ का अर्थ 'आत्म शब्द ब्रह्मपरक ही प्रसिद्ध है। अतः अन्तराकाश ब्रह्म ही है' किया है।

सूत्र १८ का अर्थ 'श्वे० ५।८ में वर्णित जीव अल्पपरिमाण वाला होने पर भी जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है' किया है। ऐत० ३।१।१ तथा 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

सूत्र १९ का अर्थ 'शंकर के समान है, परन्तु श्रुति 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' उद्धृत की है।

सूत्र २० का अर्थ जीव से अन्य प्रयोजन, उमा रूप ब्रह्म में ही तात्पर्य है।

सूत्र २१ का अर्थ शंकर के समान है। श्रुति छां० १।१।२५ उद्धृत है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'अनुकृत्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें मुण्डक २।१।१० में कथित सबका प्रकाशक ब्रह्म ही है, स्मृति में भी यही कहा है। (सूत्र २२,२३) 'अनुकृतेस्यस्य च' तथा 'अपि च स्मर्य्यते' सूत्रों का अर्थ भी यही है। बृ० ४।४।१६, ४।३।६, ४।२।४, मु० २।२।५, गीता १५।६, १५।१२ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में ब्रह्म का परिच्छिन्नत्व वास्तविक नहीं है वह तो केवल व्यवहार मात्र के लिए है। सप्तशती के प्रमाण से यही प्रतिपादित है। सूत्र २२, २३ का अर्थ भी यही है। 'यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा' 'यस्य देवस्य यद्रूपं यथा-भूषणवाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ' (सप्तशती) 'एकै-वाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा (गीता) उद्धृत है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'प्रमिताधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर कठ० २।४।१२,१३ में वर्णित अंगुष्ठमात्र पुरुष को ब्रह्म ही कहते हैं। 'शब्दादेव प्रमितः' सूत्र का अर्थ भी यही है। कठ० १।२।१४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २५)—'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' का अर्थ 'मनुष्य को शास्त्र का अधिकार होने से और हृदय में परमात्मा की स्थिति की अपेक्षा से ब्रह्म ही अंगुष्टमात्र कहा है' किया है। कठ० २।६।१७ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में 'दहर' श्रुति जीवपरक है, इस शंका का खण्डन किया है, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म को ही अंगुष्ठमात्र कहा है। सूत्र २४ का अर्थ भी यही है। सूत्र २५ का अर्थ शंकर के समान ही किया है।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'देवताधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें ब्रह्म विद्या में देवताओं को अधिकार है, विषय का विवेचन किया है। शंकर, शब्द से जगत् की उत्पत्ति, स्फोट मत, उपवर्ष का मत, जैमिनि का मत तथा बादरायण का मत, विशेष रूप से प्रतिपादित करते हैं।

(सूत्र २६)—'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' का अर्थ 'सामर्थ्य के सम्भव होने से ऊपर स्थित देवों का भी ब्रह्म-विद्या में अधिकार है, ऐसा

बादरायण आचार्य मानते हैं' किया है। छां० ८।११।३, तै० ३।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २७)—'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' का अर्थ 'कर्म में विरोध नहीं है क्योंकि देवताओं को अनेक शरीर की प्राप्ति श्रुति में वर्णित है' किया है। बृ० ३।६।१,२, ३।६।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २८)—'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां च' का अर्थ 'शब्द से विरोध नहीं आवेगा, क्योंकि देवादि की उत्पत्ति होने से तथा प्रत्यक्ष और अनुमान से शंका नहीं हो सकती' किया है। बृ० १।२।४; मनु० १।२१ उद्धृत हैं।

(सूत्र २६)—'अतएव च नित्यत्वम्' का अर्थ 'देवादि की वेद से उत्पत्ति होने के कारण वे नित्य हैं' किया है। ऋृ० १०।७१।३ श्रुति तथा 'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान् महर्षयः,........' (स्मृति) उद्धृत है।

(सूत्र ३०)—'समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' का अर्थ 'श्रुति से तथा स्मृति से आवृत्ति में भी समान नाम-रूपता से शब्द प्रामाण्य में अविरोध ही है' किया है। कौ० ३।३, श्वे० ६।१८, 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो.........', ऋृ० १०।१६०।३; तै० ब्रा० ३।१।४।१ श्रुति तथा 'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतिपेदिरे.........' 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः.........' (स्मृति) उद्धृत हैं।

(सूत्र ३१)—'मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः' का अर्थ 'ब्रह्म विद्या में असम्भव होने से देवताओं का अधिकार नहीं है, ऐसा जैमिनि का मत है' किया है। छां० ३।१।१, ३।१८।२, ४।३।१, ३।११।१, बृ० २।२।४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ३२)—'ज्योतिषि भावाच्च' का अर्थ 'ज्योति में प्रयोग के होने से शरीर रहित देवादि के अधिकार का अभाव है' किया है।

(सूत्र ३३)—'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' का अर्थ 'परन्तु ब्रह्म विद्या में देवादि के अधिकार के भाव को बादरायण आचार्य मानते हैं और देव शरीरधारी हैं, यह बात शास्त्र में भी प्रसिद्ध है' किया है। बृ० १।४।१० छां० ८।७।२, ऐ० ब्रा० ३।८।१, श्वे० २।१२ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी उक्त अधिकरण में देवताओं का विग्रहवत्त्व का प्रतिपादन, जैमिनि मत में ब्रह्म-विद्या में देवताओं का अधिकार नहीं है, इसकी युक्तियां तथा उनके खण्डन के लिए बादरायण मत की स्थापना करते हैं।

सूत्र २६ का अर्थ 'शंकर के समान ही किया है, परन्तु श्रुति में भेद है 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स

सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २७ का अर्थ शंकर के समान ही है। सूत्र २८ का अर्थ शंकर के समान ही है। परन्तु व्याख्या तथा श्रुति का भेद है। तै० ब्रा० २।२।४।५ श्रुति तथा अनादिनिधना······'सर्व्वेषां स हि नामानि कर्म्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः' (मनुस्मृति) उद्धृत है।

सूत्र २९ का अर्थ शंकर के समान ही किया है परन्तु श्रुति का भेद है। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत' श्रुति तथा 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः' स्मृति उद्धृत है।

सूत्र ३०–३३ का अर्थ शंकर के समान ही है, श्रुति भी समान है।

अधि० ९—दोनों आचार्यों ने 'अपशूद्राधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें शूद्रों को वेद-पूर्वक ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं है। इस विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र ३४)—'शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि' का अर्थ 'जानश्रुति राजा को हंसों के अनादर युक्त वचन सुनने से शोक हुआ तथा इसीलिए रैक्व के पास उसके आने से उसे शूद्र शब्द से सूचित किया गया है'। तै० सं० ७।१।१।६, छां० ४।२।३, ४।१।३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ३५)—'क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात्' का अर्थ 'उत्तर में चैत्ररथ के साथ कथन रूप हेतु से जानश्रुति के क्षत्रिय होने के निश्चय से शूद्र को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं है, यह सिद्ध होता है'। छां० ४।३।५, ता० ब्रा० २०।१२।५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ३६)—'संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च' का अर्थ 'उपनयनादि संस्कार के कथन से तथा शूद्र में उनके अभाव के कथन से भी शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है'। श० ब्रा० ११।५।३।१३, छां० ७।१।१, ५।११।७, प्र० १।१, मनु० १०।४, १०।१२६ श्रुतियां स्मृतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ३७)—'तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः' का अर्थ 'शूद्रत्व के अभाव के निश्चय से तथा गौतम की उपनयन की प्रवृत्ति से भी शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।' छां० ४।४।५ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ३८)—'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च' का अर्थ 'स्मृति में शूद्र को वेद के सुनने-पढ़ने का निषेध है' किया है। 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' तथा 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में शूद्र को आगमशास्त्रोक्त अन्य विद्या का अधिकार प्रदान किया है और शूद्र भी यथाधिकार स्वर्ग-अपवर्ग

भोगने का अधिकारी हो सकता है, इस विषय की व्याख्या की है। सूत्र ३४ से ३८ तक अर्थ की शंकर से समानता है, परन्तु कहीं कहीं श्रुति में भेद है। सूत्र ३६ में शंकर के अतिरिक्त छां० ४।४।५, बृ० २।१।१४,१५ श्रुतियाँ विशेष उद्धृत हैं। सूत्र ३८ में 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा विजातयः.... ' विशेष उद्धृत है।

अधि० १०—दोनों आचार्यों ने 'कम्पनाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर कठ० २।६।२ में वर्णित प्राण ब्रह्म ही है, इस विषय का विवेचन करते हैं। 'कम्पनात्' सूत्र का भी यही अर्थ है। कठ०२।६।१, २।६।३,१।२।१४, २।५ ५, बृ० ४।४।१८, ३।४, तै० ८।१, श्वे, ६।१५ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में वायु और प्राण दो देवताओं का वर्णन संवर्गविद्या प्रकरण में मिलता है, इनमें एक ब्रह्म ही है, संवर्ग विद्या भी ब्रह्म विद्या ही है, विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र का अर्थ भी यही है। तै० २।१, प्र० ४।११, श्वे० ४।१३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'ज्योतिरधिकरण' की संज्ञा दी है। शंकर इसमें छां० ८।१२।३ में वर्णित ज्योति ब्रह्म ही है, विषय का प्रतिपादन करते हैं। 'ज्योतिर्दर्शनात्' सूत्र का अर्थ भी यही है। छां० ८।७।१, ८।९।३, ८।१२।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी इस अधिकरण में 'यदर्चिमद्' इत्यादि मुण्डक श्रुति में वर्णित प्राण शब्द का ब्रह्मपरत्व प्रतिपादन करते हैं। सूत्र का अर्थ भी यही है।

अधि० १२—दोनों आचार्यों ने 'अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें छां० ८।१४।१ में वर्णित आकाश ब्रह्म ही है, विषय का प्रतिपादन किया है। 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' सूत्र का अर्थ भी यही है। छां० ६।३।२ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में मुण्डकोपनिषद् में कहे व्योम पद का ब्रह्मपरत्व प्रतिपादन किया है। सूत्र का अर्थ भी यही है। श्वे० ४।८ श्रुति उद्धृत है।

अधि० १३—दोनों आचार्यों ने 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें बृ० ४।३।७ में ब्रह्म का ही वर्णन है, विषय का प्रतिपादन करते हैं। 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन' सूत्र का अर्थ 'सुषुप्ति और मरण में भेद के कथन से ब्रह्म का ही कथन है' किया है। बृ० ४।४।२२, ४।३।२१, ४।३।-

३५ ४।२।१४,१५, ४।३।१२ श्रुतियां उद्धृत हैं। 'पत्यादिशब्देभ्यः' सूत्र का अर्थ 'पति आदि शब्दों से भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है'।

श्री पंचानन जी इस अधिकरण में 'कोऽयं विज्ञानमय' इत्यादि श्रुति जीवपरक है अथवा ब्रह्मपरक, ऐसा संशय प्राप्त होने पर युक्ति द्वारा ब्रह्म परक ही सिद्ध करते हैं, क्योंकि जीव ब्रह्म के अधीन है। पति शब्द से भी यही सिद्ध होता है। दोनों सूत्रों का अर्थ भी यही है। 'अतः उदर्ध्वं विमोक्षा चैव ब्रूहि' 'असंगो ह्ययं पुरुषः' तथा 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः एष सेतुर्विधरणो' इत्यादि श्रुतियां उद्धृत हैं।

चतुर्थ पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने नाम 'आनुमानिकाधिकरण' दिया है। विषयगत भेद है। शंकर ने इसमें कठ० १।३।११ श्रुति में रथ के रूपक से 'अव्यक्त' पद का अर्थ शरीर ही ग्रहण करना चाहिये सांख्योक्त प्रधान नहीं, क्योंकि कठ० २।३।१५ श्रुति में 'शब्द रहित' आदि शब्दों से ब्रह्म का ही वर्णन है। 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च' सूत्र का अर्थ 'अनुमानगम्य होने पर भी एक शाखा द्वारा प्रतिपादित होने से 'अव्यक्त' पद प्रधान वाचक नहीं है, क्योंकि श्रुति में शरीर के रूपक द्वारा 'आत्मा' का ग्रहण वर्णित है।' प्रमाण स्वरूप कठ० १।३।३,४, १।३।१०, ११, १२, १३, बृ० ३।२, श्वे० ६।१८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २) - 'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्' का अर्थ 'योग्य होने से सूक्ष्म शरीर ग्रहण करना ठीक है' किया है। ऋ० ६।४६।४, बृ० १।४।७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ३) - 'तदधीनत्वादर्शवत्' का अर्थ 'अव्यक्त शक्ति (माया) ब्रह्म के अधीन होने से सार्थक है' किया है। बृ० ३।८।११, मु० २।१।२, श्वे० ४।१० श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ४)—'ज्ञेयत्वावचनाच्च' का अर्थ 'ज्ञेयत्व के कथन के अभाव से अव्यक्त प्रधान वाचक नहीं है' किया है।

(सूत्र ५) - 'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्' का अर्थ 'का० २।३। १५ श्रुति प्रधान के ज्ञेयत्व का नहीं अपितु प्रकरण से प्राज्ञ (ब्रह्म) का ही प्रतिपादन करती है' किया है।

(सूत्र ६)—'त्रयाणामेवं चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' का अर्थ 'अग्नि जीव और ब्रह्म तीनों का प्रश्न तथा निरूपण इसी प्रकार है, अतः अव्यक्त प्रधान

वाचक नहीं है' किया है। कठ० १।१।१३, १।१।२०, १।१।१५, १।२।१४, १।२।१८, २।५।६।७, २।४।४, २।४।१०, १।२।४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ७) – 'महद्वच्च' का अर्थ' महत् शब्द के समान 'अव्यक्त' पद भी प्रधान का बोधक नहीं है' किया है। कठ० १।३।१०, १।२।२२, श्वे० ३।८ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी उक्त अधिकरण में, सांख्य मतानुसार अचिन्मात्र प्रधान स्वरूपाद्वैतवाद में जगत् का कारण नहीं हो सकता, इस विषय का प्रतिपादन करते हैं। प्रथम सूत्र का अर्थ 'कठशाखा वाले आनुमानिक अचिन्मात्र का उपादानकत्व भी मानते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति में शरीर-रूपक में विशिष्ट रूप से ब्रह्म का ही ग्रहण है' किया है। बृ० ४।३, ४।४।२० श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र २ का अर्थ 'योग्यता के कारण सूक्ष्म होने से वह ब्रह्म ही है, 'अव्यक्त' जड़ पदार्थ नहीं हो सकता' किया है। 'इन्द्रियेभ्यः परं मनसो मनसः सत्त्वमुत्तमम्'……'श्रुति उद्धृत है।

सूत्र ३ का अर्थ 'इन्द्रियेभ्य' श्रुति में इन्द्रियां आदि उत्तरोत्तर एक दूसरे के अधीन होने से सार्थक हैं' किया है।

सूत्र ४ का अर्थ 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' श्रुति में ब्रह्म के ज्ञान के पश्चात् अन्य ज्ञेयत्व का निषेध है' किया है। 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिंग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वंच गच्छति' श्रुति उद्धृत है।

सूत्र ५ का अर्थ 'प्रकरण से भी ब्रह्म के ज्ञेयत्व का ही वर्णन है, प्रधान का नहीं' किया है।

सूत्र ६ का अर्थ शंकर के समान ही किया है। सूत्र ७ का अर्थ 'आदित्य वर्ण होने से महत् का अर्थ चिदचिद् का समन्वय ही सत् पदार्थ है' किया है। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम्'…'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० २—शंकर ने इसे 'चमसाधिकरण संज्ञा दी है तथा इसमें ८-१० सूत्रों का समावेश किया है। श्वे० ४।५ में प्रधान का वर्णन नहीं है प्रत्युत पृथिवी आदि तीन भूतों का है, विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र ८)— 'चमसवदविशेषात्' का अर्थ' चमस के समान विशेष के अभाव से नियम पूर्वक 'अजा' शब्द प्रधान का बोधक नहीं है' किया है। प्रमाण स्वरूप श्वे० ४।५, बृ० २।२।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ६)—'ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके' का अर्थ 'ज्योति जिसमें मुख्य है वह अजा है, क्योंकि एक शाखा वाले ऐसा ही अध्ययन करते हैं' किया है। श्वे० १।१,३, ४।१०,११ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १०)—कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः' का अर्थ 'मधु आदि के समान कल्पना का उपदेश होने से अविरोध है' किया है। छां० ३।१, बृ० ५।८, ८।२६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को अजाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें ८-११ सूत्रों का समावेश किया है। सांख्य मत का खण्डन, चिदचिदात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन एवं चिन्मात्रोपादानकत्व (शंकर मत) का निराकरण किया है।

सूत्र ८ का अर्थ शंकर के समान ही किया है। सूत्र ९ का अर्थ 'मन्त्र में ज्योति पद के उपक्रम से 'अजा चिदचिदात्मक ब्रह्म ही है, ऐसा ही एक शाखा वाले अध्ययन करते हैं' किया। 'य एकोऽवर्णः' 'स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' तथा श्वे० ४।११ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र १० का अर्थ 'मध्वादि' श्रुति 'असौ वा आदित्यो देवमधु' के समान ब्रह्म की श्यामल मूर्त्ति का हृदय में दर्शन सम्भव है प्रत्यक्ष नहीं' किया है। कठ० २।६।६, 'यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यत् शुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य' 'सर्वाः श्यामा असिकराः' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र ११ का अर्थ 'अप, अन्न, तेज तीनों एक ही ब्रह्म के वाचक हैं न कि भिन्न-भिन्न, अतः अजा पद ब्रह्मवाचक ही है' किया है। 'आत्मानं रथिनं विद्धि' 'असौ वा आदित्यो देवमधु' आदि श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० ३—शंकर ने सूत्र ११-१३ तक को 'संख्योपसंग्रहाधिकरण' की संज्ञा दी है। तथा इसमें बृ० ४।४।१७ में वर्णित सांख्य तत्त्व नहीं है प्रत्युत वह वर्णन प्राणों का है, विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र ११)—'न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च' का अर्थ 'संख्या के उपसंग्रह से नाना धर्म से और विशेष से भी प्रधान' श्रुति सम्मत नही है' किया है। बृ० ४।४।१७, तै० १।६।२।२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १२)—'प्राणादयो वाक्यशेषात्' का अर्थ 'वाक्यशेष से प्राणादि पांच जन हैं' किया है। छां० ३।१३।६, ७।१५।१, क० ८।५३।७ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १३)—'ज्योतिषैकेषामसत्यन्ते' का अर्थ 'काण्व शाखा में अन्य शब्द न होने पर भी ज्योति शब्द से पाँच की संख्या पूरी होती है' किया है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण को 'पंचजनाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा उसमें सूत्र १२-१४ का समावेश किया है। जगत् की उत्पत्ति प्रधान से नहीं ब्रह्म से ही होती है, इस विषय का विवेचन प्रस्तुत किया है।

सूत्र १२-१३ की व्याख्या शंकर के समान ही की है। सूत्र १४ की व्याख्या भी पूर्व दोनों सूत्रों के अनुकूल ही है। केवल श्रुति का भेद है। शंकरानुकूल बृ० ४।४।१७, छां० ३।१३।६ के अतिरिक्त तै० २।१, २।७, मु० २।१।३, १।१।८, छां० ६।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ४—शंकर ने इसे 'कारणत्वाधिकरण' कहा है तथा सूत्र १४,१५ का समावेश किया है। जगत् की उत्पत्ति प्रधान से नहीं ब्रह्म से ही होती है, विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र १४)—'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' का अर्थ 'आकाशादि का कारण ब्रह्म है क्योंकि श्रुति में उसका वैसा ही वर्णन है' किया है। तै० २।१, २।६,७, छां० ६।२।१,२,३, ६।१६।१, ६।८।४, ७।१।३, प्र० ६।४, ऐ० ४।१।१,२, बृ० १।४।७, माण्डू० ३।१५, श्वे० ३।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १५)—'समाकर्षात्' का अर्थ—'असद्वा इदमग्रआसीत्' इस श्रुति का ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से जगत् का कारण सत् ही है— किया है। 'तत्सत्यमित्याचक्षते' छां० ६।२।१, ६।३।२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने केवल १५ सूत्र को 'समाकर्षाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा सूत्र का अर्थ शंकर के समान ही किया है।

अधि० ५—शंकर ने इसे 'बालाक्यधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें कौषीतकी ब्राह्मण ४।१९ में ज्ञेय रूप से ब्रह्म का ही वर्णन है, जीव अथवा प्राण का नहीं, विषय की विवेचना प्रस्तुत की है।

(सूत्र १६)—'जगद्वाचित्वात्' का अर्थ—'एतत्' शब्द जगत् वाचक होने से श्रुति में ब्रह्म को ही जानने योग्य है' कहा है। वह श्रुति है कौ० ब्रा० ४।१९।

(सूत्र १७)—'जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चैतद्व्याख्यातम्' का अर्थ 'जीव और मुख्य प्राण के लिंग से ब्रह्म का ही व्याख्यान है, ऐसा, पहले कहा जा चुका है' किया है। छां० ६।८।२ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १८)—'अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके' का अर्थ 'जैमिनि तथा वाजसनेयि शाखा वाले भी प्रश्न और उत्तर से जीव

का ग्रहण ब्रह्म-ज्ञान के लिये ही मानते हैं' किया है। कौ० ब्रा० ४।१८,१९, छां० ८।१।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानान जी ने पंचम अधिकरण को 'जगद्वाचित्वाधिकरण' कहा है। इसमें सांख्यों के द्वारा चिदचिद् ब्रह्म का खण्डन करने पर कौ० ब्रा० ४।१८, १९ के प्रमाण से सांख्य मत निरस्त किया है।

सूत्र १६-१८ का अर्थ शंकर के समान ही किया है। परन्तु श्रुति का भेद है। बृ० ३।६।६, २।१।१६, छां० ८।८, ८।३।४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'वाक्यान्वयाधिकरण' नाम दिया है तथा बृहदारण्यक ४।५।६ में वर्णित आत्मा ब्रह्म ही है–विषय का निरूपण किया है।

(सूत्र १९)—'वाक्यान्वयात्' का अर्थ 'वाक्य के अन्वय से श्रवणादि करने योग्य ब्रह्म ही है' किया है। बृ० ४।५।११,१२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २०)—'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः' का अर्थ 'लिंग प्रतिज्ञा की सिद्धि के सूचक हैं, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं' किया है।

(सूत्र २१)—'उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः' का अर्थ 'देहादि उपाधि के त्याग, ऐसे ब्रह्माभिन्न भाव से औडुलोमि आचार्य मानने हैं' किया हैं। छां० ८।१२।३, मुण्ड० ३।२।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २२)—'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' का अर्थ 'परमात्मा ही जीव रूप से स्थित है, ऐसा काशकृत्स्न का मत है' किया है। छां० ६।३।२, ६।२।१, ७।२५।२, तै० आ० ३।१२।७, तै० उप० २।१,२६, मुण्ड० ३।२।६, २।२।११, बृ० २।४।१२,१३, २।४।६, ३।७।२३, ३।८।११, १।४।१०, ४।४।१९, ४।४।१५, ई० ७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने १९-२२ सूत्रों का अर्थ तो शंकर के समान ही किया है, किन्तु शंकर के अनुसार विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है और श्रुतियाँ भी उनसे कम संख्या में उद्धृत की हैं, यही इन दोनों आचार्यों का भेद है।

अधि० ७—नाम दोनों आचार्यों ने 'प्रकृत्यधिकरण' ही दिया है। शंकर ब्रह्म को ही जगत् का मूल कारण वर्णित करते हैं।

(सूत्र २३)—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' का अर्थ 'प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का विरोध न होने से ब्रह्म ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है' किया है। प्र० ६।३,४, श्वे० ६।१९, छा० ६।१।२,४,५,६, मुण्ड० १।१।२, १।१।७, बृ० ४।५।६, ८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र २४)—'अभिध्योपदेशाच्च' का अर्थ 'सृष्टि संकल्प के उपदेश से भी ब्रह्म ही मूल कारण है' किया है। 'सोऽकामयत......' 'तदैक्षत......' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २५)—'साक्षाच्चोभयाम्नानात्' का अर्थ 'उत्पत्ति और प्रलय के साक्षात् कथन से भी यही निश्चय होता है' किया है। छां० १।६।१ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २६)—'आत्मकृतेः परिणामात्' का अर्थ 'ब्रह्म के अपने कर्मप्रपंच रूप परिणाम द्वारा भी ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है' किया है। तै० २।६,७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २७)—'योनिश्च हि गीयते' का अर्थ 'ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा श्रुति भी कहती है' किया है। मुण्ड० ३।१।३, १।१।६,७, ऋ० १।१०४।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन भी ने उक्त अधिकरण में, चिदचिदात्मक शक्ति ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। वही अचिदंश से परिणामी है, इस विषय का निरूपण किया है।

सूत्र २३ का अर्थ 'प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों के अनुरोध से प्रकृति (अचित् सत्ता) भी उपादान कारण है' किया है। केवल छां० ६।१।४ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २४ का अर्थ 'पूर्व और उत्तर उभयतः शक्ति के चिदचिदात्मकत्व का ही उपदेश है' किया है। 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २५ का अर्थ 'प्रत्यक्ष श्रुति से भी ब्रह्म के उभयत्व का ही कथन है' किया है। वह श्रुति है तै० २।६।

सूत्र २६ का अर्थ 'अपने रूप के परिणाम विशेष से अचित् प्रकृति ही नाना भाव ग्रहण करती है' किया है।

सूत्र २७ का अर्थ 'श्रुति में भी शक्ति को ही जगत् की योनि कहा गया है' किया है। 'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' 'पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' 'तद्भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'सर्वव्याख्यानाधिकरण' नाम दिया है। शङ्कर ने इसमें प्रधानकारणवाद के निरास से परमाणु कारणवाद आदि का निरसन स्वयं हो जाता है, विषय का निरूपण किया है। 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' सूत्र का अर्थ भी यही है।

श्री पञ्चानन जी ने सूत्र का अर्थ 'सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म के निरूपण में ही है अतः सब की विशेष रूप से व्याख्या हो गई' किया है।

प्रथम पाद :

अधिकरण १—शंकर ने इसे 'स्मृत्यधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें कपिल स्मृति प्रामाणिक नहीं है। श्रुति में आया हुआ कपिल और स्मृतिकार कपिल भिन्न है। श्रुति ही मुख्य प्रमाण है और तदनुसार स्मृति प्रमाण है। मनुस्मृति श्रुति के अनुसार है—आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र १)—'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसंगात्' का अर्थ 'ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से कपिल आदि की स्मृति के निरर्थकता रूप दोष का प्रसग वेदान्त मत में प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य स्मृतियों के अनवकाश रूप दोष के प्रसंग से वेदान्त मत में दोष की प्राप्ति नहीं होगी' किया है। श्वे० ५।२; तै० सं० २।२।१०।२; ई० ७ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २)—'इतरेषां चानुपलब्धेः' का अर्थ 'महदादि तत्व जो स्मृति में प्रधान के परिणाम रूप माने गये हैं वे लोक में तथा वेद में प्रसिद्ध नहीं हैं' किया है।

श्री पंचानन जी ने प्रथम अधिकरण को 'स्मृत्यनवकाशदोषाधिकरण' संज्ञा दी है और इसमें सांख्य मत का निराकरण किया है। सूत्र १ का अर्थ 'सांख्य सम्मत स्मृति का अन्य स्मृतियों से विरोध होने पर भी अनवकाश का दोष नहीं है क्योंकि उसका वैराग्य में तात्पर्य है'।

सूत्र २ का अर्थ 'कपिल द्वारा वर्णित सांख्य तत्वों का महाभारत में वसिष्ठ द्वारा वर्णित तत्वों से भेद है अतः कपिलसम्मत सांख्य मत उपयुक्त नहीं है' किया है।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने नाम 'योगप्रत्युक्त्यधिकरण' दिया है। शंकर ने इसमें योग का श्रुति से अविरुद्ध अंश ही प्रामाणिक है अन्य सब अप्रामाणिक-विषय का निरूपण किया है। (सूत्र ३)—'एतेन योगः प्रत्युक्तः' का अर्थ 'सांख्य स्मृति द्वारा योग स्मृति का भी निषेध हो गया समझना चाहिए' किया है। बृ० २।४।५, ४।३।१६, ३।६।२६; श्वे० ६।१३,३।८, २।८; काठ० २।६।११, १२, तै० ब्रा० ३।१२।६।७ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में न्याय मत का खण्डन किया है। सूत्र ३ का अर्थ—'सांख्य के खण्डन के द्वारा न्याय का भी खण्डन हो गया समझना चाहिए' किया है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'विलक्षणत्वाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें जगत् ब्रह्म से विलक्षण है परन्तु उसी से उत्पन्न होता है, तथा असत्कार्य वाद का खण्डन किया है। (सूत्र ४)—'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्' का अर्थ 'इस जगत् की ब्रह्म से विलक्षणता होने के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं है तथा श्रुति से भी वैसा ही सिद्ध होता है' किया है। तै० २।६; श० ब्रा० ६।१।३।२,४; छां० ६।२।३,४ ; बृ० ६।१।७, १।३।२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ५)–'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' का अर्थ 'परन्तु विशेष और अनुगति से अभिमानी देवता का ही कथन है' किया है। ऐ० ब्रा० २।४।२।४; छां० ५।१।७; बृ० ६।१।१३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ६)—'दृश्यते तु' का अर्थ 'विलक्षणता लोकमें देखी जाती है' किया है। काठ० १।२।६; ऋ० सं० १।३०, १।६; गीता २।२५, १०।२ उद्धृत हैं।

(सूत्र ७)—'असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्' का अर्थ 'उत्पत्ति से पहले असत् था ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिषेध मात्र होने से उसमें दोष नहीं है' किया है। बृ० २।४।६ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ८)—'अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमंजसम्' का अर्थ 'इसी प्रकार प्रलय में तथा प्रसंग से औपनिषद् दर्शन असमीचीन है' (पूर्व पक्ष)।

(सूत्र ९)—'दृष्टान्ताभावात्' का अर्थ 'दृष्टान्त न होने से पूर्व वर्णित दोष नहीं है' किया है। बृ० २।४।६; छां० ७।२५।२, ३।१४।१, ६।६।१,२; मु० २।२।११ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १०)—'स्वपक्षदोषाच्च' का अर्थ 'और सांख्यवादी के अपने पक्ष में भी वही दोष है' किया है।

(सूत्र ११)—'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः' का अर्थ 'तर्क के अप्रतिष्ठान से भी अथवा प्रतिष्ठित तर्क से भी प्रधान अनुमान करने योग्य नहीं है क्योंकि उससे मोक्ष के अभाव का प्रसंग आयेगा।'

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में स्वमत 'स्वरूपाद्वैतवाद' के विपक्ष में संभावित युक्तियों का खण्डन किया है। सूत्र ४-६ तक समान अर्थ समान श्रुति। व्याख्या में कहीं कहीं अल्प भेद है। 'सूत्र १० का अर्थ 'सांख्यमत के साथ-साथ शांकर मत में भी वही दोष हैं' किया है। सूत्र ११ का अर्थ 'सांख्य मत के साथ-साथ चिन्मात्रब्रह्मवादी–शांकर मत भी तर्क के अप्रतिष्ठान से युक्त नहीं है, चिदचिदात्मक ब्रह्मवादी मत से ही ब्रह्म साक्षात्कार संभव हैं' किया है। बृ० २।५।५ श्रुति उद्धृत है।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'शिष्टापरिग्रहाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें शिष्ट जनों से स्वीकार न किया होने से परमाणु कारणवाद भी निषिद्ध है—विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १२)—'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' का अर्थ भी यही है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में बौद्ध मत का निराकरण किया है। उनके मतानुसार सूत्र १२ का अर्थ भी यही है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'भोक्त्रापत्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें ब्रह्म जगत् का मूल कारण होने पर भी भोक्ता-भोग्य आदि भेद उत्पन्न हो सकते हैं—विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १३)-'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्' का अर्थ 'भोक्ता की प्राप्ति से भोक्ता-भोग्य का भेद नहीं रहेगा ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोक में भेद वर्तमान देखा जाता है' किया है। तै० २।६ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी इस अधिकरण में भोक्ता-भोग्य का अभेद होने पर भी दूसरों द्वारा संभावित दोषों का परिहार करते हैं। सूत्र १३ का अर्थ भी यही है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'आरम्भणाधिकरण' नाम दिया है। शंकर ने इसमें कारण से कार्य का वस्तुतः अभेद, अनेकान्तवाद, कार्य का सत्वासत्व विचार, वैशेषिक मत निरास, समवाय दूषण, उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् ही था—आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र १४)-'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' का अर्थ 'आरम्भण शब्दादि से कार्य कारण की अनन्यता है' किया है। छां० ६।१।४, ६।८।७, ७।२५।२, ५।२।६, ६।१६।३, ६।१४।१, ६।३।२, ७।२४।१ ; बृ० २।४।६, २।५।११, ४।४।१९, २२—४।५।१५,३।६।२५, २७—३।८।८; तै० आ०३।१२।७; श्वे० ६।१२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १५)—'भावे चोपलब्धेः' का अर्थ 'कारण के सद्भाव में कार्य के ज्ञान से दोनों में अनन्यता है' किया है।

(सूत्र १६)—'सत्वाच्चापरस्य' का अर्थ 'कार्य की कारण रूप से पूर्व स्थिति होती है' किया है। छां० ६।२।१ ; ऐ० आ० २।४।१।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १७)—'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' का अर्थ 'असत् के कथन से सृष्टि से पूर्व सत् न था, कहना ठीक नहीं। अन्य धर्म से यह कथन है, ऐसा वाक्य शेष से प्रतीत होता है' किया है। छां० ३।१९।१; तै० २।७।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १८)—'युक्तेः शब्दान्तराच्च' का अर्थ 'युक्ति से तथा अन्य श्रुति द्वारा भी यही सिद्ध होता है' किया है। छां० ६।२।१, ६।१।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १९)—'पटवच्च' का अर्थ 'वस्त्र के समान अवस्था भेद के कारण कार्य से कारण की भिन्नता वास्तविक नहीं हैं' किया है।

(सूत्र २०)—'यथा च प्राणादि' का अर्थ 'जैसे कारण रूप प्राण से प्राणादि भिन्न नहीं है वैसे ही कारण से कार्य भिन्न नहीं है' किया है। 'येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में सत्कार्यवाद तथा ब्रह्म और जीव के भेदाभेद का विचार किया है। सूत्र १४ का अर्थ 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन...... ' इत्यादि आरम्भण शब्द घटित श्रुति से ब्रह्म और जगत् का अभेद वास्तविक है' किया है। सूत्र १५ का अर्थ 'प्रकृति भूत जो प्रत्यक्ष है वह सब सत्य है' किया है। सूत्र १६ का अर्थ 'कारण से कार्य भिन्न नहीं होता' किया है। सूत्र १७-२० का अर्थ शंकर के समान ही किया है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'इतरव्यपदेशाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इससे चेतन ब्रह्म के कारण होते हुए भी ब्रह्म में 'हिताकरणादि दोष' नहीं प्राप्त होते–विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र २१)—'इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः' का अर्थ 'चेतन को जगत् का कारण मानने पर श्रुति में ब्रह्म रूप में जीव का कथन होने से ब्रह्म में अपना हित न करना आदि दोष लगने का प्रसंग आएगा (पूर्वपक्ष)'। तै० २।६, छां० ६।३।२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २२)—'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' का अर्थ 'परन्तु जीव और ब्रह्म के भेद के कथन से जीवात्मा से परमात्मा भिन्न है। अतः ब्रह्म में हित न करने का दोष नहीं आएगा।' बृ० २।४।५, ४।३।३५, छां० ८।७।१, ६।८।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २३)—'अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः' का अर्थ 'पत्थर आदि के समान उन दोषों का अभाव है' किया है।

श्री पंचानन जी उक्त अधिकरण में जीव के कर्तृत्व में 'हिताकरणादि दोष' का विचार करते हैं। सूत्र २१ का अर्थ 'परमात्मा से वस्तुतः भिन्न सभी जीव जड़ादि का जो स्वरूप कथन है अर्थात् ईश्वर उनके कर्म फल का कारण है, ऐसे पारतन्त्र्य के कथन से जीवों के लिये परमात्मा में हिताहित कारण का दोष आएगा' किया है (पूर्व पक्ष)।

सूत्र २२ का अर्थ 'जीवों का परमात्मा से अन्यत्व का कथन होने से परमात्मा की अपेक्षा जीव में दोष अधिक होते हैं' किया है (दूसरा आक्षेप)।

सूत्र २३ का अर्थ 'जैसे स्फटिक मणि तथा दर्पणादि में प्रदर्शित दोष की अनुपपत्ति होती है वैसे ही जीव अथवा ब्रह्म में हिताकरणादि दोषों की असिद्धि होती है' किया है।

अधि० ८ —दोनों आचार्यों ने 'उपसंहारदर्शनाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है—इस विषय की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

(सूत्र २४)—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' का अर्थ 'जगत् में कर्त्ता के उपकरण संग्रह के दर्शन से उपकरण रहित ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म दूध के दही रूप में स्वयमेव परिवर्तन के समान बाह्य सामग्री के अभाव में भी जगत् का कारण हो सकता है' किया है। श्वे० ६।८ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २५)—'देवादिवदपि लोके' का अर्थ 'संसार में जैसे देवादि साधन सामग्री के अभाव में भी पदार्थ उत्पन्न कर सकते हैं वैसे ही ब्रह्म भी जगद्रचना कर सकता है' किया है।

श्री पञ्चानन जी इस अधिकरण में जगत् की चिदचिदात्मकता का विचार करते हैं। सूत्र २४ का अर्थ 'जैसे गाय का दूध स्तन से ही निकलता है गोमुख से नहीं वैसे ही चित् का प्रतिबिम्ब भी अन्तःकरण में ही पड़ता हैं स्थूल शरीर में नहीं, अतः जड़ देह के उपसंहार (अन्त) होने पर भी सर्वथा नाश नहीं होता' किया है। सूत्र २५ का अर्थ 'संसार में पाषाण प्रतिमा को सजीव ब्रह्मरूप मान कर ही पूजन किया जाता है' किया है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें ब्रह्म निरवयव है और सम्पूर्ण ब्रह्म में परिणाम नहीं होता, इस विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र २६)—'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' का अर्थ 'ब्रह्म को निरवयव मानने से समस्त ब्रह्म की कार्य रूप में प्राप्ति होगी, अथवा ब्रह्म की निरवयवत्व प्रतिपादक श्रुति का बाध होगा (पूर्व पक्ष)'। श्वे० ६।१६, मु० २।१।२, बृ० २।४।११, ३।६।२६, ३।८।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २७)—'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' का अर्थ 'परन्तु ऐसी श्रुति होने से भी अन्य श्रुति प्रमाण द्वारा समस्त ब्रह्म के कार्यरूप परिणाम होने का प्रसंग नहीं आता' किया है। छां० ६।३।२, ३।१२।६, ६।८।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २८)—'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' का अर्थ 'जैसे स्वप्न में आत्मा में विचित्र सृष्टि उत्पन्न होती है वैसे ही ब्रह्म में स्वरूप के नाश के विना ही विचित्र सृष्टि उत्पन्न होती है' किया है। बृ० ४।३।१० श्रुति उद्धृत हैं।

(सूत्र २६)—'स्वपक्षदोषाच्च' का अर्थ 'उक्त दोष विपक्षियों के अपने मत में भी विद्यमान है' किया है।

श्री पञ्चानन जी इस अधिकरण में चिदचिदात्मक ब्रह्मवाद मानने से 'अचिदंशेन' ब्रह्म का परिणामित्व दोष युक्त नहीं है–इस विषय का विवेचन करते हैं।

सूत्र २६ का अर्थ 'चिदचिदात्मक ब्रह्म को कारण मानने से 'निरवयत्व' श्रुति का बाध होता है' किया है (पूर्व पक्ष)।

सूत्र २७ का अर्थ 'श्रुति के प्रमाण से शक्ति का उभयत्व युक्तियुक्त ही है' किया है। 'ब्रह्मणस्ते पादं ब्रवाणि......' श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २८ का अर्थ 'आत्म प्रतिपादक श्रुति में, जो लोक में कहीं नहीं दिखाई पड़ते ऐसे विचित्र भाव सुनाई पड़ते हैं' किया है। 'एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्' श्रुति उद्धृत है।

अधि० १०— दोनों आचार्यों ने 'सर्वोपेताधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें सूत्र ३० और ३१ का समावेश किया है तथा ब्रह्म सर्वशक्ति युक्त है इस विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र ३०)—'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' का अर्थ 'श्रुति में ब्रह्म के सर्व-शक्ति युक्त दर्शन से वह सर्वशक्ति सम्पन्न है' किया है। छां० ३।१४।४; ८।७।१, मु० १।७।६, बृ० ३।८।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ३१)—'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्' का अथ 'करण रहित होने से वह शक्ति युक्त नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं इस विषय में प्रथम कहा जा चुका है' किया है। बृ० ३।८।८, श्वे० ३।१६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त अधिकरण में केवल एक ही सूत्र ३० रक्खा है और उसका अर्थ 'सब श्रुतियों ने शक्ति का ही प्रतिपादन किया है।' बृ०१।३।६ — 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्......' 'उमां हैमवतीम्' 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र ३१ को 'विकरणाधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसका अर्थ 'कर-णादि रहित होने से ब्रह्म का आकार सम्भव नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं

क्योंकि जीव शरीर और ब्रह्म शरीर का भेद पहले कहा जा चुका है' किया है। श्वे० ६।८, ३।१७, बृ० ३।८।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'प्रयोजनत्वाधिकरण' की संज्ञा दी है, परन्तु संख्या का भेद है। शंकर इसे ११ और पञ्चानन इसे १२ की संख्या देते हैं। शंकर इसमें ब्रह्म की प्रवृत्ति लीलामात्र मानते हैं।

(सूत्र ३२)—'न प्रयोजनवत्वात्' का अर्थ 'चेतन ब्रह्म जगत् का कर्त्ता नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति प्रयोजन सहित होती है' किया है (पूर्व पक्ष)। बृ० २।५।५ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ३३)—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' का अर्थ 'संसार में जैसे कोई पुरुष किसी प्रयोजन के बिना लीलामात्र के लिये प्रवृत्ति करे वैसे ही ब्रह्म की प्रवृत्ति भी लीलामात्र के लिये है' किया है।

श्री पञ्चानन जी उक्त अधिकरण में ब्रह्म का उमा रूप ग्रहण एवं जगत् सर्जन लीला मात्र के लिये है, इस विषय का प्रतिपादन करते हैं। दोनों सूत्रों का अर्थ भी क्रमशः यही है। 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये............'श्रुति उद्धृत है।

अधि० १२—दोनों आचार्यों ने 'वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण' की संज्ञा दी है, परन्तु संख्या का उक्त भेद यहाँ भी वर्तमान है। शंकर इसमें ३४-३६ सूत्रों का समावेश करते हैं और ब्रह्म में वैषम्यनैर्घृण्य दोषों का अभाव है, इस विषय का विवेचन करते हैं।

(सूत्र ३४)—'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' का अर्थ 'श्रुति के अनुसार ईश्वर में विषमता निर्दयता आदि दोष नहीं हैं क्योंकि वह जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा सहित सृष्टि रचता है' किया है। कौ० ब्रा० ३।८, बृ० ३।२।१३, गीता ४।११ श्रुतियाँ तथा स्मृति उद्धृत हैं।

(सूत्र ३५)—'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' का अर्थ 'भिन्नता न होने से सृष्टि के पूर्व कर्म नहीं था, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि अनादि है' किया है।

(सूत्र ३६)—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' का अर्थ 'युक्ति एवं श्रुति प्रमाण द्वारा सृष्टि का अनादित्व ही सिद्ध होता है' किया है। छां० ६।३।२, ऋ० सं० १०।१९०।३, गीता १५।३ श्रुतियाँ तथा स्मृति उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में ३४-३५ सूत्र ही रखे हैं और उनका अर्थ शंकर के समान ही किया है। सूत्र ३६ को नवीन अधिकरण 'उपपत्त्यधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें परम्परा की दृष्टि से सृष्टि अनादि

एवं व्यक्ति की दृष्टि से सादि है, इस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र ३६ का अर्थ 'कर्म का अविभाग होने पर भी योग्यता की अपेक्षा से उत्पत्ति होती है' किया है।

अ.ध. १३—दोनों आचार्यों ने 'सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण' की संज्ञा दी है, परन्तु संख्या का भेद है। शङ्कर ने इसे १३ और पञ्चानन जी ने १५ संख्या दी है। शङ्कर ने ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि धर्मों के होने से वेदान्त मत निर्दोष है, इस विषय की व्याख्या की है। 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' सूत्र का अर्थ भी यही है।

श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में चिदचिद् ब्रह्मवाद में पक्षपातादि दोषों का अभाव, पहले के सूत्र का सम्बन्ध, तथा प्राचीन नवीन व्याख्या—आदि विषयों का विवेचन किया है। सूत्र का अर्थ 'विरुद्ध अविरुद्ध धर्मों की चिदचिदात्मक ब्रह्म में उपपत्ति है अतः कोई दोष नहीं है' किया है। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' 'एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्..... ' 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च' 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव......''सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते......' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

इस प्रकार इस पाद में शंकर ने जहाँ १३ अधिकरण माने हैं वहाँ पञ्चानन जी ने उनकी संख्या १५ स्वीकार की है।

द्वितीय पाद :—

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'रचनानुपपत्त्यधिकरण' की संज्ञा दी है तथा इसमें सांख्य मत की समर्थक युक्तियाँ और उनका निराकरण किया है। (सूत्र १)—'रचनानुपपत्तेश्च' का अर्थ 'संसार की रचना की उपपत्ति न लगने से अचेतन प्रधान जगत् का कारण हो सकता है, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता' किया है।

(सूत्र २)—'प्रवृत्तेश्च' का अर्थ 'प्रवृत्ति न होने से जड़ प्रधान कारण नहीं हो सकता' किया है।

(सूत्र ३)—'पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि' का अर्थ 'दूध और जल के समान अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि उन्हें (जल दूध को) भी चेतन ही प्रवृत्त करता है' किया है। बृ० ३।७।४, ३।८।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ४)—'व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्' का अर्थ 'प्रकृति पुरुष की भिन्न स्थिति न होने से अपेक्षा रहित प्रधान कभी परिणाम को प्राप्त होगा और कभी नहीं भी होगा' किया है।

(सूत्र ५)—'अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्' का अर्थ 'तृणादि के समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं बन सकता, क्योंकि गाय के अतिरिक्त अन्यत्र तृणादि से दूध का अभाव है' किया है ।

(सूत्र ६)—'अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्' का अर्थ 'प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति के स्वीकार करने में भी पुरुषार्थ के अभाव से दोष की प्राप्ति होती ही है' किया है ।

(सूत्र ७)—'पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि' का अर्थ 'अन्धे और पंगु पुरुष के समान अथवा लोह–चुम्बक पत्थर के समान पुरुष प्रधान को प्रवृत्त नहीं कर सकता क्योंकि तब भी दोष की निवृत्ति नहीं होती' किया है ।

(सूत्र ८)—'अंगित्वानुपपत्तेश्च' का अर्थ 'अंगांगि भाव की सिद्धि न होने से महत् आदि की उत्पत्ति असम्भव है' किया है ।

(सूत्र ९)—'अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्' का अर्थ 'प्रधान के ज्ञ–शक्ति रहित होने के कारण वह सृष्टि रचना नहीं कर सकता' किया है ।

(सूत्र १०)—'विप्रतिषेधाच्चासमंजसम्' का अर्थ 'सांख्य मत विरोध युक्त होने से अयोग्य है' किया है ।

श्री पंचानन जी ने प्रथम सूत्र का अर्थ 'सांख्य स्मृति ठीक नहीं है क्योंकि उसमें असंख्य पुरुषों के भोगार्थ एक प्रकृति रचना में प्रवृत्त होती है, जो युक्ति संगत नहीं है' किया है ।

सूत्र २ का अर्थ 'चेतन के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इससे भी सांख्य मत असंगत है' किया है ।

सूत्र ३ से ८ तक का अर्थ शंकर के समान ही किया है । सूत्र ९ का अर्थ 'ज्ञ–शक्ति रहित होने से प्रकृति जगत् रचना में असमर्थ होती है किन्तु चिद्-चिदात्मक शक्ति ही युक्ति युक्त है' किया है । सूत्र १० का अर्थ 'विशेष रूप से निषिद्ध होने के कारण सांख्य मत असंगत है' किया है ।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'महद्दीर्घाधिकरण' संज्ञा दी है । शंकर ने इसमें वैशेषिक मत, चेतन से अचेतन की उत्पत्ति संभव है, आदि विषयों का विवेचन किया है । (सूत्र ११)—'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' का अर्थ 'ह्रस्व द्वयणुक और परिमण्डल परमाणु से जैसे महत् और दीर्घ उत्पन्न होते हैं वैसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न हो सकता है' किया है ।

श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में अपने मत स्वरूपाद्वैतवाद में वैशेषिक मत द्वारा संभावित दोषों का निराकरण किया है । सूत्र ११ का अर्थ 'जैसे ह्रस्व द्वयणुक से महद् दीर्घ तथा त्र्यणुकादि उत्पन्न होते हैं, परिमण्डल

से ह्रस्व अणु तथा द्वयणुक उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होने पर भी अपने कारण (ब्रह्म) को अपने धर्मों से अभिभूत नहीं करता' किया है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'परमाणुजगत्कारणत्वाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, परमाणुओं के नित्यत्व आदि धर्म सिद्ध नहीं होते, पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं; वैशेषिकों का स्वतन्त्र खण्डन, अयुतसिद्धि का खण्डन आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र १२)—'उभयथापि न कर्मातस्तदभावः' का अर्थ 'दोनों आचार्यों ने 'संयोग और वियोग अर्थात् सृष्टि और प्रलय दोनों में भी परमाणुओं की क्रिया नहीं बन सकती, अतः परमाणुओं का जगदुपादानत्व असम्भव है' किया है।

(सूत्र १३)—'समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'समवाय सम्बन्ध के स्वीकार करने से सृष्टि और प्रलय काल में परमाणुओं के साम्य से अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है' किया है।

(सूत्र १४)—'नित्यमेव च भावात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्रवृत्ति के नित्य होने से प्रलयादि का अभाव होगा' किया है।

(सूत्र १५)—'रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययोदर्शनात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परमाणुओं के रूपादि से युक्त होने के कारण वैशेषिक मत भ्रांति युक्त है क्योंकि जगत् में देखते हैं कि रूपादियुक्त वस्तु अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होती है' किया है।

(सूत्र १६)—'उभयथा च दोषात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'दोनों प्रकार से दोष की प्राप्ति होने के कारण वैशेषिक मत अयुक्त है' किया है।

(सूत्र १७)—'अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'शिष्ट पुरुषों–मनु, व्यास आदि के द्वारा अमान्य होने से परमाणु कारणवाद अत्यन्त अनादर करने योग्य है' किया है।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने नाम 'समुदायाधिकरण' दिया है। शंकर ने इसमें बौद्ध मत का खण्डन, अविद्यादि से समुदाय सिद्ध नहीं होता, पदार्थ मात्र क्षणिक होने से कारण की सिद्धि नहीं होती, आकाश का स्वरूप, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र १८)—'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः' का अर्थ 'परमाणु और रूपादि के उभय हेतु वाले बाह्य और आध्यात्मिक समुदाय में भी समुदाय की प्राप्ति नहीं होती' किया है।

(१६)—'इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्' का अर्थ 'अविद्यादि अन्योन्य का कारण होने से संघात बन सकेगा ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यादि उत्तरोत्तर उत्पत्ति में केवल निमित्त रूप हैं' किया है।

(सूत्र २०)—'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' का अर्थ 'उत्तर क्षण की उत्पत्ति में पूर्व क्षण के कार्य का निरोध होता है इसलिये संघात की सिद्धि नहीं होगी' किया है।

(सूत्र २१)—'असति प्रतिज्ञोपरोधोयौगपद्यमन्यथा' सूत्र का अर्थ 'कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहने से प्रतिज्ञा की हानि होती है और वैसा न कहें तो उत्तर क्षण की उत्पत्ति तक पूर्व लक्षण की अवस्थिति प्राप्त होने से कार्य कारण के एक ही काल में वर्तमान होने का दोष प्राप्त होता है' किया है।

(सूत्र २२)—'प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्' का अर्थ 'प्रवाह के न रुकने से बुद्धि पूर्वक तथा अबुद्धि पूर्वक विनाश की सिद्धि नहीं होती' किया है।

(सूत्र २३)—'उभयथा च दोषात्' का अर्थ 'दोनों प्रकार से दोष की की प्राप्ति होने से बौद्ध दर्शन अयुक्त है' किया है।

(सूत्र २४)—'आकाशे चाविशेषात्' का अर्थ 'आकाश को स्वरूपहीन कहना अव्यक्त है क्योंकि वह विशेष नहीं है' किया है। तै० २।१ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २५)—'अनुस्मृतेश्च' का अर्थ 'अनुस्मृति से आत्मा की स्थिरता सिद्ध होती है' किया है।

(सूत्र २६)—'नासतो दृष्टत्वात्' का अर्थ 'अन्य कहीं दृष्ट न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती' किया है।

(सूत्र २७)—'उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः' का अर्थ 'इस प्रकार अभाव से भी भाव की उत्पत्ति हो सके तो प्रयत्न न करने वालों को भी इच्छित पदार्थ की सिद्धि होनी चाहिये' किया है।

श्री पञ्चानन जी उक्त अधिकरण में तर्क द्वारा बौद्ध मत का खण्डन आरम्भ करके वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक मत का खण्डन करते हैं।

सूत्र १८ का अर्थ 'वैभाषिक मत में प्रत्यक्ष प्रमाण होने से तथा सौत्रान्तिक मत में अनुमान प्रमाण होने से दोनों का हेतुक होने पर भी संघात की असिद्धि होती है' किया है।

सूत्र १९-२७ तक का अर्थ शङ्कर के समान ही किया है।

अधि० ५ —दोनों आचार्यों ने 'अभावाधिकरण' संज्ञा दी है। शङ्कर ने इसमें २८ से ३२ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है। विज्ञानवादी बौद्धों का मत उसका खण्डन, ज्ञान वासनामूलक नहीं है, पदार्थ के अभाव में वासना उत्पन्न नहीं होती, वासना के आश्रय का अभाव आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र २८)—'नाभाव उपलब्धेः' का अर्थ 'बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष होने से उनका अभाव सम्भव नहीं है' किया है ।

(सूत्र २९)—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' का अर्थ 'विरुद्ध धर्मी होने के कारण स्वप्न आदि के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था का ज्ञान बाह्य पदार्थ के अवलम्बन बिना नहीं होता' किया है।

(सूत्र ३०) —'न भावोऽनुपलब्धेः' का अर्थ 'बाह्य वस्तु के अभाव से वासना की उत्पत्ति नहीं हो सकती' किया है।

(सूत्र ३१)—'क्षणिकत्वाच्च' का अर्थ 'आलय विज्ञान क्षणिक होने से वासना का आश्रय नहीं हो सकता' किया है।

(सूत्र ३२)—'सर्वथानुपपत्तेश्च' का अर्थ 'बौद्ध दर्शन सब प्रकार से युक्ति हीन होने के कारण आदरणीय नहीं है' किया है।

श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में २८ से ३१ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है तथा सूत्र ३२ को नवीन अधिकरण 'सर्वथानुपपत्त्यधिकरण' माना है एवं उसमें शून्यवाद का खण्डन किया है।

सूत्र २८ का अर्थ 'अबाधित प्रत्यय का विषय होने से बाह्य पदार्थों का अभाव ठीक नहीं है' किया है।

सूत्र २९ का अर्थ 'जाग्रत् प्रत्यय और स्वप्न प्रत्यय समान नहीं होते क्योंकि जाग्रत् का ज्ञान बहिरिन्द्रिय सन्निकर्ष जन्य होता है और स्वप्न का ज्ञान माया जन्य' किया है।

सूत्र ३०,३१ का अर्थ शंकर के समान ही किया है।

सूत्र ३२ का अर्थ 'प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमा आदि सभी तत्वों की उपपत्ति न होने से 'शून्यवाद' सर्वथा तुच्छ सिद्धान्त है' किया है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण' संज्ञा दी है परन्तु संख्या में भेद है। शंकर इसे षष्ठ अधिकरण मानते हैं, श्री पंचानन जी सप्तम। दोनों ने इसमें जैन मत—सप्तभंगी न्याय, जीव मध्यम परिमाण नहीं है—आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र ३३)—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' का अर्थ शंकर ने एक ही वस्तु में अनेक धर्मों के असम्भव होने से जैनदर्शन युक्तिसंगत नहीं है' किया है।

(सूत्र ३४)—'एवं चात्माऽकात्स्न्यर्म्' का अर्थ शंकर ने 'इसी प्रकार आत्मा की परिच्छिन्नता का दोष भी इस दर्शन में प्राप्त होता है' किया है।

(सूत्र ३५)—'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः' का अर्थ 'अवयव प्रथम मिलते हैं फिर घट जाते हैं ऐसा पर्याय मानने से भी आत्मा के देह परिमाणत्व में अविरोध नहीं होता' किया है।

(सूत्र ३६)—'अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः' का अर्थ 'आत्मा का अन्तिम परिमाण नित्य होने से आदि तथा मध्य के उभय परिमाण नित्य होंगे और उससे परिमाण की समानता प्राप्त होगी' किया है।

श्री पंचानन जी ने सूत्र ३३ का अर्थ 'जीव को देह परिमाण वाला मानने से योगी द्वारा सृष्ट दूसरे देह में उसका अभाव होने के कारण जीव का देह परिमाणत्व संभव नहीं है' किया है।

सूत्र ३४ का अर्थ 'आत्मा को देह परिमाण मानने से एक ही आत्मा में विभिन्न परिमाण नहीं रह सकते' किया है।

सूत्र ३५ का अर्थ 'मनुष्य जन्मके अनन्तर हस्तिजन्म और उसके पश्चात् पुत्तिकाजन्म इस क्रम से अवयवों के नाश और पुनः उत्पत्ति के कारण एक ही आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिमाणों का अविरोध नहीं होगा अर्थात् विरोध होगा' किया है।

सूत्र ३६ का अर्थ 'मुक्त जीवों की जो अवस्थिति है उसका हेतु है मुक्ति और मुक्त जीव दोनों का नित्यत्व, सब अवस्थाओं में जीव के अवयवों की घटा-बढ़ी से उसके नित्यत्व की हानि होगी' किया है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'पत्यधिकरण' संज्ञा दी है परन्तु संख्या का उक्त भेद यहां भी विद्यमान है। शंकर ने इसमें ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण नहीं है, इस विषय का विवेचन किया है, क्योंकि शकर ईश्वर को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण मानते हैं।

(सूत्र ३७)—'पत्युरसामंजस्यात्' का अर्थ 'अयुक्त होने से ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण सिद्ध नहीं होता' किया है।

(सूत्र ३८)—'संबंधानुपपत्तेश्च' का अर्थ 'सम्बन्ध न मिलने से यह मत अयुक्त है' किया है।

(सूत्र ३९)—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' जा अर्थ 'अधिष्ठान की सिद्धि न होने से भी यह मत असंगत है' किया है।

(सूत्र ४०)—'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' का अर्थ 'इन्द्रियों के समान ईश्वर प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि उससे उसे भोगादि की प्राप्ति होगी' किया है।

(सूत्र ४१)—'अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा' का अर्थ 'अन्त वाला अथवा असर्वज्ञ हो जाने से ईश्वर का यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है' किया है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में शंकर के विवर्तवाद का खण्डन किया है। सूत्र ३७ का अर्थ 'ईश्वर को श्रुति में 'सर्वस्याधिपति' कहा है। चिन्मात्र ब्रह्म अपरिणामी होने से उसका 'पतित्व' ठीक नहीं बैठता' किया है।

सूत्र ३८ का अर्थ 'जगत् को माया-जन्य मानने से माया और ब्रह्म का सम्बन्ध उत्पन्न नहीं होता' किया है।

सूत्र ३९ का अर्थ 'ब्रह्म माया का अधिष्ठाता भी नहीं बन सकता' किया है। सूत्र ४० का अर्थ 'जीव जैसे इन्द्रियादि से युक्त होकर कार्य करता है वैसे ही ब्रह्म का मायाधिष्ठित होकर जगत्-रचना में प्रवृत्त होना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि तब ईश्वर को भी जीव के समान भोगादि की प्राप्ति होने लगेगी' किया है।

सूत्र ४१ का अर्थ 'माया द्वारा ब्रह्म के प्रकाश का तिरोहित होना उसके स्वरूप का नाश कहा जाएगा, इस प्रकार ब्रह्म के असर्वज्ञ और विनाशवान् होने से भी विवर्त्तवाद सर्वथा असमंजस है' किया है।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या के पूर्व भेद के साथ साथ सूत्र भेद भी वर्तमान है। शंकर ने इसमें ४२ से ४५ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है। दोनों आचार्यों ने इसमें भागवत मत का खण्डन किया है।

(सूत्र ४२)—'उत्पत्त्यसम्भवात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीव की उत्पत्ति के असम्भव होने से यह मत अयुक्त है' किया है।

(सूत्र ४३)—'न च कर्तुःकरणम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'कर्त्ता से कारण की उत्पत्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती' किया है।

(सूत्र ४४)—'विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'सब वासुदेव ही है, ऐसा मानने पर भी उक्त दोष दूर नहीं होता' किया है।

(सूत्र ४५)—'विप्रतिषेधाच्च' का अर्थ शंकर ने 'बहुत प्रकार का विरोध के कारण यह मत असंगत है' किया है।

श्री पञ्चानन जी इस सूत्र को नवीन अधिकरण 'विप्रतिषेधाधिकरण' मानते हैं और इसमें पाशुपत मत का खण्डन करते हैं, क्योंकि वह वेद-विरुद्ध है। इस प्रकार श्री पञ्चानन जी ने इस पाद में दस अधिकरण स्वीकार किये हैं जबकि शंकर ने आठ ही अधिकरण माने हैं।

तृतीय पाद :

अधि० १ — दोनों आचार्यों ने 'वियदधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें आकाश के नित्यत्व का विरोध एवं उसकी उत्पत्ति को मान्यता दी है।

(सूत्र १)—'न वियदश्रुतेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति में वर्णित न होने के कारण आकाश उत्पन्न नहीं होता' किया है (पूर्व पक्ष)। दोनों ने छां० ६।२।२,३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २)—'अस्ति तु' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परन्तु अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति है' किया है। प्रमाण-स्वरूप शंकर ने तै० २।१; छां० ६।२।३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं, जबकि पञ्चानन जी ने 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खंवायुर्ज्योतिरापः.........' यह मुण्डक श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ३)—'गौण्यसम्भवात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आकाश की उत्पत्ति असम्भव होने से उत्पत्ति श्रुति गौणी है' किया है। प्रमाण-स्वरूप पञ्चानन जी ने तै० २।१ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ४)—'शब्दाच्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति से भी आकाश की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती' किया है। शंकर ने बृ० २।३।३; तै० १।६।२, १।७।२ 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' श्रुतियां उद्धृत की हैं। श्री पंचानन जी ने इनमें से केवल बृ० २।३।३ तथा 'आकाशवत्......' दो ही श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ५)—'स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'उत्पत्ति शब्द के एक होते हुए भी विषय के अनुसार उसका ब्रह्म शब्द के समान गौण और मुख्य अर्थ में प्रयोग होता है' किया है। दोनों आचार्यों ने तै० ३।२ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ६)—'प्रतिज्ञा हानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'कार्य-कारण का अभेद मानने से और श्रुति प्रमाणों से भी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती' किया है। शंकर ने छां० ६।१।१, ६।२।१, ६।२।३, ६।७।८, ३।१४।१; बृ० ४।५।६, २।४।६; मु० २।२।११; तै० २।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं। श्री पंचानन जी ने इनमें से केवल छां० ६।१।१ ही उद्धृत की है।

(सूत्र ७)—'यावद्विकार तु विभागो लोकवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'संसार के सभी विकार-समूह विभाग-युक्त हैं। आकाश भी पृथिवी आदि से भिन्न होने के कारण विकारवान् है। अतः उसकी भी अन्य भूतों के समान उत्पत्ति युक्ति-युक्त ही है' किया है। शंकर ने तै० २।१; बृ० ३।८।८, ३।४।२;

श्वे० ४।१९ तथा श्री पञ्चानन जी ने 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'मातरिश्वाधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने इसमें वायु की भी उत्पत्ति होती है इस विषय की व्याख्या की है। श्री पंचानन जी ने इसके साथ साथ इस अधिकरण में स्व-सिद्धान्त स्वरूपाद्वैत-वाद की भी स्थापना की है।

(सूत्र ८)—'एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आकाश के व्याख्यान से वायु की भी व्याख्या हुई समझनी चाहिए' किया है। शंकर ने तै० २।१ ; बृ० १।५।२२ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने असंभवाधिकरण संज्ञा दी है तथा इसमें ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं होती, इस विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र ९)—'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'छान्दोग्य श्रुति में वर्णित 'सत्' स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती' किया है। शंकर ने छां० ८-७-१, श्वे० ३।९ तथा पंचानन जी ने 'असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'न चास्य कश्चिज्जनिता' 'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'तेजोऽधिकरण' संज्ञा दी है और इसमें तेज की उत्पत्ति का विचार किया है।

(सूत्र १०)—'तेजोऽतस्तथा ह्याह' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'वायु से तेज उत्पन्न होता है, क्योंकि श्रुति में वैसा ही कहा है' किया है। दोनों ने तै० २।१।१ श्रुति उद्धृत की है। श्री पंचानन जी ने 'नैवेह किंचनाग्र आसी-न्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् ....तेजा रसो निरवर्त्ततान्गिः' अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'अवधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें जल की उत्पत्ति का विचार किया है।

(सूत्र ११)—'आपः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जल तेज से उत्पन्न होता है' किया है। शंकर ने छां० ६।२।३, तै० २।१।१ श्रुतियां तथा पंचानन जी ने इनके अतिरिक्त 'अप एव ससर्जादौ' स्मृति उद्धृत की है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'पृथिव्यधिकाराधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों छान्दोग्य ६।२।४ में अन्न शब्द का अर्थ पृथिवी ही है—विषय का विवेचन करते हैं। (सूत्र १२)—'पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः' का अर्थ दोनों

आचार्यों ने 'प्रकरण लक्षण तथा अन्य श्रुति प्रमाण से अन्न शब्द पृथिवी-वाचक ही है' किया है। दोनों ने बृ० १।२।२; तै० २।१।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'तदभिध्यानाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें पंचमहाभूतों को परमेश्वर ही ध्यान द्वारा क्रमशः उत्पन्न करता है—विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १३)—'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः' का अर्थ 'वह ब्रह्म ही भूतों के विकारों का ध्यान करते हुए उन्हें उत्पन्न करता है, क्योंकि श्रुति में उसके ऐसे ही लक्षण मिलते हैं' किया है। तै० २।६।१, बृ० ३।७।३, ३।७।२३; छां० ६।२।३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में 'तेजादि की सृष्टि में सत्-कारणत्व' की व्यवस्था का विवरण दिया है। सूत्र १३ का अर्थ 'उस परमेश्वर का संकल्प ही सब कार्यों के प्रति साक्षात् कारण है, श्रुति में भी ऐसा ही ज्ञापक है' किया है। 'सोऽकामयत......' 'इदं सर्वमसृजत यदिदं......' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'विपर्ययाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें भूत-सृष्टि में 'प्रलय तथा उत्पत्ति-क्रम' का विवेचन किया है। (सूत्र १४) 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' का अर्थ शंकर ने 'प्रलय का क्रम उत्पत्ति के क्रम से विपरीत है, अतः वह ठीक ही है' किया है। तै० ३।१।१ श्रुति तथा 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते......' स्मृति उद्धृत की है।

श्री पंचानन जी ने उक्त सूत्र का अर्थ 'सृष्टि की उत्पत्ति सीधे ब्रह्म से है अथवा आकाशादि-क्रम से ऐसा संशय होने पर पौर्वापर्य क्रम से ही हुई, यह निश्चय होता है' किया है।

अधि० ९—दोनों आचार्यों ने 'अन्तराविज्ञानाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें मन-बुद्धि की उत्पत्ति भूतों की उत्पत्ति के ही अन्तर्गत है, इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १५)—'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिंगादिति चेन्नाविशेषात्' का अर्थ 'बुद्धि और मन की उत्पत्ति तथा लय भिन्न क्रम से माननी चाहिए, क्योंकि श्रुति में उनके लक्षण मिलते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इनमें और भूतों में भेद नहीं है' किया है। छां० ६।५।४ श्रुति उद्धृत है। श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः' इस आथर्वण श्रुति द्वारा प्राण और प्रज्ञा की अभेद-स्थापना की है। सूत्र १५ का अर्थ भी यही किया है। ऐत० ३।२१ श्रुति उद्धृत है।

अधि० १०—दोनों आचार्यों ने 'चराचरव्यपाश्रयाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें केवल सूत्र १६ समाविष्ट किया है तथा उत्पत्तिका कथन चराचर देह के लिये मुख्यतया है, जीव की उत्पत्ति गौण है, क्योंकि शरीर से ही उसके जन्म-मरण का निर्देश होता है, इस विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र १६)—'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्' का अर्थ भी यही है। छां० ६।११।३; बृ० ४।३।८ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस अधिकरण में १६-१७ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है तथा आकाश-वाय्वादि शब्द की ब्रह्म-वाचकता स्थापित की है। सूत्र १६ का अर्थ 'लक्षणा से संसार की सब वस्तुएं ब्रह्म की वाचक हैं जो आकाशादि भाव को प्राप्त किए हैं' किया है (पूर्व पक्ष)। सूत्र १७ में इसका उत्तर दिया है यथा 'इससे श्रुति का विरोध होता है अतः यह ठीक नहीं, सब जगत् सत्य है। ब्रह्म में आकाशादि शब्द गौण नहीं मुख्य ही हैं' किया है। 'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः.........' छां० ७।२५।२१; बृ० ४।४।२०,२२; मुं० १।२।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

शंकर ने सूत्र १७ को नवीन 'आत्माधिकरण' माना है तथा उसमें जीव-ब्रह्म के भेद का उपाधि-निमित्तत्व तथा आत्मा का नित्यत्व वर्णित है। 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' का अर्थ 'आत्मा उत्पन्न नहीं होता क्योंकि श्रुति में आत्मा की उत्पत्ति नहीं मिलती, वह नित्य है, श्रुति के भी वैसे ही प्रमाण हैं' किया है। छां० ६।११।३, ६।३।२, ६।८।७; बृ० ४।४।२२, १।४।७, १।४।१०, २।५।१९, ४।४।५, ४।५।१३,१४, ४।३।१५; कठ० २।१८; तै० २।६।१; श्वे० ६।११ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'ज्ञाधिकरण' संज्ञा दी है परन्तु संख्या का भेद है। शंकर ने इसे १२ और पंचानन जी ने ११ संख्या दी है। (सूत्र १८)—'ज्ञोऽतएव' का अर्थ शंकर ने 'इसलिये जीवात्मा नित्य ज्ञान-स्वरूप है' किया है। बृ० ३।६।२८, ४।५।१३, ४।३।११, ४।३।६, ४।३।३०, ४।३।२३; तै० २।१।१; छां० ८।१२।४, ८।१।४ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त सूत्र का अर्थ 'श्रुति से ही वह जीव और ब्रह्म एक ज्ञत्व रूप है' किया है। मुं० १।१।१; क० २।५।६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० १२—दोनों आचार्यों ने 'उत्क्रान्तिगत्याधिकरण' संज्ञा दी है, परन्तु संख्या का उक्त भेद यहाँ भी विद्यमान है, तथा इसमें जीव के परिमाण का विचार किया गया है। (सूत्र १९)—'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीव अणु है क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति, गति और आगमन

की श्रुतियाँ मिलती हैं' किया है (पूर्व पक्ष)। श्रुतियाँ भी दोनों ने कौषी० ३।३, १।२; बृ० ४।४।६ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २०)— 'स्वात्मना चोत्तरयोः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'गति और आगमन का अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जीव अणु ही है' किया है (पूर्व पक्ष)। शंकर ने बृ० ४।४।१,२, ४।३।११ तथा पञ्चानन जी ने 'अनेन जीवेन आत्मानानुप्रविश्य' श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र २१)—'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीवात्मा अणु परिमाण नहीं है, क्योंकि श्रुति में उसका अणु परिमाण से भिन्न परिमाण लिखा है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जहाँ ऐसा कहा है वह जीव का प्रकरण नहीं है' किया है। दोनों ने बृ० ४।४।२१,२२ शङ्कर ने तै० २।१।१ तथा पञ्चानन जी ने मु० १।१।६, 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितम्' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २२)—'स्वशब्दोन्मानाभ्याम् च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति के अणुत्व-वाचक शब्द द्वारा तथा जीव के अत्यन्त सूक्ष्मत्व के कथन द्वारा जीवात्मा अणु ही सिद्ध होता है' किया है। शङ्कर ने मुं० ३।२।६; श्वे० ५।८,६ तथा पञ्चानन जी ने इनमें से मुं० ३।२।६ तथा श्वे० ५।६ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २३)—'अविरोधश्चन्दनवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'चन्दन के समान इसमें विरोध नहीं है' किया है।

(सूत्र २४)—'अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'चन्दन-बिंदु की एक विशिष्ट स्थान पर स्थिति होने से वह दृष्टान्त ठीक नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि जीव की स्थिति हृदय में ही मानी गई है' किया है। दोनों ने प्र० ३।६; छां० ८।३।३; शङ्कर ने बृ० ४।३।७ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र२५)—'गुणाद्वालोकवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जैसे लोक में देखा जाता है कि एक दीप से समस्त गृह-प्रदेश आलोकित होता है, वैसे ही जीव के चैतन्य गुण के कारण विरोध की प्राप्ति नहीं होगी' किया है।

(सूत्र २६)—'व्यतिरेको गन्धवत्' दोनों आचार्यों ने इसका अर्थ 'गन्ध के समान चैतन्य गुण जीवात्मा से पृथक् रह सकेगा' किया है।

(सूत्र २७)—'तथा च दर्शयति' दोनों आचार्यों ने इसका अर्थ 'श्रुति भी वैसा ही दिखलाती है' किया है। दोनों ने छां० ८।८।१ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र २८)—'पृथगुपदेशात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीवात्मा चैतन्य गुण से ही सब शरीर में व्याप्त रहता है; क्योंकि श्रुति में वैसा पृथक्तः उपदेश किया गया है' किया है। दोनों कौषी० ३।६, शंकर बृ० २।१।१७ श्रुतियाँ उद्धृत करते हैं।

(सूत्र २६)—'तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परन्तु जीव ईश्वर के समान ही विभु है उसके अणुत्व का कथन उसकी बुद्ध्यादि उपाधि के कारण से है' किया है। शङ्कर ने बृ० ४।४।२२; श्वे० ५।८,६, मुं० ३।१।६; कौषी० ३।६; प्र० ६।३,४; छां० ३।१४।१,२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं, श्री पञ्चानन जी ने कोई श्रुति उद्धृत नहीं की।

(सूत्र ३०)—'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्' दोनों आचार्यों ने इसका अर्थ 'जब तक आत्मा का जीव-भाव है तब तक बुद्धि की स्थिति होने से अनन्तरोक्त दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि श्रुति में वैसा ही प्रमाण है' किया है। शंकर ने बृ० ३।७।२३, १।४।७, ४।३।७, ४।४।५; छां० ६।८।७, ६।१।६, ६।८।१; श्वे० ३।८ तथा श्री पञ्चानन जी ने बृ० ४।३।७, श्वे० ३।८, 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च', 'विज्ञान-सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३१)—'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जैसे पुरुषत्व के चिह्न वर्तमान होने पर भी बाल्यकालादि में प्रकट नहीं होते तरुणावस्था में ही प्रकट होते हैं, वैसे ही बुद्धि-संयोग भी सुषुप्ति और प्रलय में विद्यमान ही रहता है और सृष्टि काल में पुनः प्रकट हो जाता है' किया है। शङ्कर ने छां० ६।९।२,३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं, श्री पञ्चानन जी ने कोई श्रुति उद्धृत नहीं की।

(सूत्र ३२)—'नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'अन्तःकरण का अस्तित्व न मानें तो अनुभव की प्राप्ति नित्य होगी या कभी भी नहीं होगी अथवा अन्य प्रकार से माने तो दोनों में से एक की शक्ति का प्रतिबन्ध मानना पड़ेगा' किया है। शंकर ने बृ० १।५।३ श्रुति उद्धृत की है, पंचानन जी ने कोई श्रुति उद्धृत नहीं की।

अधि० १३—दोनों आचार्यों ने 'कर्त्रधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का पूर्व भेद यहां भी वर्तमान है। दोनों इसमें जीवके कर्तृत्व का विचार करते हैं। (सूत्र ३३)—'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीव कर्ता है क्योंकि तभी शास्त्रों की आज्ञा 'स्वर्गकामो यजेत' आदि सार्थक होती है' किया है। शंकर ने केवल प्र० ४।८ तथा पंचानन जी ने 'तज्ज्वलानिति

शान्त उपासीत' श्रुति मनु० २।६०, याज्ञ० १।२६०, ३।१५६ स्मृतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३४)—'विहारोपदेशात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति में जीव के गमन का उपदेश है, अतः जीवात्मा ही कर्त्ता है' किया है। दोनों ने बृ० ४।३।११' इसके अतिरिक्त शंकर ने बृ० २।१।१८ तथा पंचानन जी ने बृ० ४।३।१६ 'निरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य…' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३५) --'उपादानात्' का अर्थ शंकर ने 'जीव इन्द्रियों को ग्रहण करता है, इससे भी वही कर्त्ता है' किया है। बृ० २१।१।१७, २।१।१८ श्रुतियां उद्धृत की है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'कर्त्तृत्व श्रुति में बुद्धि और आत्मा दोनों का ही ग्रहण होने से वह कर्त्ता है' किया है। 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बौद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ३६)—'व्यपदेशाच्च क्रियायां न तन्निर्देशविपर्ययः' का अर्थ शंकर ने 'लौकिक तथा वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा को ही श्रुति ने कर्त्ता बताया है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो श्रुति में विरुद्ध उपदेश पाया जाता' किया है। तै० २।५।१; बृ० २।१।१७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त सूत्र का अर्थ 'बोध क्रियाओं का विलक्षणतया कथन होने से बुद्धि मात्र का कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो पूर्व निर्देश 'बुद्धिश्च बोद्धव्याच्च' का बाध हो जाता' किया है।

(सूत्र ३७)—'उपलब्धिवदनियमः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'उपलब्धि के समान ही जीवात्मा की प्रवृत्ति का भी नियम नहीं है' किया है।

(सूत्र ३८)—'शक्तिविपर्ययात्' का अर्थ शंकर ने 'बुद्धि को कर्त्ता मानने से बुद्धि की करण-शक्ति का नाश हो जाएगा। अतः जीव ही कर्त्ता है' किया है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'उपलब्ध सामग्री में जैसा शक्ति का प्रवेश होता है वैसा ही कार्य में भी होता है' किया है।

(सूत्र ३९)—'समाध्यभावाच्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'बुद्धि का कर्तृत्व मानने से समाधि का अभाव हो जाएगा' किया है। शंकर ने बृ० २।४।५; छां० ८।७।१; मुं० २।२।६ तथा पंचानन जी ने केवल बृ० २।४।५ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० १४–दोनों आचार्यों ने 'तक्षाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का उक्त भेद यहां भी वर्तमान है। शकर ने जीव के स्वाभाविक कर्तृत्व का निषेध, बुद्ध्यादि से युक्त जीव में कर्तृत्व स्वतन्त्र बुद्धि के कर्तृत्व का निषेध आदि विषयों की विवेचना की है।

(सूत्र ४०)—'यथा च तक्षोभयथा' का अर्थ जैसे बढ़ई बसूलादि ग्रहण कर दुःखी होता है और न होने से सुखी होता है वैसे ही जीव भी बुद्ध्यादि से उपहित होकर कर्त्ता होता है अन्यथा नहीं' किया है। बृ० ४।३।७, ४।३।२३, २।४।१४, ४।३।२१, ४।३।१३; तै० २।५।१, २।४; कठ० ३।४ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में कृति का ज्ञान अचित् का धर्म है, समानाधिकरण की स्थापना आदि विषयों का विवेचन किया है। सूत्र ४० का अर्थ 'जैसे बढ़ई चिदंश से इष्ट साधन रूप ज्ञानवान् होकर अचिदंश हाथ से कुठार धारण कर चिदचिदुभय प्रकार से लकड़ी को काटता है वैसे ही जीव भी 'चिदवच्छेदेन' इष्ट-साधनता रूप ज्ञानवान् होकर 'अचिदवच्छेदेन' कृतिमान् कर्त्ता होता है' किया है।

अधि० १५–दोनों आचार्यों ने 'परायत्ताधिकरण' संज्ञा दी है। पूर्व संख्या-भेद वर्तमान है तथा इसमें जीव के कर्तृत्व में ईश्वर की अपेक्षा का विचार किया गया है। (सूत्र ४१)–'परात्तु तच्छ्रुतेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परमेश्वर की अपेक्षा से ही जीव का कर्तृत्व है क्योंकि ऐसी ही श्रुति है' किया है। दोनों ने कौ० ३।८ 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ४२)—'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यादिभ्यः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति के विहित और निषिद्ध उपदेश को व्यर्थता न प्राप्त हो इसलिए परमात्मा जीव के पूर्व जन्म में किए गए तथा आगे होने वाले कर्मों की अपेक्षा रखता है' किया है।

अधि० १६–दोनों आचार्यों ने 'अंशाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें जीव ईश्वर का अंश है, श्रुति स्मृति का प्रमाण, जीव के दुःख से ईश्वर दुःखी नहीं होता, कर्मफल-व्यवस्था, तद्विषयक सांख्य-मत-समीक्षा, वैशेषिक मत-समीक्षा, आत्मा का व्यापकत्व और अद्वैतत्व आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र ४३)—'अंशो नानाव्यापदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वम-धीयते एके' का अर्थ 'जीवात्मा परमात्मा का अंश है क्योंकि श्रुति में जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं ऐसा कहा गया है तथा अभेद रूप से भी कहा गया

है। कुछ लोग ईश्वर ही पारधी जुआरी आदि है ऐसा पाठ करते हैं' किया है। बृ० ४।४।२२, ३।७।३३; छां० ८।७।१ ; श्वे० ४।३ ; तै० ३।१२।७ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ४४)—'मन्त्रवर्णाच्च' का अर्थ 'मंत्र वर्ण से भी जीवात्मा परमात्मा का अंश है, ऐसा विदित होता है' किया है। छां० ३।१२।६, ८।१५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ४५)—'अपि च स्मर्यते' का अर्थ 'स्मृति में भी ऐसा ही कहा है। भ० गी० १५।७ उद्धृत है।

(सूत्र ४६)–'प्रकाशादिवन्नैवं परः' का अर्थ 'प्रकाशादि के समान परमात्मा जीवात्मा के दुःखी होने पर दुःखी नहीं होता' किया है। छां० ६।८।७ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ४७)—'स्मरन्ति च' का अर्थ 'श्रुति स्मृति में भी यही कहा है' किया है। श्वे० ४।६; कठ० ५।११ श्रुतियां 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो-निर्गुणः स्मृतः......' 'कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबंधैः स युज्यते ...' स्मृतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ४८)—'अनुज्ञापरिहारो देहसंबंधाज्ज्योतिरादिवत्' का अर्थ 'ज्योति आदि के समान विधि-निषेध देह के संबंध से होते हैं' किया है। 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ४९)—'असंततेश्चाव्यतिकरः' का अर्थ 'सब शरीरों के साथ जीव का सम्बन्ध न होने से कर्म और फल का संकर नहीं होता' किया है।

(सूत्र ५०)–'आभास एव च' का अर्थ 'और जीव ब्रह्म का आभास ही है' किया है।

(सूत्र ५१)—'अदृष्टानियमात्' का अर्थ 'अदृष्ट का कोई नियम न होने से कर्मफल की उससे व्यवस्था नहीं बन सकती' किया है।

(सूत्र ५२)—'अभिसंध्यादिष्वपि चैवम्' का अर्थ 'आत्मा और मन के संयोग से विचार आदि होते हैं। उन विचारों के सम्बन्ध में भी वहीं दोष प्राप्त होता है' किया है।

(सूत्र ५३)–'प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्' का अर्थ 'शरीर में स्थित आत्मा का प्रदेश होने से कर्मफल की व्यवस्था बनेगी ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सब आत्माओं का सब शरीरों में अन्तर्भाव होने से कर्मफल की व्यवस्था नहीं बन सकेगी' किया है।

श्री पंचाननजी ने उक्त अधिकरण में प्रतिबिम्ब भाव से जीव का नानात्व, परमेश्वर के अंश रूप से जीव की व्यवस्था आदि विषयों का विवेचन किया है।

सूत्र ४३ का अर्थ 'जीव के विषय में जैसे एकत्व की श्रुति है वैसे ही 'प्रकारान्तरेण' नानात्व-प्रतिपादक श्रुति भी है, क्योंकि जीव एक ही परमेश्वर का अंश है, अतः अंशाभिप्रायेण उसका नानात्व है और अंशाभिप्रायेण एकत्व, आथर्वण शाखा वाले उसे 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' ऐसा भी पढ़ते हैं।' 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः......' 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र ४४ का अर्थ 'देवी सूक्त के मन्त्र में जीव परमात्मा का अंश रूप से वर्णित है' किया है। मन्त्र है 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः......' 'मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति......' आदि।

सूत्र ४५ का अर्थ शंकर के समान ही किया है। स्मृति भी वही उद्धृत की है 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' विशेष उद्धृत है।

सूत्र ४६ का अर्थ शंकर के समान ही है, उदाहरण में भेद है। श्रुति उद्धृत नहीं की है।

सूत्र ४७ का अर्थ शंकर के समान है, श्रुति स्मृति भी समान हैं।

सूत्र ४८ का अर्थ भी शङ्कर के समान है, श्रुति स्मृति में भेद है। बृ० ४।३।४,५ 'न ब्राह्मणायावगुरत्' श्रुति तथा 'श्राद्धशेषं भुंजीत' 'अष्टम्यां नारिकेलं नाश्नीयात्' स्मृतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र ४६ का अर्थ 'प्रतिबिम्ब जीव को स्वर्ग-नरकादि जिन भोगों की प्राप्ति होती है बिम्ब परमेश्वर में उनकी प्राप्ति न होने से शंकर नहीं होता' किया है।

सूत्र ५० का अर्थ शङ्कर के समान है। सूत्र ५१ का अर्थ 'धर्माधर्म इसी का अंश है दूसरे का नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है' किया है। सूत्र ५२ का अर्थ शंकर के समान है, मुं० २।१।१ श्रुति उद्धृत है। सूत्र ५३ का अर्थ शङ्कर के समान है। इस प्रकार इस पाद में शङ्कर ने १७ और पञ्चानन जी ने १६ अधिकरण माने हैं।

चतुर्थ पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'प्राणोत्पत्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। तथा इसमें प्राणों की उत्पत्ति का विचार किया है। (सूत्र १) 'तथा प्राणः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'इसी प्रकार प्राण भी उत्पन्न होते हैं' किया है। शङ्कर ने छां० ६।२।३, तै० २।१।१, २।७, बृ० २।१।२०, मुं० २।१।३, २।१।८, प्र० ६।४ तथा श्री पञ्चानन जी ने इनमें से केवल प्रथम दो श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र २)--गौण्यसम्भवात्' का अर्थ शङ्कर ने 'प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति की गौणता असम्भव होने से प्राण उत्पन्न होते हैं, यही सिद्ध होता है' किया है। मु॰ १।१।३, २।१।३, २।१।१०, २।२।११, २।१।२, बृ॰ २।४।५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'महाभूतों की सृष्टि के क्रम में प्राणों की उत्पत्ति का उल्लेख न होने से प्राण श्रुति गौण है' किया है (पूर्व पक्ष)। वह श्रुति है 'आपोमयः प्राणः'।

(सूत्र ३)—'तत्प्राक् श्रुतेश्च' का अर्थ शङ्कर ने 'उत्पत्तिवाचक पद श्रुति में पहले आता है इसलिये भी प्राण उत्पन्न होते हैं, यही सिद्ध होता है' किया है। प्र॰ ६।४, बृ॰ २।१।२० श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'सृष्टि से पूर्व की श्रुति 'असद्वा इदमग्र आसीत्.........' में प्राण शब्द आया है, अतः प्राणोत्पत्ति श्रुति गौण है' किया है' (पूर्व पक्ष)।

(सूत्र ४)—'तत्पूर्वकत्वाद्वाचः' का अर्थ शङ्कर ने 'वाणी उन भूतों से पहिले उत्पन्न होती है, ऐसा श्रुति में कथन है, इसीलिये प्राण उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है' किया है। छां॰ ६।२।३, ६।५।४, ६।१।३, ६।८।७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'वाक् शब्द से उपलक्षित इन्द्रिय समूह से पहले जिस मुख्य प्राण की उत्पत्ति कही गई है, वही प्राण है' किया है। बृ॰ ६।१।१, प्र॰ ६।४, मु॰ २।१।३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि॰ २—दोनों आचार्यों ने 'सप्तगत्यधिकरण' संज्ञा दी है। प्राण सात ही हैं, इसका विवेचन किया है। (सूत्र ५)—'सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्राण सात हैं, क्योंकि श्रुति से ऐसा ही ज्ञान होता है और श्रुति में उसके विशेषण भी दिये हैं' किया है (पूर्व पक्ष)। दोनों ने मु॰ २।१।८, बृ॰ ३।२।१, तै॰ सं॰ ५।१।७।१, शङ्कर ने बृ॰ ३।६।४, २।४।११,४।८, तै॰ सं॰ ७।५।१२ श्री पञ्चानन जी ने छां॰ ५।१।१५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ६)—'हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परन्तु हाथ आदि अधिक प्राण श्रुति में बताये गये हैं अतः उक्त सात प्राणों की कल्पना करना ठीक नहीं है' किया है। शङ्कर ने बृ॰३।२।८,३।६।४,१।५।३, तै॰ ७।५।१८। तथा पञ्चानन जी ने बृ॰ ३।६।४ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ३—शंकर ने 'प्राणाणुत्वाधिकरण' संज्ञा दी है तथा प्राण सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न हैं, इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ७) 'अणवश्च' का अर्थ भी यही है।

श्री पंचानन जी ने इसे 'अण्वधिकरण' संज्ञा दी है और सूत्र का अर्थ शंकर के समान किया है, व्याख्या में भेद है। 'सप्त वै शीर्षण्या द्वाववांचौ' 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' श्रुतियों के आधार पर व्याख्या की है। शंकर ने कोई श्रुति उद्धृत नहीं की है।

अधि० ४—शंकर ने 'प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण' संज्ञा दी है तथा इन्द्रियों से प्राण श्रेष्ठ हैं इसका विवेचन किया है। (सूत्र ८)—'श्रेष्ठश्च' का अर्थ 'मुख्य प्राण भी विकार रूप ही हैं' किया है। मु० २।१।२,३; छां० ५।१।१; बृ० ६।१।१३; ऋ० सं० ८।७।१७ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी इसे 'श्रेष्ठप्राणाधिकरण' संज्ञा देते हैं और श्रेष्ठ प्राणोत्पत्ति का विचार करते हैं। सूत्र का अर्थ शंकर के समान ही किया है। ऋ० सं० ८।७।१७ ; छां० ५।१।१ तथा 'प्राणस्य प्राणम्' 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'वायुक्रियाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें प्राण वायु रूप अथवा इन्द्रिय रूप नहीं है, वह स्वतन्त्र नहीं है, जीव का साधन है तथा प्राण की पांच वृत्तियों का विवरण दिया है।

(सूत्र ९)—'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' का अर्थ 'मुख्य प्राण वायु रूप अथवा क्रिया रूप नहीं है' क्योंकि उनका पृथक् उपदेश है' किया है। छां० ३।१८।४; मुं० २।१।३; बृ० ३।१।५ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १०)—'चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः' का अर्थ 'प्राण का चक्षु आदि के साथ कथन होने के कारण से मुख्य प्राण भी चक्षु आदि के समान जीवात्मा का साधन है' किया है। छां० ५।१।४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ११)—'अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति' का अर्थ 'प्राण इन्द्रिय न होने से उसका पृथक् विषय मानने का दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मुख्य प्राण का विशेष कार्य श्रुति बताती है' किया है। छां० ५।१।६,७; प्र० २।३, ६।३,४, बृ० ४।३।१२, १।३।१६ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र १२)—'पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते' का अर्थ 'श्रुति में प्राण को मन के समान पाँच वृत्ति वाला कहा है' किया है। बृ० १।५।३ श्रुति उद्धृत है।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त अधिकरण में वायु क्रिया के वास्तविक प्राणत्व का अभाव सिद्धान्त कहा है। सूत्र ६ का अर्थ 'मुख्य प्राण वायु स्वरूप नहीं है, क्योंकि श्रुति में उसका पृथक् रूप से उपदेश है' किया है। 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा......' 'एतस्माज्जायते......' 'बुद्धिश्च बोद्धव्यं......' श्रुतियाँ तथा 'महानात्मा मतिर्विष्णु......' स्मृति उद्धृत हैं।

सूत्र १० का अथ 'प्राण भी चक्षु आदि के समान जीव का करण विशेष है क्योंकि चक्षु आदि के साथ ही उसका श्रुति में विशेष कथन है' किया है। 'तेजश्च विद्योतयितव्य च प्राणश्च विधारयितव्यं च' 'सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

सूत्र ११ का अर्थ 'प्राण इन्द्रियों से भिन्न होने के कारण प्राण के बुद्धिस्वरूपत्व में बाधा नहीं होती क्योंकि श्रुति भी वैसा ही दिखलाती है' किया है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति, मनसा विजानाति' श्रुति उद्धृत है।

सूत्र १२ का अथ शङ्कर के समान ही है। श्रुति भी समान है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने मुख्य प्राण के अणुत्व की स्थापना की है। (सूत्र १३)—'अणुश्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'मुख्य प्राण अणु है अर्थात् सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न है' किया है। दोनों ने बृ० १।३।२२ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'ज्योतिराद्यधिकरण' संज्ञा दी है। शङ्कर ने इसमें इंद्रियों की प्रवृत्ति देवताओं के अधिष्ठान से है, इस विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र १४)—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदा मननात्' का अर्थ 'प्राण ज्योति (देवता) आदि से अधिष्ठित हैं, क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है' किया है (पूर्व पक्ष)। ऐ० २।४, छां० ३।१८।३, बृ० १।३।१२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र १५)—'प्राणवता शब्दात्' का अर्थ 'प्राणों का जीवात्मा से सम्बन्ध है, ऐसा श्रुति प्रमाण से सिद्ध है' किया है। छां० ८।१२।४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १६)—'तस्य च नित्यत्वात्' का अर्थ 'जीव के नित्य होने से प्राण का जीव से ही सम्बन्ध है' किया है। बृ० १।५।३, ४।४।२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी इस अधिकरण में प्राणों के जीवाधीनत्व की स्थापना करते हैं। सूत्र १४ का अर्थ 'प्राण अग्न्यादि देवताओं से अधिष्ठित नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति में उन्हें देवताधिष्ठित ही कहा गया है' किया है। ऐ० २।४; बृ० ६।१।७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र १५ का अर्थ 'प्राण का स्वामी जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता है, श्रुति-स्मृति का यही प्रमाण है' किया है। क० २।५।६ श्रुति उद्धृत है तथा 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः......' स्मृति उद्धृत है।

सूत्र १६ का अर्थ 'प्राण और जीव का एकत्व है, क्योंकि दोनों का भोग के प्रति अधिकार नित्य है' किया है।

अधि० ८—शङ्कर ने इसे 'इन्द्रियाधिकरण' कहा है और प्राण इन्द्रियों से पृथक् है, इसकी व्याख्या की है। (सूत्र १७)—'त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्' का अर्थ 'मुख्य प्राण से अन्य वे वाक् आदि प्राण इन्द्रियाँ कहलाते हैं, क्योंकि श्रुति में उनका वैसा कथन है' किया है। मु० २।१।३ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १८)—'भेदश्रुतेः'–श्रुति में वाकादि का पृथक् निर्देश है। बृ० १।३।२, १।३।७, १।५।३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १६)—'वैलक्षण्यात्' का अर्थ 'मुख्य प्राण से अन्य प्राण विजातीय स्वरूप हैं' किया है। बृ० १।५।२१ श्रुति उद्धृत है।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त अधिकरण को 'इन्द्रियाद्यधिकरण' कहा है तथा इसमें प्राण शब्द इन्द्रियवाची, श्रेष्ठ प्राण प्रज्ञारूप है, इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र १७ का अर्थ 'इन्द्रियों को प्राण-स्वरूप कहा गया है, किन्तु मुख्य प्राण को वर्जित कर दिया गया है, क्योंकि श्रुति में वैसा ही प्रमाण है' किया है।

सूत्र १८ का अर्थ 'मुख्य प्राण और वागादि का भेद सुनने से वे भिन्न है' किया है। श्रुति शङ्कर के समान ही हैं।

सूत्र १६ का अर्थ 'दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की विषमता के कारण भी यही सिद्ध होता है' किया है। 'वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादात्वयं च' 'प्राणश्च विधारयितव्यं च' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ६—शङ्कर ने इसे 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरण' नाम दिया है तथा इसमें नाम-रूप का कर्त्ता एवं त्रिवृत्करण का विवेचन किया है। (सूत्र २०)–'संज्ञामूर्त्तिक्लृतिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात्' का अर्थ 'नाम-रूप की रचना त्रिवृत्त करने वाले का ही कार्य है, क्योंकि श्रुति में वैसा ही कहा है' किया है। छां० ६।३।२, ६।४।१, ६।३।४, ६।४।६,७ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २१)—'मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च' का अर्थ 'श्रुति के कथनानुसार मांसादि कार्य पार्थिव हैं और दोनों (जल और तेज) के कार्य भी वैसे ही समझने चाहिये' किया है। छां० ६।५।१ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २२)—'वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः' का अर्थ 'विशेषता के कारण भूतों को उनके नाम मिलते हैं' किया है।

श्री पञ्चानन जी इस अधिकरण को 'संज्ञामूर्त्यधिकरण' नाम दिया है तथा नाम-रूप की रचना में परमेश्वर के कर्तृत्व की व्यवस्था की है। सूत्र २० का अर्थ शङ्कर के समान ही किया है, श्रुति केवल छां० ६।३।४ उद्धृत है।

सूत्र २१ तथा २२ का अर्थ शङ्कर के समान ही किया है, श्रुति भी वही उद्धृत की है।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने इसमें जीव सूक्ष्म देहों के साथ अन्य देहको प्राप्त होता है, श्रुतिगत जल शब्द से तीनों भूतों का ग्रहण, इष्टादि कर्म करने वाले देवों का अन्न बनते हैं (उनके सेवकादि रूप में विचरते हैं) आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र १)—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'पूर्व देह से अन्य देह की प्राप्ति में जीव देह के बीज रूप सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर ही जाता है, ऐसा प्रश्न और निरूपण द्वारा प्रतीत होता है' किया है। दोनों ने छां० ५।३।३, ५।१०।२ तथा शङ्कर ने बृ० ४।४।१, ४।४।४ अतिरिक्त श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र के अन्त में पञ्चाग्निविद्या का आगम-सम्मत 'गूढ अर्थ' विशेषतः प्रतिपादित किया है।

(सूत्र २)—'त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्रश्न उत्तर में जो जल से वेष्टित होकर जीव का जाना कहा गया है वह त्र्यात्मक होने से जल की अधिकता के कारण ही कहा गया है, केवल जल से वेष्टित होकर जीव नहीं जा सकता।

(सूत्र ३)—'प्राणगतेश्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'शरीरान्तर-प्राप्ति में प्राणों की गति सुनी गई है' किया है। दोनों ने बृ० ४।४।२ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ४)—'अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्राण अग्नि आदि को प्राप्त होते हैं, ऐसा श्रुति-कथन गौण होने से ठीक नहीं है' किया है। दोनों ने बृ० ३।२।१३ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र ५)—'प्रथमे श्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्रथम अग्नि में जल का श्रवण न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि वैसा ही मानने से श्रुति सुसंगत होती है' किया है। दोनों ने छां० ५।३।३, तै० सं० १।६।८।१ शङ्कर ने 'अपो ह्यस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' तथा श्री पञ्चानन जी ने 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ६)—'अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति के प्रमाण के अभाव में जीव जल से वेष्ठित होकर नहीं जाता ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रद्धापूर्वक किया हुआ कर्म होने से भी वैसी ही प्रतीति होती है, अर्थात् यहाँ श्रद्धा का अर्थ भी जल ही है' किया है। दोनों ने छां० ५।१०।४,६, शंकर ने छां० ५।४।२, श्री पञ्चानन जी ने छां० ५।१०।५ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ७)—'भाक्तं वानात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'इष्टादि कर्म करने वाले गौण रूप से देवों का अन्न बनते हैं, क्योंकि उनको आत्मज्ञान नहीं होता और वैसा ही श्रुति भी कहती है' किया है। दोनों ने छां० ३।५।१; बृ० १।४।१०, शंकर ने प्र० ५।४; बृ० ४।३।३३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० २--दोनों आचार्यों ने 'कृतात्ययाधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने निःशेष कर्मों का भोग चन्द्रमण्डल में नहीं होता, अनुशयवान् जीव के अवरोह का कथन आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र ८)—'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'पुण्य कर्मों का नाश होने पर जीव, शेष कर्मों को भोगने के लिए देह धारण करता है, श्रुति स्मृति में ऐसा ही कहा गया है, परन्तु जैसे वे गये थे पूर्णतया वैसे ही नहीं लौटते। श्री पञ्चानन जी के मत में हीनतर पशु आदि की योनि में लौटते हैं' किया है। शंकर ने छां० ५।१०।१५, ५।१०।७ श्री पञ्चानन जी ने मुं १।१०; बृ० ४।४।६ तथा दोनों ने 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्यकर्मफलमनुभूय.........' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ९)—'चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः' का अर्थ शंकर ने 'आचरण से नया जन्म प्राप्त होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि छां० ५।१०।७ श्रुति लाक्षणिक अर्थ वाली है ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है' किया है। छां० ५।१०।७, बृ० ४।४।५; तै० १।११।२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'रमणीयचरणाः' इस श्रुति से अनुशयवान् जीव अवरोहण करता है यह कहना ठीक नहीं, ऐसा यदि कहो

तो यह दोष नहीं है, क्योंकि चरण श्रुति अनुशय की उपलक्षिका है, ऐसा कार्ष्णाजिनिः का मत है' किया है।

(सूत्र १०)—'आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आचार शब्द का प्रसिद्ध मुख्य 'शील' अर्थ छोड़कर 'अनुशय' ऐसा लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करने से निरर्थक हो जावेगा, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म के लिए उसकी अपेक्षा होती है' किया है। शंकर ने 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' तथा पञ्चानन जी ने 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ११)—'सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'रमणीयचरणाः' का अर्थ धर्माधर्म ही है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। श्री पंचानन जी ने तै० १।११।१ श्रुति तथा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्.........'स्मृति उद्धृत की है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'अनिष्टादिकार्याधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने यज्ञादि इष्ट कर्म न करने वालों की गति विशेष का कथन तथा पंचानन जी ने यमाधिकार, पितृलोक, चन्द्रस्वामी आदि के स्थाय का वर्णन तथा श्रद्धादि का निरूपण किया है।

(सूत्र १२)—'अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'यज्ञादि इष्ट कर्म न करने वालों को भी चन्द्र मण्डल की प्राप्ति होती है। ऐसा श्रुति में कहा है' किया है। (पूर्व पक्ष)। दोनों ने कौ० १।२ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १३)—'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'अनिष्ट कर्म करने वाले यमलोक में कष्ट भोग कर उनका आरोहावरोह होता है, क्योंकि श्रुति में उनकी वैसी ही गति बताई गई है' किया है। दोनों ने कठ० २।६ 'वैवस्वतं संयमनं जनानाम्' तथा पंचानन जी ने अथर्व० १८।४।४३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १४)—'स्मरन्ति च' दोनों आचार्यों ने इसका अर्थ 'मनुव्यासादि स्मृतिकार भी यही कहते हैं' किया है। श्री पंचानन जी 'कृष्यते यमदूतैश्च....' 'पुराणि षोडशामुष्मिन् मार्गे तानिमे शृणु......' 'तन्निर्दिष्टां ततो जन्तुर्गतिं याति शुभाशुभाम्' गरुड़ उ० १६ अ० १० तथा अ० ४।८८।६० स्मृतियां उद्धृत करते हैं।

(सूत्र १५)—'अपि च सप्त' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'सात नरकों का वर्णन भी मिलता है' किया है। पंचानन जी ने छां० ५।१० श्रुति तथा

'पितन् यान्ति पितृव्रताः' 'विराट् सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः... मनु० ३।१६५।१६७ स्मृतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र १६)—'तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'रौरव नरकादि में चित्रगुप्तादि अधिष्ठाता होने पर भी वहां यम का ही अधिकार होने से उक्त कथन में विरोध नहीं आता' किया है। श्री पञ्चानन जी ने छां० ५।१०।४ श्रुति तथा मत्स्य पु० २३।५ स्मृति उद्धृत की है और इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

(सूत्र १७)—'विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'छान्दोग्य श्रुति में विद्या और कर्म के मार्ग से ही चन्द्रलोक जाने का अभिप्राय है क्योंकि प्रकरण से यही प्राप्त होता है' किया है। शंकर ने छां० ५।३।३, ५।१०।८, दोनों ने छां० ५।१०।१-४ श्रुतियां उद्धृत की हैं। श्री पंचानन जी इस सूत्र में दान शब्द से श्राद्ध का भी संग्रह करते हैं और उसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

(सूत्र १८)—'न तृतीये तथोपलब्धेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जहाँ जन्म और मृत्यु बार-बार होती है, ऐसे इस तृतीय मार्ग में पंचमाहुति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि श्रति में वैसा ही देखने में आता है' किया है। दोनों ने छां० ५।१०।८ शंकर ने छां० ५।३।३ तथा पंचानन जी ने 'अथैतयोः पथोर्नैकतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि .... 'श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १९)—'स्मर्य्यतेऽपि च लोके' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'स्मृति में भी तथा लोक में भी यही प्रसिद्ध है', किया है।

(सूत्र २०)—'दर्शनाच्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'देखने में भी ऐसा ही आता है' किया है।

(सूत्र २१)— 'तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'छान्दोग्य ६।३।१ में वर्णित 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' इनमें जो तीसरा उद्भिज शब्द है इसी में स्वेदज प्राणियों का अन्तर्भाव होता है' किया है।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'साभाव्यापत्त्यधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें पितृयान मार्ग से अवरोह काल में जीवों को आकाशादि का सादृश्य प्राप्त होता है, इस विषय की विवेचना की गई है।

(सूत्र २२)—'साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः' का अर्थ भी दोनों आचार्यों ने यही किया है। दोनों ने छां० ५।१०।५ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'नातिचिराधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें जीव अवरोह दशा में बहुत अधिक काल तक व्रीह्यादि के साथ संश्लेष दशा में नहीं रहता, इस विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र २३)—'नातिचिरेण विशेषात्' का अर्थ भी यही किया है। छां० ५।१०।६ श्रुति उद्धृत है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'अन्याधिष्ठिताधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने इसमें चन्द्रमण्डल से लौटने वाले जीव व्रीहि आदि से केवल संयोग को प्राप्त होते हैं, उनके धर्माधर्म का निर्णय आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र २४)—'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आकाशादि मेघ पर्यन्त पहले जैसा होता था वैसे अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहि यवादि के साथ अनुशय वाले जीवों का केवल संसर्ग ही होता है' किया है। छां० ५।१०।६ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २५)—'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'यज्ञादि इष्ट कर्म अशुद्ध हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति स्मृति वैसा नहीं कहती' किया है। दोनों ने 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' श्रुति तथा पंचानन जी ने मनु० ४।४४ स्मृति उद्धृत की है।

(सूत्र २६)—'रेतःसिग्योगोऽथ' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'इसके पश्चात् जीव का रेत सेचन करने वाले से संयोग होता है' किया है। छां० ५।१०।६ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र २७)—'योनेः शरीरम्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'योनि से शरीर उत्पन्न होता है' किया है। छां० ५।१०।७ श्रुति उद्धृत है।

द्वितीय पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'सन्ध्याधिकरण' संज्ञा दी है और इसमें स्वप्न विचार तथा उसका मिथ्यात्व सिद्ध किया है। (सूत्र १)—'सन्धे सृष्टिराह हि' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'सन्धि-स्वप्न स्थान में ही सृष्टि उत्पन्न होती है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा गया है' किया है। बृ० ४।३।६,१० श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र २)—'निर्म्मातारं चैके पुत्रादयश्च' का अर्थ दोनों आचार्य 'एक शाखा वाले इसी संधि स्थान में आत्मा पुत्रादि कामनाओं को उत्पन्न करता है, ऐसा कहते हैं। दोनों ने कठ० ५।८, १।२३, १।२४, २।१४, शंकर

ने बृ० ४।३।१४ तथा पंचानन जी ने 'तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३)—'मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनोनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परन्तु स्वप्न तो केवल भ्रान्ति है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति नहीं होती' किया है। शंकर ने बृ० ४।३।१०;१२, बृ० २।१।१८ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ४)—'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षतेतद्विदः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'स्वप्न सर्वथा मिथ्या नहीं होता क्योंकि वह शुभाशुभ का सूचक होता है, ऐसा श्रुति तथा स्वप्नशास्त्र के वेत्ता लोग कहते हैं' किया है। दोनों ने छां० ५।२।९ शंकर ने बृ० ४।३।९, क० ५।८ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ५)—'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य' का अर्थ शंकर ने 'परमात्मा के ध्यान से जीव के छिपे हुए धर्म प्रकट होते हैं क्योंकि इसी से उसका बन्ध और मोक्ष होता है' किया है। श्वे० १।११ श्रुति उद्धृत है।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'दुःस्वप्नों का नाश दुर्गादि-स्वरूपा-शक्ति के स्तव-पठन से होता है, क्योंकि वही उसके संसार बन्ध और मोक्ष की हेतु है' किया है। छां० १।३।९।१२ श्रुति तथा 'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ....' स्मृति उद्धृत है।

(सूत्र ६)—'देहयोगाद्वा सोऽपि' का अर्थ शंकर ने 'देह के सम्बन्ध से ही जीव की ज्ञान शक्ति तिरोहित हो जाती है' किया है। छां० ६।३।२, ६।९।४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'दुःस्वप्न का नाश देह के योग से ही होता है' किया है। 'एषां संकथनं धन्यं पुनः प्रस्वापनं तथा। कल्कस्नानं तिलैर्होमो ब्राह्मणानां च पूजनम्' 'दुःस्वप्नं च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते...' 'न तेषां दुष्कृतं किंचिद् दुष्कृतोत्था च न चापदः' स्मृतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'तदभावाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें सुषुप्ति का विचार-स्थान निर्णय तथा पुरीतत का विवरण है।

(सूत्र ७)—'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'नाड़ियों में तथा आत्मा में स्वप्न का अभाव है क्योंकि श्रुति का वैसा ही कथन है' किया है। दोनों छां० ८।६।३, ६।८।१; बृ० २।१।१९, २।१।१७ तथा शंकर ने कौ० ४।१९; बृ० ४।३।२१, ४।४।७, २।४।१४, ४।३।३१; छां० ८।४।२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ८)—'अतः प्रबोधोऽस्मात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'इसीलिए आत्मा से जीव का जागरण श्रुति कहती है' किया है। दोनों ने बृ० १।१।१६, २।१।१०; छां० ६।१०।२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण' संज्ञा दी है। तथा इसमें जाग्रति एवं मुक्त जीव के अपुनरावर्त्तन का विचार किया गया है। (सूत्र ९)—'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'वह जीव ही जाग्रत होता है, ऐसा कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि से विदित होता है' किया है। दोनों ने बृ० ४।३।१६ तथा शंकर ने छां० ८।३।२ ६।६।३ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'मुग्धाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें मूर्च्छा के स्वरूप का विचार किया है। (सूत्र १०)—'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'मूर्च्छितावस्था का सुषुप्ति के साथ आधा सादृश्य होता है; ऐसा परिशेष से ज्ञात होता है' किया है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'उभयलिंगाधिकरण' संज्ञा दी है। इसमें ब्रह्म के सगुणत्व निर्गुणत्व का विचार, सगुण प्रतिपादन उपासना के लिए है, ब्रह्म का चैतन्य मयत्व, प्रतिबिम्ब आदि दृष्टान्तों का विचार, ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक वाक्यों का प्रयोजन आदि विषयों का विवेचन है' किया है।

(सूत्र ११)—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि' का अर्थ शङ्कर ने 'स्थान भेद के कारण भी परब्रह्म का उभयविध स्वरूप नहीं है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ही कथन है' किया है। छां० ३।१४।२, बृ० ३।८।८; कठ० ३।१५; मुक्तिको० २।७२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १२)—'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्' का अर्थ 'आकृति आदि के भेद का कथन होने से ब्रह्म केवल निर्गुण नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भेद के कथन के समय वह वास्तव में वैसा नहीं है, ऐसा कहा है' किया है। प्र० ६।१; छां० ४।१५।८; बृ० १।३।२, २।५।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १३)—'अपि चैवमेके' का अर्थ 'एक शाखा के लोग भी अभेद का ही प्रतिपादन करते हैं' किया है। कठ० ४।११; श्वे० १।१२ श्रुतियाँ उत्धृत हैं।

(सूत्र १४)—'अरूपदेव हि तत्प्रधानत्वात्' का अर्थ 'ब्रह्म रूप रहित ही है, क्योंकि श्रुति में प्रधान रूप से यही कहा गया है' किया है। बृ०

३।८।८, २।५।१६; छां० ८।१४।१; मु० २।१।२; कठ० ३।१५ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र १५)—'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्' का अर्थ 'प्रकाश के समान ब्रह्म भिन्न-भिन्न आकार ग्रहण करता है, क्योंकि ऐसा मानने से आकार प्रतिपादक श्रुतियां व्यर्थ नहीं होतीं' किया है।

(सूत्र १६)—'आह च तन्मात्रम्' का अर्थ 'श्रुति ने कहा है कि ब्रह्म केवल चैतन्य है' किया है। बृ० ४।५।१३ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १७)—'दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते' का अर्थ 'श्रुति और स्मृति भी यही प्रतिपादन करती है' किया है। बृ० २।३।६; तै० २।४।१; के० १।३ 'स होवाचाधीहि भो इति स तूर्ष्णीं बभूव ……… उपशान्तोऽयमात्मा' श्रुतियाँ तथा भ० गी० १३।१२ 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ……' स्मृतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १८)—'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' का अर्थ 'इसीलिए ब्रह्म को सूर्यादि के समान उपमा दी जाती है' किया है। 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ……' 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ……' उद्धृत हैं।

(सूत्र १९)—'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' का अर्थ 'जल के समान वह मूर्त द्रव्य है ऐसा उसका ग्रहण नहीं होता, इसलिए वह उसके समान नहीं है'।

(सूत्र २०)—'वृद्धिह्रासभाक्त्वमंतर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्' का अर्थ 'उपाधियों में प्रवृष्ट होने से उपाधि के वृद्धि और क्षय को ब्रह्म प्राप्त होते हैं, एवं दोनों प्रकार से युक्त होने के कारण ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है'।

(सूत्र २१)—'दर्शनाच्च' का अर्थ 'श्रुति में भी वैसा ही कथन होने से उक्त दृष्टान्त ठीक ही है' किया है। बृ० २।५।१८,१९, छां० ६।३।२, ३।१४।२ क० ६।१३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त अधिकरण के सूत्र ११ का अर्थ 'चिदचिदात्मक ब्रह्म का स्थान भेद से अवस्था भेद नहीं होता क्योंकि स्थान भेद बोधक सब श्रुतियों में परिणामी और अपरिणामी दोनों लिंग आये हैं' किया है। बृ० ३।७।३,४,२२ तथा 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं ………' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र १२ का अर्थ 'स्थानभेद के द्वारा अवस्था भेद का अभाव नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्थानभेद बोधक श्रुतियों में अवस्थाभेद का कथन नहीं है' किया है। बृ० २।५।१ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र १३ का अर्थ 'एक शाखा वाले ब्रह्म को सभी अवस्था वाला मानते हैं' किया है। 'यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः तथा' श्वे० ५।२-५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र १४ का अर्थ 'अवस्था भेद ब्रह्म के अधीन है वह चाहे तो रूपवान् रहे या अरूप रहे—उमादि रूप ग्रहण अवस्थान्तर नहीं है' किया है।

सूत्र १५ का अर्थ 'जैसे सूर्य चन्द्र का प्रकाश आकाश में स्थित रहते हुए भी गवाक्ष मार्ग से शैय्या पर पड़ने से उस पर लेटे व्यक्ति के द्वारा परिच्छिन्न जैसा प्रतीत होता है वैसे ही सर्वव्यापि ब्रह्म पृथिव्यादि में उपासना विशेष के लिए शरीर रूप से उपदिष्ट है अर्थात् उपासना के लिए ही ब्रह्म के शरीर रूप का उपदेश है' किया है। बृ० २।३।१ श्रुति तथा 'आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि' स्मृति उद्धृत है।

सूत्र १६ का अर्थ 'श्रुति में ब्रह्म को चिन्मात्र ही कहा है' किया है। (पूर्वपक्ष)। बृ० ४।५।१३ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र १७ का अर्थ 'श्रुति तथा स्मृति भी ब्रह्म को चिद्चिदुभयात्मक ही बताती है' किया है। बृ० २।३।६; के० तै० २।४।१ श्रुति तथा गी० १३।१२ स्मृति उद्धृत हैं।

सूत्र १८ का अर्थ 'इसलिए चिन्मात्र ब्रह्मत्व का पक्ष व्यवच्छिन्न होगया समझना चाहिए। जीव को जल में सूर्यादि के प्रतिबिम्ब की उपाधि दी जाती है जो चिन्मात्र ब्रह्म में नहीं घटती' किया है। श्रुति शंकर के समान ही है।

सूत्र १९ का अर्थ 'जल में पड़े सूर्य प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्म का बुद्धि रूप उपाधि ग्रहण नहीं हो सकता' किया है (पूर्वपक्ष)।

सूत्र २० का अर्थ 'जैसे जल का वृद्धि ह्रास जल में स्थित सूर्य को स्पर्श नहीं करता वैसे ही ब्रह्म का भी बुद्धि रूप उपाधि अवस्था का वृद्धि ह्रास ब्रह्म को संस्पृष्ट नहीं करता' किया है।

सूत्र २१ का अर्थ 'ब्रह्म का देह में प्रवेश श्रुति में भी कहा गया है' किया है। बृ० २।५।१८ श्रुति उद्धृत है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें निषेध श्रुति का विचार, ब्रह्मदर्शन, संराध्य संराधक भाव से भेद, जीव का ब्रह्मात्मत्व, श्रुति में वर्णित नानात्व औपाधिक है आदि विषयों का विवेचन किया है।

(सूत्र २२)— 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' का अर्थ 'ब्रह्म के रूपों का श्रुति निषेध करती है, अतः श्रुति फिर ऐसा ही कहती है' किया है। बृ० २।३।१, २।३।६, २।१।१; तै० २।६।१, २।४।१, ६।४।१, कठ० ६।१३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २३)—'तदव्यक्तमाह हि' का अर्थ' ब्रह्म अव्यक्त ही है, क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है' किया है। मुं० ३।१।८, १।१।६, बृ० ३।९।२६, तै० २।७।१ श्रुतियां तथा भ० गी० २।२५ उद्धृत हैं।

(सूत्र २४)— 'अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' का अर्थ 'योगी लोग आराधना के समय अव्यक्त ब्रह्म को ही देखते हैं ऐसा प्रत्यक्ष और अनुमान से विदित होता है' किया है। क० ४।१, मुं० ३।१।८ श्रुतियां तथा 'यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः—' स्मृति उद्धृत है।

(सूत्र २५)— 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' का अर्थ 'प्रकाशादि के समान जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है, परन्तु प्रकाश स्वरूप आत्मा कर्म से भिन्न होता है क्योंकि श्रुति में अनेक बार उनके भेद का कथन है' किया है।

(सूत्र २६)—'अतोऽनन्तेत तथाहि लिंगम्' का अर्थ 'इसलिए जीव परमात्मा से एकता को प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुति में इसका ऐसा ही लक्षण है' किया है। मुं० ३।८।९, बृ० ४।४।६ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २७)—'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' का अर्थ 'जैसे सर्प कभी कुन्डली मार लेता है और कभी खोल लेता है वैसे ही श्रुति में वर्णित भेद और अभेद को समझना चाहिए' किया है। मुं० ३।४।८, ३।२।८, बृ० ३।७।१५, १।४।१०, ३।४१, ३।७।३, छां० ६।८।७ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र २८)—'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' का अर्थ 'तेजोरूप होने से ब्रह्म और जीव को प्रकाश और उसके आश्रय के समान समझना चाहिए' किया है।

(सूत्र २९)—'पूर्ववद्वा' का अर्थ 'अथवा पूर्व में वर्णित 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम् के समान यहां भी समझना चाहिए' किया है।

(सूत्र ३०)—'प्रतिषेधाच्च' का अर्थ 'नेति नेति' कहने से भी यही सिद्ध होता है' किया है। बृ० ३।७।२३, २।३।६, २।५।१९। श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में ब्रह्म के चिन्मात्रत्व एवं अचिन्मात्रत्व का खण्डन एवं जीव और ब्रह्म का भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित किया

है। सूत्र २२ का अर्थ 'श्रुति में ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त (अचिन्मात्र और चिन्मात्र) दोनों रूप मायिक हैं अतः उन दोनों का निषेध कर चिदचिदुभयात्मक ब्रह्म ही सत्य का सत्य है' किया है। बृ० २।३।६ श्रुति उद्धृत है।

सूत्र २३ का अर्थ 'सत्य का सत्य ब्रह्म परम सूक्ष्म है इसीसे इन्द्रियां आदि से ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसा श्रुति में कहा है' किया है। मुं० ३।१।८, बृ० ३।९।२६ श्रुतियां तथा गी० २।२५ उद्धृत हैं।

सूत्र २४ का अर्थ 'शंकर के समान है श्रुति स्मृति भी वही उद्धृत की है।

सूत्र २५ का अर्थ 'प्रकाशादि के समान दृश्यत्व वस्तु का धर्म नहीं है, कर्माभ्यास रहित मनुष्यों को ब्रह्म का आभास नहीं होता क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब का अभेद तत्वज्ञानी को ही होता है' किया है।

सूत्र २६।३० का अर्थ शंकर के समान है, श्रुति भी समान ही उद्धृत है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'पराधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें एकमात्र परमेश्वर ही 'पर' तत्त्व है उससे 'पर' अन्य कोई तत्त्व नहीं है।

(सूत्र ३१)— 'परमतः सेतून्मानसंबंधभेदव्यपदेशेभ्यः' का अर्थ 'इस ब्रह्म के परे भी कोई तत्व होना चाहिए; क्योंकि सेतु और उन्मान के संबध तथा भेद के निर्देश से यही प्रतीत होता है' किया है। दोनों ने छां० ८।४।१,२, ६।८।१; बृ० ४।३।२१ शंकर ने तै० २।३।१; छां० १।६।६, १।७।५,६, १।६।८ तथा पंचानन जी ने छां० ४।५।२ श्रुतियां की उद्धृत हैं।

(सूत्र ३२)—'सामान्यात्तु' का अर्थ 'शंकर ने' सेतु से समानता होने के कारण ब्रह्म को ही सेतु कहा गया है' किया है। छां० ६।२१; 'सेतुं तीर्त्वा', 'व्याकरणं तीर्ण' श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इसका अर्थ 'चिदचिदुभयपर्याप्त सत्ता सब में समान रूप से व्याप्त है' किया है।

(सूत्र ३३)— 'बुद्ध्यर्थ पादवत्' का अर्थ शंकर ने 'बुद्धि से ग्रहण होने अर्थात् उपासना के लिए जैसे ब्रह्म के चार पाद आदि का वर्णन किया गया है वैसे ही पूर्वोक्त उन्मान की कल्पना की गई है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'ब्रह्मज्ञान के लिए ही सेतु और उन्मान का सम्बन्ध प्रयोग हुआ है, जैसे 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' श्रुति में 'पादशब्दोवच्छिन्न' परिमाण द्वारा घोषित ब्रह्म का बोध कराने के लिये ही कहा है, वैसे ही सेतु भी ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है' किया है।

(सूत्र ३४)—'स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जैसे एक ही सूर्य का प्रकाश उपाधियों द्वारा भेद उत्पन्न करता है वैसे ही बुद्धि आदि उपाधियों के विशेष स्थानों से सम्बन्धित होने के कारण भेद ज्ञान उत्पन्न होता है, इस भेद के शान्त होने पर सत्सम्पत्ति रूप सम्बन्ध है' किया है।

(सूत्र ३५)—'उत्पत्तेश्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'उक्त सम्बन्ध और भेद उत्पन्न होने से उनका निर्देश गौण है' किया है। शंकर ने छां० ६।८।१, ३।१२।७,८,६ तथा पंचानन जी ने 'परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३६)—'तथान्यप्रतिषेधात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का प्रतिषेध होने के कारण ब्रह्म से पर कुछ नहीं है' किया है। दोनों ने छां० ७।२५।२; बृ० २।४।६, ४।४।१६ शंकर ने छां० ७।२५।१, ३; श्वे ३।६; बृ० २।५।१६ तथा पंचानन जी ने कठ० ३।१०,११ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३७)— 'अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आयाम' आदि शब्दों से अर्थात् व्यापकत्वबोधक श्रुति द्वारा आत्मा का सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है' किया है। दोनों ने छां० ८।१।३, ३।१४।३ श्रुतियां तथा शंकर ने भ० गी० २।२४ स्मृति भी उद्धृत की है।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'फलाधिकरण' संज्ञा दी है। इसमें कर्मफल का दाता ईश्वर ही है इसका विवेचन किया है। (सूत्र ३८)— 'फलमत उपपत्तेः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जीव के कर्मों का फल ईश्वर से ही प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा ही सम्भव है' किया।

(सूत्र ३९)—'श्रुतत्वाच्च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति में भी ऐसा ही कहा है' किया है। बृ० ४।४।२४ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र ४०)—'धर्मं जैमिनिरत एव' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जैमिनि आचार्यों के मत में धर्म फल का दाता है' किया है।

(सूत्र ४१)— 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'परन्तु बादरायण पूर्व कहे परमेश्वर को ही फलदाता मानते हैं, क्योंकि धर्मकर्म का हेतु भी वही परमेश्वर है। शंकर कौषी० ३।८ तथा दोनों गी० ७।२१, २२ स्मृति उद्धृत करते हैं।

तृतीय पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण' संज्ञा दी तथा इसमें विद्या की एकता अनेकता का विचार किया है।

(सूत्र १) — 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'विधि वाक्यों की एकता होने से सर्व वेदान्त वचनों में प्रतिपादित विद्या एक ही है' किया है। शंकर ने बृ० ६।१।१; छां० ५।१।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र २) — 'भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'विधि वाक्यों में फल सम्बन्ध का, रूप का और आख्यान का भेद होने से विद्या एक नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक विद्या में भी ये गौण भेद रह सकते हैं' किया है। दोनों ने बृ० ६।२।१४; शंकर ने छां० ५।१०।१०।५।६।२ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ३) — 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'आथर्वणिक लोगों का शिरोव्रत धर्म वेदाध्ययन के लिये है, क्योंकि उनके लिये श्रौतसूत्रों में वर्णित प्रकरण के अनुसार हवन के समान इसका नियम है' किया है। दोनों ने मुं० ३।२।११ शंकर ने मुं० ३।२।१० श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ४) — 'दर्शयति च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने श्रुति भी यही कहती है' किया है। दोनों ने क० २।१५; ऐ० आ० ३।२।३।१२; शंकर ने क० ६।२; तै० २।७।१' छां० ५।१८।१, तथा पञ्चानन ऋ० १।१६४।४६, १०।१४।५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'उपसंहाराधिकरण' संज्ञा दी है। दोनों ने—विधि अंशों का अन्यत्र संग्रह है, इस विषय का विवेचन किया है।

(सूत्र ५) — 'उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'जैसे विधि के शेष अंश का अन्य शाखा में संग्रह होता है वैसे ही अर्थ के अभेद से ज्ञान के एक होने पर अन्य शाखाओं में कहे हुए गुणों का संग्रह अन्य शाखा में हो जाता है'।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'अन्यथात्वाधिकरण' संज्ञा दी हैं। तथा इसमें विद्या की एकता की आशंका तथा उसका निरसन करते हैं।

(सूत्र ६) — 'अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'श्रुति के भिन्न-भिन्न कथनों से विद्या भिन्न-भिन्न है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें अनेक बातों का साम्य भी है' किया है। दोनों ने बृ० १।२।१;२, १।३।२३; छां० १।६।१, १।२।७ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

(सूत्र ७) — 'न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'प्रकरण भिन्न होने से उपासनाओं के समान विद्या को भिन्न नहीं

समझना चाहिये। पञ्चानन जी 'उमा रूप से उपासना भी एक ही है' ऐसा विशेष अर्थ करते हैं। 'दोनों ने छां० १।१।१, शंकर ने छां० १।१।१०, १।६।१,२, १।१।२; बृ० १।३।२, १।३।२४ तथा पंचानन जी ने 'द्वया ह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च' 'एतस्य वा अक्षरस्योपव्याख्यानं भवति.........' 'अथ ह य एवायं मुख्यः.........बृ० १।३।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र ८)—'संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि' का अर्थ दोनों आचार्यों ने नाम एक होने से विद्या एक ही है, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है, यह कथन भिन्न-भिन्न विद्याओं में भी हो सकेगा परन्तु जहाँ विद्या भिन्न भिन्न है, ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण न हो वहाँ नाम एक होने से विद्या एक हो सकती है।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'व्याप्त्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें अक्षर और उद्गीथ के समानाधिकरण्य का विचार किया है।

(सूत्र ९)—'व्याप्तेश्च समंजसम्' का अर्थ 'ओंकार सब वेदों को व्याप्त करता है, इसलिये उद्गीथ उसका विशेषण है, ऐसा मानना ही निर्दोष है।' छां० १।१।१, ६।८।७, श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन ने जी इस अधिकरण में विद्या की एकता का विचार किया है। सूत्र ९ का अर्थ 'प्रणव लक्षणा उमा सब उपासनाओं में व्याप्त है, अतः अध्यात्म विद्या एक है' किया है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' श्रुतियाँ तथा 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्' 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' स्मृतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ५ – दोनों आचार्यों ने 'सर्वाभेदाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें सब वेदान्तों से सिद्ध प्राण-विद्या में सब गुणों का संग्रह है, विषय का विवेचन किया है। (सूत्र १०)—'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'सर्वत्र प्राण विद्या एक ही होने से एक शाखा में कहे हुए गुण अन्य शाखाओं में भी प्राप्त होते हैं' किया है। किया है शंकर बृ० ६।१।१४ श्रुति उद्धृत करते हैं।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'आनन्दाद्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों का सर्वत्र संग्रह होता है, इस विषय का प्रतिपादन करते हैं। (सूत्र ११) – 'आनन्दादयः प्रधानस्य' का अर्थ भी यही है। (सूत्र १२) – 'प्रियशिरस्त्वाद्य प्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे' का अर्थ 'प्रिय शिरस्त्व आदि धर्म अन्यत्र प्राप्त नहीं होते, क्योंकि धर्मों बढ़ना घटना

भाव में ही होता है' किया है। छां० ६।२।१ श्रुति उद्धृत है। (सूत्र १३) 'इतरे त्वर्थसामान्यात्' का अर्थ 'परन्तु इतर धर्म सर्वत्र माने जाते हैं, क्योंकि उनका विषय एक ही है' किया है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में 'आनन्दमयाधिकरण' के प्रासंगिक प्रपंचनार्थ परमेश्वर के आनन्द, सर्वकर्त्तृत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्मों का विचार किया' है। 'सूत्र ११ का अर्थ ब्रह्म के आनन्द, 'विज्ञान पदार्थ, विज्ञातृत्वेशितृत्व-कर्तृत्वकेवलत्व-निर्गुणत्व आदि का सर्वत्र अभेद होने से अनन्यत्व है' किया है।

सूत्र १२ का अर्थ 'चिदचिदात्मक ब्रह्म में प्रिय शिरस्त्वादि के उपचय आदि धर्म ठीक बैठ जाते हैं, चिन्मात्र अथवा अचिन्मात्र में नहीं बैठते' किया है।

सूत्र १३ का अर्थ 'केवल अचित् गुणवान् हो सकता है परन्तु चिदचिदात्मक ब्रह्म नीरूप ही है' किया है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'आध्यानाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें १४-१५ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है तथा कठोपनिषद् में पुरुष ही को सब से पर कहा गया है, इस विषय का प्रतिपादन किया है।

(सूत्र १४)— 'आध्यानाय प्रयोजनाभावात्' का अर्थ 'कठोपनिषद् ३।१०,११ में जो कथन है वह पुरुष के ध्यान के लिए है, क्योंकि उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है' किया है। क० ३।१५ श्रुति उद्धृत हैं।

(सूत्र १५)—'आत्मशब्दाच्च' का अर्थ 'आत्म शब्द के प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है' किया है। कं० ३।१२,१३, ३।६ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में १४–१७ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है तथा ध्यान के लिए शिर आदि रूपकों का कथन है इस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र १४ का अर्थ 'प्रिय एव शिरः' आदि रूपक निष्प्रयोजन नहीं है अपितु वह ध्यान के लिए' किया है। सूत्र १५ का अर्थ 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' ऐसे आत्म शब्द के प्रयोग से आनन्दमय का ब्रह्मत्व ही बोधित होता है' किया है।

सूत्र १६ का अर्थ 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस उत्तर वाक्य द्वारा 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' पूर्व वाक्य के आत्म शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है।

सूत्र १७ का अर्थ 'अन्वय से आत्म शब्द ब्रह्म परक नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उत्तर वाक्य के अत्यन्त दृढ़ प्रत्यय से आत्म शब्द ब्रह्म परक ही सिद्ध होता है' किया है। तै० २।१ श्रुति उद्धृत है।

शंकर ने उक्त सूत्र १६,१७ को नवीन 'आत्मगृहीत्यधिकरण' संज्ञा दी है और इसमें ऐतरेय १।१,२ में ब्रह्म ही का कथन है, ऐसा वर्णित किया है। अधिकरण की दूसरी योजना के अनुसार बृहदारण्यक ४।३।७ तथा छान्दोग्य ६।२।१ में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है।

(सूत्र १६)—'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्' का अर्थ 'अन्य स्थानों के समान यहां पर भी ब्रह्म ही का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इसी के अनुकूल आगे भी प्रतिपादन किया गया है' किया है। ऐ० १।१,२, तै० २।१।१, बृ० १।४।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र १७)—'अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्' का अर्थ 'अन्वय से ब्रह्म का कथन नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति में वैसा ही निश्चय होने से ब्रह्म का ही ग्रहण है' किया है। छां० ६।२।३, ६।१।१, ६।२।१, बृ० ४।३।७, ४।४।२५, ऐ० ३।११-१३, ५।३ श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'कार्याख्यानाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर इसे ९ तथा पंचानन जी ८ संख्या देते हैं। शंकर ने इसमें बृहदारण्यक ६।१।१४ में जल को प्राण का वस्त्र जानने का विधान है, आचमन का नहीं, इस विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र १८) 'कार्याख्यानादपूर्वम्' का अर्थ भी इसी प्रकार है छां० ५।२।२ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में उपासना से पूर्व, अपूर्व की उत्पत्ति होती है, उस अपूर्व के 'शक्तिकृपारूपत्व' का विवेचन किया है। सूत्र १८ का अर्थ आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन से अपूर्व की उत्पत्ति होती है' किया है।

अधि० ९—दोनों आचार्यों ने 'समानाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का उक्त भेद वर्त्तमान है। शंकर ने इसमें अग्नि रहस्य और बृहदारण्यक की विद्या का एकत्व और उनके गुणों का परस्पर ग्रहण वर्णित किया है।

(सूत्र १९)—'समान एवं चाभेदात्' का अर्थ 'एक ही शाखा में उपास्य के एक होने से विद्याओं की एकता है' किया है। बृ० ५।६१ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में विधि भेद की व्यवस्थापना की है। सूत्र १९ का अर्थ वेदान्त प्रतिपाद्य फल का अभेद होने से और उपासना रूप की समानता से महाशक्ति की कृपा भी समान ही होती है किया है।

अधि० १०—दोनों आचार्यों ने 'सम्बन्धाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। शङ्कर ने इसमें बृहदारण्यक में अहः और अहं ऐसे दो नाम

आध्यात्मिक और आधिदैविक स्थानों के लिये पृथक्-पृथक् ही दिये हैं, इसका निर्वचन किया है।

(सूत्र २०)—'सम्बन्धादेवमन्यत्रापि' का अर्थ 'एक विद्या से सम्बन्ध होने के कारण अन्य स्थानों पर भी गुणों का वैसा ही संग्रह होना चाहिये' किया है। बृ० ५।५।१,२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २१)—'न वा विशेषात्' का अर्थ 'स्थान के भेद से दोनों गुप्तनाम उपनिषद् दोनों स्थान पर प्राप्त नहीं होते' किया है। बृ० ५।५।३,४ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २२)—'दर्शयति च'–श्रुति भी यही कहती है। छां० १।७।५ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचाननजी ने इस अधिकरण में 'आन्तरोपासना और सोमयाग' दोनों अमृत फलदायी होने से उनकी विशेषता का वर्णन किया है। सूत्र २० का अर्थ 'सोम में उमा का सम्बन्ध होने के कारण अम्तरोपासना की सोमयाग से भिन्नता होने पर भी अमृत रूप फल समान ही है' किया है। श्वे० ४।१७, 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'विमुक्तोऽमृतो भवति' श्रुतियां तथा 'मत्स्यपुराण' २३।५ उद्धृत हैं। सूत्र २१ का अर्थ 'ब्रह्मज्ञान के द्वारा जो अमृतत्व फल है तथा याग जन्य जो महाशक्ति की अपूर्व कृपा है, दोनों का फल समान ही है' किया है। सूत्र २२ का अर्थ श्रुति भी यही कहती है। छां० ८।१।६ मु० १।२।१२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'सम्भृत्यधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। दोनों ने इसमें राणयनीय खिल ग्रन्थ में वर्णित ब्रह्मविद्या का तत्शाखीय शाण्डिल्य विद्या से भेद उल्लिखित किया है।

(सूत्र २३)—'संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'उपासना के भेद से वीर्य्यपूर्णता और स्वर्ग को व्याप्त कर इन विभूतियों का भी संग्रह नहीं होता' किया है। दोनों ने 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान.........' छां० ८।१।१, ३।१४।३, शङ्कर ने छां० ४।१५ १,४,८।१।३ तथा पंचानन जी ने छां० ७।११, ३।१४।१ श्रुतियाँ तथा देवी सूक्त के 'अहं मित्रा वरुणो.........' 'यं कामये तं तमुग्रं.........' 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि' मन्त्र उद्धृत किये हैं।

अधि० १२—दोनों आचार्यों ने 'पुरुषविद्याधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। इसमें शङ्कर ने तांडी और पैंगी शाखाओं की पुरुष विद्या और तैत्तिरीयक पुरुष विद्या का भेद कथन किया है। श्री पंचानन जी ने छान्दोग्य और तैत्तिरीयक विद्या का भेद बताया है।

(सूत्र २४)—'पुरुषविद्यामिव चेतरेषामनाम्नानात्' का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'पुरुष विद्या के समान अन्य विद्याओं के फल और धर्म का कथन नहीं होने से दोनों में भेद है' किया है। दोनों ने तै० आ० १०।६४ शङ्कर ने नारा० ८०; छां ३।१६।७ तथा पंचानन जी ने छां० ३।१६।१ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० १३--दोनों आचार्यों ने 'वैधाद्यधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने वैध मन्त्रादि का संग्रह नहीं होता है, विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र २५)—'वैधाद्यर्थभेदात्' का अर्थ 'वैध आदि की मन्त्रों का अर्थ भिन्न होने से उनका विद्या में संग्रह नहीं होता है' किया है। 'सर्वं प्रविध्य हृदयं स्वप्रविध्य......' 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' 'श्वेताश्री हरितनीलोऽसि' 'शं नो मित्रः शं वरुणः' 'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' मन्त्र उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में मुण्डकोपनिषद् में कहे वैधादि की विभिन्नार्थक विधिविषयत्व का विवेचन किया है। सूत्र २५ का अर्थ 'मुण्ड० २।२।२ से ५—में वर्णित वैधादि के मन्त्रों का अर्थ भिन्न होने से विधि भेद है' किया है। 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो......' श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० १४—दोनों आचार्यों ने 'हान्यधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का पूर्व भेद वर्त्तमान है। दोनों ने इसमें विद्वान के सुकृत दुष्कृत का त्याग वर्णित किया है। सूत्र का अर्थ तथा श्रुति भी समान है, केवल मुण्डक श्रुति में भेद है शंकर ने मुण्डक ३।२।८ तथा श्री पंचानन जी ने 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं......' उद्धृत की है। अन्य कोई विशेष भेद नहीं है।

अधि० १५—दोनों आचार्यों ने 'साम्परायाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद पूर्ववत् है। देहत्याग के समय विद्वान पुण्य पापों का त्याग करता है, उस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र २७ और २८ का अर्थ भी दोनों आचार्यों ने एक जैसा किया है। सूत्र २७ में श्रुति की भी समानता है। सूत्र २८ में श्री पंचानन जी ने बृ० ४।४।६ श्रुति उद्धृत की है।

अधि० १६—दोनों आचार्यों ने 'गतेरर्थवत्त्वाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का पूर्व भेद यथावत् है। दोनों इसमें देवयान गति उपासक के लिए है, सम्यक ज्ञानी के लिए नहीं है, इस विषय का विवेचन करते हैं। सूत्र २९ का अर्थ दोनों आचार्यों ने समान ही किया है। श्रुति भी समान है।

(सूत्र ३०) 'उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्' का अर्थ शंकर ने 'कहीं पर मार्ग का उपयोग है और कहीं मार्ग निरर्थक है ऐसे दोनों प्रकार के भाव ठीक हैं, क्योंकि सगुण उपासना रूप पर्यंक विद्या में देवयान गति की कारणभूत बातें मिलती हैं। व्यवहार में भी ऐसा ही देखने में आता है'।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'छान्दोग्य' में कही प्रथम गति का हेतु पंचाग्निविद्या है द्वितीय गति का हेतु कौषीतकि ब्राह्मण में कही पर्यंक विद्या है। संसार में जैसे कोई राजसभा में जाते समय घर से अच्छा वेश धारण करके ही निकलता है अन्यथा साधारण वेश में निकलता है वैसे ही उक्त दो प्रकार की गति को समझना चाहिए।

अधि० १७—दोनों आचार्यों ने 'अनियमाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। शंकर, इसमें सभी सगुण उपासकों के लिए देवयान की प्राप्ति होती है, विषय का विवेचन करते हैं। (सूत्र ३१)—'अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्' का अर्थ 'सब सगुण विद्याओं में मार्ग के सम्बन्ध में कोई नियम न होने पर भी विरोध नहीं है, क्योंकि श्रुति स्मृति के प्रमाण से सभी सगुणोपासकों को देवयान गति होती है, किया है। छां० ५।१०।१, श० ब्रां० १०।५।४।१६; बृ० ६।२।१५,१६ श्रुतियां तथा भग० गी० ८।२६ उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने सूत्र ३१ का अर्थ श्रुति स्मृति में दो मार्ग से गति बताई गई है एक विद्या-उपासना-का फल है दूसरी कर्म का फल। साकार उपासना से भी भगवती की कृपा होने पर मुक्ति मिल जाती है, शंकर के समान इसमें कोई नियम नहीं है।

अधि० १८-शंकर ने इसे 'यावदधिकाराधिकरण' की संज्ञा दी है, संख्या का भेद पूर्ववत् है। इसमें अधिकारी लोगों की स्थिति का विवरण दिया गया है। (सूत्र ३२) 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' का अर्थ 'मोक्ष के अधिकारापन्न ज्ञानियों का जब तक अधिकार होता है तब तक इस शरीर में स्थिति बनी रहती है' किया है। छां० ३।११।१, ६।८।७, ६।१४।२, ७।२६।२; मुं० २।२।८; बृ० १।४।१०, ३।४।१, १।४।१० श्रुतियां तथा भग० गी० ३।३७ उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इसे आधिकारिकाधिकरण,' संज्ञा दी है तथा इसमें ब्रह्मज्ञ वसिष्ठादि के एक देहपात होने पर भी जैसे कैवल्य नहीं हुआ उसका वर्णन किया है। सूत्र ३२ का अर्थ 'वसिष्ठादि कुछ व्यक्तियों का कर्त्तव्य परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट है, अतः उन्हें मुक्ति के बाद भी देह धारण करनी पड़ती है, किया है। छां० ३।११।१ श्रुति उद्धृत है।

अधि० १९—दोनों आचार्यों ने 'अक्षरध्यधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद पूर्ववत् है। शंकर ने इसमें ब्रह्म के विशेषों का सर्वत्र निषेध रूप से ग्रहण है इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ३३)—'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' का अर्थ 'अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में जो ज्ञान कहा है, उसका सर्वत्र समावेश करना चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान सर्वत्र समान है और उसी का सर्वत्र वर्णन है, यह उपसद इष्टि के मन्त्रों के समान है, यह बात जैमिनि सूत्रों में कही हुई है'। बृ० ३।८।८; मुं० १।१।५; तां० ब्रा० २१।१०।११ जै० सू० ३।३।९ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में वेद सम्मत तान्त्रिक मन्त्र विशेष उपासनापरक होने के कारण उनका औपनिषदिक ब्रह्म विद्या रूप में ग्रहण होने का प्रतिपादन किया है। सूत्र ३३ का अर्थ 'सब श्रुतियों में उमा देवता के मन्त्र का औपनिषद-ब्रह्म-विधात्वेन संग्रह है, क्योंकि 'ओंकार' और 'उमा' में वर्णों की समता है'। जैमिनि सू० ३।३।९ में भी यही कहा गया है।

अधि० २०—दोनों आचार्यों ने 'इयदधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें आथर्वण और कठोपनिषद् में एक ही विद्या है, प्रतिपादन किया है। (सूत्र ३४) 'इयदामननात्' का अर्थ 'इयत्ता कही हुई होने से एक ही विद्या का निर्देश है' किया है। मुं० ३।१।१,२; कठ० ३।१, २।१४ श्रुतियां उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में वेद द्वारा प्रतिचोदित न होने पर भी तान्त्रिक मन्त्र विशेष की प्रागुक्त मन्त्र से समानता का प्रतिपादन किया है। सूत्र ३४ का अर्थ सब मन्त्र समान है उपासना प्रधान है तथा मन्त्र उसके अंग हैं।

अधि० २१—शंकर ने इसे 'अन्तरत्वाधिकरण' कहा है संख्या का भेद यथावत् है। इसमें उषस्त और कहोल के प्रश्नों में एक ही विद्या का कथन है इसका विवेचन किया है। (सूत्र ३५) 'अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनः' का अर्थ 'पंच भूतों के समूह के समान अपना आत्मा सब के भीतर है, ऐसा कथन होने से विद्या एक ही है' किया है। बृ० ३।४।१; ३।५।१, श्वे० ६।११ श्रुतियां उद्धृत हैं।

(सूत्र ३६)—'अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्' का अर्थ 'अन्य प्रकार से भेद की सिद्धि नहीं होती, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति के अन्य उपदेश के समान ही इसे समझना चाहिये' किया है। छां० ६।७।१, ६।५।४, बृ० ३।४।२, ३।५।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने उक्त अधिकरण को 'अन्तराभूताधिकरण' संज्ञा दी है तथा उसमें उमा के सर्वान्तरत्व का विवेचन किया है। सूत्र ३५ का अर्थ 'सब भूतों में जीवात्मा रूप से उमा स्थित है' किया है। बृ० ३।७।१५, ३।७।२२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं। सूत्र ३६ का अर्थ शंकर के समान ही किया है 'योऽशनाया पिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' स्मृति उद्धृत है।

अधि० २२—दोनों आचार्यों ने 'व्यतिहाराधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। दोनों ऐतरेयी और जाबाल शाखा में कही हुई उपासनाएँ परस्पर दोनों भावों से करनी चाहिए किसी एक भाव से नहीं, इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र ३७ का अर्थ दोनों आचार्यों ने समान ही किया है। समान श्रुतियाँ उद्धृत हैं, केवल बृ० १।४।१० श्रुति, पंचानन जी ने अतिरिक्त उद्धृत की है।

अधि० २३—दोनों आचार्यों ने 'सत्याद्यधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें सत्यादि गुणों का अन्यत्र संग्रह, इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ३८) 'सैव हि सत्यादयः' का अर्थ 'दोनों स्थानों पर वही विद्या कही गई है इसलिये सत्यादि गुणों का अन्यत्र भी संग्रह करना चाहिये' किया है। बृ० ५।४।१, ५।५।२, छां० १।६।६, ४।१५।१, १।६।१,८, १।७।६ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में सती, हैमवती, दुर्गा, प्रभृति देवियों के नाम ज्ञान का ब्रह्मविद्यात्व प्रतिपादन किया है। सूत्र ३८ का अर्थ 'सैव से वही उमादि का ही वर्णन है। सती, अद्रिजा, हैमवती आदि से ब्रह्मविद्या का ही बोध होता है।'

अधि० २४—दोनों आचार्यों ने 'कामाद्यधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक की दहर विद्याओं में परस्पर गुणों का संग्रह है, इसका विवेचन किया है। (सूत्र ३९) 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः' का अर्थ 'स्थानादि के साम्य से सत्यकामत्व आदि गुणों का इतर स्थानों में और इतर स्थान के गुणों का वहाँ संग्रह करना चाहिये।' छां० ८।१।१, ८।१।५,६, बृ० ४।४।२२, ४।३।१४,१५, ३।६।२६ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में ब्रह्म में काम 'संकल्पादि की व्यवस्थापना की है। सूत्र ३९ का अर्थ 'उमा, सती, वाक् प्रभृति देवियों में कामना, संकल्प आदि का वेद, तन्त्र, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी में

प्रमाण उपलब्ध होता है। आयतन घटित श्रुति में आयतन शब्द से लघु अवयव सत् का वर्णन है'। छां० ६।८।४ श्रुति उद्धृत है।

अधि० २५—दोनों आचार्यों ने 'आदराधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें 'भोजन उपस्थित होने पर उसी से प्राणाग्निहोत्र करना चाहिये' इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ४०)–'आदरादलोपः' का अर्थ 'प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं होता, क्योंकि श्रुति का इनके लिये आदर है।' छां० ५।१९।१, २।२४।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र ४१)—'उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्' का अर्थ 'भोजन उपस्थित होने पर उसी से प्राणाग्निहोत्र करना चाहिये क्योंकि श्रुति में वैसा ही कहा है' किया है। छां० ५।१६।१, ५।१८।२ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में विद्वान् के अग्निहोत्र का निर्वचन किया है। सूत्र ४० का अर्थ 'प्राणाग्निहोत्र और प्रसिद्ध अग्निहोत्र, दोनों में मातृभाव का आरोप करके करने से वे आदर युक्त हैं, अर्थात् ऐसा यज्ञ कर्म बन्धन का नहीं अपितु मोक्ष का हेतु है' किया है। छां० ५।२४।२,५, ५।२४।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

सूत्र ४१ का अर्थ समान ही किया है।

अधि० २६—दोनों आचार्यों ने 'तन्निर्धारणाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। दोनों ने इसमें 'उद्गीथादि कर्मांगों का कर्मों से नित्य सम्बन्ध नहीं है' इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र ४२ का अर्थ भी समान ही किया है। शंकर की छां० १।१०।६,१०,११, २।२।३ श्रुतियां तथा पंचानन जी की 'यदेव विद्यया करोति तदेव श्रद्धया चोपनिषदा वीर्य्यवत्तरं भवति' श्रुति में भेद है, शेष श्रुतियाँ समान हैं।

अधि० २७—दोनों आचार्यों ने 'प्रदानाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने बृहदारण्यक १।५।२१, छां० ४।३।१ में प्राण और वायु की पृथक् उपासना कही है, इस विषय की विवेचना की है। (सूत्र ४३)—'प्रदानवदेव तदुक्तम्' का अर्थ 'पुरोडाश के प्रदान के समान ही है' यह जैमिनि ने कहा है। बृ० १।५।२१–२३, १।५।१३, १।२।२३; छां० ४।३।१,२,४,६,८; तै० सं० २।३।६ उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में स्त्रियों को भी ब्रह्मविद्या का अधिकार है, इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र का अर्थ, 'अदृष्टार्थ' दान के समान जैमिनि सूत्र ६।१।८ में स्त्रियों को यागाधिकार दिया गया है।

अधि० २८—दोनों आचार्यों ने 'लिंगभूयस्त्वाधिकरण' संज्ञा दी है। 'संख्या का भेद है तथा इसमें अग्निरहस्य की अग्नि विद्यात्मक है' इस विषय का विवेचन किया है।' ४४ से ५२ संख्यक सूत्रों का अर्थ दोनों ने समान ही किया है, श्रुतियाँ भी एक जैसी उद्धृत हैं, केवल सूत्र ५१,५२ में शंकर ने छां० ५।४।१, श०ब्रा० १०।५।२।२३ अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० २९—में दोनों आचार्यों ने 'ऐकात्म्याधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है दोनों ने इसमें देहात्मवाद का खण्डन करके आत्मा देह से भिन्न है, इस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र ५३, ५४ का अर्थ भी समान है।

अधि० ३०—दोनों आचार्यों ने 'अङ्गावबद्धाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है तथा इसमें उद्गीथादि की उपासनाओं का, सब शाखाओं की उपासनाओं के साथ ऐक्य का विवेचन किया गया है। सूत्र ५५,५६ का अर्थ दोनों आचार्यों ने एक समान किया है। शंकर ने छां० १।१।१, २।२।१, ऐ० आ० २।१।२।१; श० ब्रा० १०।५।४।१; ऋ० सं० २।६।७ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधिकरण ३१—दोनों आचार्यों ने 'भूमज्यायस्त्वाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। इसमें वैश्वानर विद्या में समस्तोपासना की कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया है। सूत्र ५७ का अर्थ दोनों आचार्यों ने एक समान किया है, श्रुतियां भी समान हैं।

अधि० ३२—दोनों आचार्यों ने 'शब्दादिभेदाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर ने इसमें विद्या के एक होने पर भी शब्द भेद से विधा भेद है, विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र ५८) 'नानाशब्दादिभेदात्' का अर्थ 'श्रुति आदि भिन्न हैं अतः विद्या भी भिन्न हैं' किया है। छां० ३।१४।२, ४।१०।५, ८।१।५, ४।३।३, ५।५।१, ७।१५।१, ३।१४।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इसमें विद्या के एक होने पर भी विधि फलादि भेद से उपसना भेद का प्रतिपादन किया है। सूत्र ५८ का अर्थ भी इसी प्रकार है। ऋ० १।१६४।४६, श्वे० ६।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० ३३—दोनों आचार्यों ने 'विकल्पाधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। दोनों ने फल का अभेद होने से विद्याओं का विकल्प से

अनुष्ठान प्रतिपादित किया है। सूत्र ५६ का अर्थ समान है। शंकर ने छां० ३।१४।२, ४।१०।५, ८।१।५, ३।१४।४, बृ० ४।१।२ अतिरिक्त श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ३४—दोनों आचार्यों ने 'काम्याधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। दोनों ने इसमें काम्य कर्मों का समुच्चय हो अथवा न हो, इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र ६० का अर्थ समान है। एक श्रुति का भेद है। शंकर छां० ३।१५।२ तथा पंचानन जी ने 'स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्.........' उद्धृत की है।

अधि० ३५—दोनों आचार्यों ने 'यथाश्रयभावाधिकरण' संज्ञा दी है। तथा इसमें उपासनाएँ इच्छानुसार समुच्चय से अथवा विकल्प से होती हैं। सूत्र ६१ से ६६ का अर्थ समान हैं। श्रुतियाँ भी समान हैं। सूत्र ६६ में पंचानन जी छां० १।१।१० श्रुति विशेष उद्धृत करते हैं।

इस पाद में शंकर ने जहां ३६ अधिकरण माने हैं श्री पंचानन जी ने ३५ ही अधिकरण स्वीकार किये हैं।

चतुर्थ पाद :

अधि० १—दोनों आचार्यों ने 'पुरुषार्थाधिकरण' संज्ञा दी है। शङ्कर ने इसमें पुरुषार्थ कर्म और पुरुषार्थ श्रुति का परम लक्ष्य ब्रह्म ही है, ज्ञानी और कर्म, संन्यास और कर्म आदि विषयों का विवेचन किया है। श्री पंचानन जी ने इसमें ब्रह्माभेद साक्षात्कार का क्रत्वंगतया पुरुषार्थत्व नहीं है अपितु स्वतः ही है, संन्यासी को भी कर्म करना चाहिये इसका सविचार प्रतिपादन किया है।

(सूत्र १)—'पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः' का अर्थ शंकर ने 'बादरायण का मत है कि वेदान्त से पुरुषार्थ सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति भी यही कहती है' किया है।

श्री पंचानन जी ने इसका अर्थ 'आचार्य बादरायण का मत है कि ब्रह्माभेद साक्षात्कार रूप पुरुषार्थ माता की कृपा से प्राप्त होता है' किया है।

(सूत्र २)—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः' का अर्थ शंकर ने जैमिनि आचार्य का मत है कि जैसे अन्य फलप्रतिपादक श्रुतियाँ अर्थवाद रूप होती हैं वैसे ही आत्मा कर्म का अंशभूत होने से पुरुषार्थप्रतिपादक श्रुति अर्थवाद रूप है' किया है। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति......' 'यदंक्ते चक्षुरेष.........' 'यत्प्रयाजानुयाजा.........' श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इसका अर्थ 'जैमिनि आचार्य का मत है कि यजमान पुरुष के भी कर्म का अङ्ग होने से उसके ज्ञान की प्रशंसा ही श्रुति द्वारा कही गई है' किया है।

(सूत्र ३)—'आचारदर्शनात्' का अर्थ शंकर ने 'ज्ञानियों के आचार श्रुति में वर्णित है अतः मात्र ज्ञान से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती' (पूर्व पक्ष) बृ० ३।१।१, छां० ५।११।५ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इसका अर्थ 'उसका कर्म यज्ञादि का करना कराना श्रुति द्वारा कथित है' किया है। छां० १।११।१-३, ३।१।१ श्रुतियाँ उद्धृत हैं। सूत्र ४ से १४ तक अर्थ की समानता है। सूत्र ११ में तात्पर्य एक होते हुए भी व्याख्या में किंचित् भेद है। सूत्र ४।७ तक श्रुतियाँ समान हैं। सूत्र ८ में शंकर ने मुण्ड०१।१।६, तै० २।८।१, कठ०२।६।२, बृ०३।८।६, २।४।५, ३।४।१, २।४।१०, ३।५।१; २।८।११; छां० ६।२।३, ८।७।४, ८।६।३, ८।१२।३, ६।८।७ अतिरिक्त श्रुतियांउद्धृत की हैं। सूत्र ६ में पंचानन जी शंकर सम्मत कौ० २।५ ही उद्धृत की है शेष बृ० ३।५।१, ४।५।१५; छां० ५।११।५ श्रुतियां छोड़ दी हैं।

(सूत्र १५)—'कामकारेण चैके' का अर्थ शंकर ने 'कुछ लोग स्वेच्छा-पूर्वक आचरण करके कर्म के लिए अनादर व्यक्त करते हैं' किया है। बृ० ४।४।२२ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'कुछ लोगों का मत है कि 'जिजी-विषेत्' श्रुति द्वारा जब तक देह की स्थिति रहे तब तक निष्काम कर्म करने में कोई दोष नहीं है' किया है।

(सूत्र १६)—'उपमर्दश्च' का अर्थ शंकर ने 'ज्ञान से कर्म का अधिकार नष्ट हो जाता है' किया है। बृ० २।४।१४ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'ब्रह्म दर्शन से कर्मों का नाश हो जाता है' किया है। मुं० २।२।८ श्रुति उद्धृत है।

(सूत्र १७) 'ऊर्ध्वरेतः सु च शब्दे हि' का अर्थ शंकर ने 'वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमी के लिए भी विद्या का उपदेश है, श्रुति में ऐसा ही कहा है, किया है। छां० २।२३।१, ५।१०।१; मु० १।२।११; बृ० ४।४।२२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'यतियों (भेद के कारण बहुवचन का प्रयोग है) के लिए निष्काम कर्म बन्धन का हेतु नहीं है। यज्ञादि कर्मों से

इतर कर्मों का ही उनके लिए निषेध है' किया है। बृ० ४।४।२१; ईश० १।२ श्रुतियां उद्धृत हैं।

अधि० २—दोनों आचार्यों ने 'परामर्शाधिकरण' संज्ञा दी हैं। शंकर ने इसमें संन्यास आश्रम श्रुतिसंमत है, वानप्रस्थाश्रम, संन्यास का प्रयोजन आदि विषयों का विवेचन किया है। श्री पंचानन जी ने प्रव्रज्या के अभाव एवं भावपक्ष का उपन्यास, जाबाल श्रुति का प्रकारान्तर परत्व होने, जैमिनि मत का उसी श्रुति से खण्डन आदि विषयों का निरूपण किया है।

(सूत्र १८) - 'परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि' का अर्थ शंकर ने 'छां० २।२३।१ में अन्य आश्रमों का परामर्श किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है, वे विधि वाक्य नहीं हैं और उनका अन्य श्रुति निषेध करती है' किया है। तै० १।११।१; बृ० ४।४।२२; छां० ५।१०।१; मुं० १।१।११ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'विद्या का कर्मांगत्व सिद्ध करने वाली श्रुति नामोच्चारण मात्र है, ऐसा जैमिनि आयार्य मानते हैं क्योंकि उसमें विधि प्रत्यय का अभाव है। अन्य आश्रम गृहस्थ की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि श्रुति स्वयं उनका निषेध करती है 'किया है। मनु० भा० मेधा० ६।३८, न्याय भा० बात्स्यायन कृता ४।१।५६ 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रि-भिर्ऋणै.........'स्मृति उद्धृत है।

सूत्र १६, २० का अर्थ समान है। श्रुतियों का भेद है, शंकर ने सूत्रानु-सार क्रमशः छां० २।२३।१,२, ५।१०।१; बृ० ४।४।२२ ना० ७८, १२।३; मुं० ३।२।६, केवल्य ३, जाब० ४।५, गी० ५।१७ तथा श्री पंचानन जी ने केवल जा० ४ श्रुति एवं जै० सू० ३।४।२०-२४ उद्धृत की है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'स्तुतिमात्राधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें उद्गीथादि की श्रुतियां केवल स्तुतिपरक नहीं है, विधिबोधक है, इस विषय का विवेचन किया है। सूत्र २१,२२ का अर्थ समान है, श्रुतियां भी समान हैं केवल शंकर ने सूत्र २२ में छां० १।१।७ तथा २।२।३ अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'परिप्लवाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें वैदिक आख्यानों का विद्यार्थत्व प्रतिपादित किया है। सूत्र २३–२४ का अर्थ समान है। श्रुतियों में समानता के साथ साथ भेद भी है। शंकर ने कौ० ३।१।,२, छां० ४।१।१, ४।३।१, बृ० ४।५।६ तथा पंचानन जी ने क० १।१।१ 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' 'वायव्यं श्वेतमालभेत' अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की है।

अधि० ५—शंकर ने इसे 'अग्नीन्धनाद्यधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें विद्या के प्रयोजन सिद्धि में कर्म की अनुपयोगिता का विवेचन किया है। (सूत्र २५) 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' का अर्थ भी इसी प्रकार किया है।

श्री पंचानन जी ने इसे 'अग्नीन्धनाद्यनपेक्षाधिकरण' संज्ञा दी है। सूत्र २५ का अर्थ निरपेक्ष प्रव्रज्या में ब्रह्मविद्या कर्म का अंग नहीं है, स्वतन्त्ररूपेण पुरुषार्थ का हेतु है' किया है।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'सर्वापेक्षाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें विद्या के लिए आश्रम कर्मों की उपयोगिता बताई गई है। सूत्र २६ का अर्थ दोनों आचार्यों ने समान किया है, श्रुति बृ० ४।४।२२ समान है शेष में भेद है। शंकर ने इसके अतिरिक्त छां० ८।५।१। तथा कठ० २।१५ श्रुतियां एवं 'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः……' स्मृति उद्धृत की है।

सूत्र २७ को श्री पंचानन जी ने नवीन 'शमदमाद्यधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसका अर्थ 'गृहस्थी को भी संन्यासी के समान शमदमादि से युक्त होना चाहिये क्योंकि विद्या के साधन रूप से उनका विधि कहा हुआ होने के कारण उनका अनुष्ठान करना आवश्यक है' किया है। शंकर केवल संन्यासी का ही अधिकार माना है अन्य अर्थ समान है। श्रुति भी समान है।

अधि० ७—दोनों आचार्यों ने 'सर्वान्नानुमत्यधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। शंकर ने इसे ७ और पंचानन जी ने ८ संख्या दी है। अन्य कोई विशेष भेद नहीं, विषय समान है, सूत्रों का अर्थ भी समान है, श्रुति का अल्प भेद है। शंकर ने छां० १।१०।१, ५।२।१,२ अतिरिक्त श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ८—दोनों आचार्यों ने 'आश्रमकर्माधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें आश्रम-निष्ठों को कर्म की आवश्यकता, मुमुक्षुओं को भी विद्या के सहकारी भाव से कर्मों की आवश्यकता का विवेचन किया है। सूत्र ३२ का अर्थ समान है। श्रुति भी समान है। (सूत्र ३३) 'सहकारित्वेन च' का अर्थ शंकर ने 'आश्रमनिष्ठ कर्म विद्या के सहकारी हैं' किया है। बृ० ४।४।२२ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'विद्यावान् गृहस्थ का भी मुमुक्षु-रूप से माता की उपासना करना विद्या का सहकारी ही है' किया है। यजु० मा० ४०।१४ मन्त्र उद्धृत है।

सूत्र ३४,३५ का अर्थ समान है, श्रुति में भेद है, शंकर ने छा० ८।५।३ भ० गी० ६।१ और पंचानन जी ने छां० ५।११।५, यजु० माध्य० ३१।१६ श्रुति तथा 'तौ तस्मिन् पुलिने देव्याः कृत्वा मूर्त्तिं महीमयीम्......' 'सोऽपि वैश्यस्ततो ज्ञानं वव्रे निर्विण्णमानसः' 'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्.........' 'उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा स्तेपक्षिणां गतिः.........' स्मृतियाँ उद्धृत हैं।

अधि० ६—दोनों आचार्यों ने 'विधुराधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है। विधुरादि को विद्या का अधिकार उनके लिये साधन, उनका संन्यास में अधिकार आदि विषयों का विवेचन किया है। ३६-३९ संख्यक सूत्रों का अर्थ समान है, श्रुति भी समान है, कहीं कहीं-अल्प भेद है, यथा—३८ में शंकर ने भग० गी० ६।४५ तथा पंचानन जी ने 'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी' सप्तशती उद्धृत की है। सूत्र ३९ में श्री पंचानन जी ने छां० २।२३।१ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है।

अधि० १०—दोनों आचार्यों ने 'तद्भूताधिकरण' संज्ञा दी है। संख्या का भेद है। शंकर इसमें संन्यास का त्याग नहीं हो सकता, विषय का प्रतिपादन करते हैं। (सूत्र ४०)—'तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः' का अर्थ भी इसी प्रकार किया है। छां० २।२३।१; जा० ४; भ०गी० ३।३५ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में नैष्ठिक ब्रह्मचारी और यति आदि का गार्हस्थ्य ग्रहण का प्रतिषेध किया है। सूत्र ४० का अर्थ भी इसी प्रकार किया है। नारद परि० ६।३।८; छां० २।२३।१; मुं० १।२।१२, मनु० २।२।४३, ६।३१ उद्धृत हैं।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'आधिकारिकाधिकरण' संज्ञा दी है, संख्या का भेद है तथा इसमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी का स्त्री-गमन में प्रायश्चित्त विचारित किया है। सूत्र ४१,४२ का अर्थ समान है, उद्धरण भी समान है।

अधि० १२, १३—में संख्या के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है।

अधि० १४—दोनों आचार्यों ने 'सहकार्यन्तरविध्यधिकरण' संज्ञा दी है; संख्या का भेद पूर्ववत् है। शंकर ने इसमें ४७, ४८, ४९ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है। सामान्य ज्ञान वाले के लिए मौन विधि का विधान है। इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ४७)— 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण

तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्' का अर्थ भी इसी प्रकार किया है। बृ० ३।५।१ तथा 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' श्रुतियां एवं भग० गी० १०।३७ उद्धृत हैं।

(सूत्र ४८)—'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः' का अर्थ 'गृहस्थ को सब कर्म करना विहित होने से गृहस्थाश्रम के निर्देश द्वारा श्रुति उपसंहार करती है, किया है।

(सूत्र ४९)—'मौनवदितरेषांमप्युपदेशात्' का अर्थ 'मौन के समान अन्य आश्रमों का भी निर्देश किया हुआ होने से चारों आश्रमों का समान ग्रहण करना चाहिये' किया है। छां० २।२३।१ श्रुति उद्धृत है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में ४७, ४८, दो ही सूत्र रक्खे हैं तथा इसमें बालभाव से और भ्रूणभाव से मातृभावापन्न ब्रह्म की उपासना का विधान किया है। सूत्र ४७ का अर्थ 'मौनसहकारी विधि है, मुनि के लिए इसका विधान है, अधिकारी भेद से माता की बाल एवं भ्रूण भाव से उपासना करना मुनि को भी विधेय है' किया है। बृ० ३।५।१; ऐ० उ० २।५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

सूत्र ४८ का अर्थ 'गृहस्थ को भी पुत्र के राज्य में स्वत्व का त्याग करके भिक्षा जैसा आचरण करना चाहिए' किया है।

सूत्र ४९,५० को नवीन 'मौनाधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें माता में भ्रूण भाव से उपासना का उत्कर्ष होने पर जिसकी एषणा समाप्त हो गई है ऐसे गृहस्थी को भी मौन संन्यासी के समान फल की प्राप्ति होती है, विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्रों का अर्थ भी इसी प्रकार किया है।

शंकर ने सूत्र ५० को 'अनाविष्काराधिकरण' संज्ञा दी है तथा इसमें ज्ञानी बृ० ३।५।१ तथा 'यं न संतं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतं.........' स्मृति उद्धृत की है।

अधिकरण शंकर के अनुसार १६ श्री पंचानन जी के अनुसार १७ का नाम दोनों आचार्यों ने 'ऐहिकाधिकरण' दिया है। शंकर ने इसमें प्रतिबन्ध क्षय होने पर विद्या की उत्पत्ति का विवरण दिया है। (सूत्र ५१)—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' का अर्थ 'प्रारम्भ किये साधनों का कोई प्रतिबन्ध उपस्थित न हो तो विद्या इस जन्म में भी उत्पन्न होती है क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है' किया है। क० २।७ श्रुति तथा भग० गी० ६।३७,४०,४३,४५ उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'गृहस्थियों को भी शक्ति की कृपा प्राप्त होने से इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें कोई बाधा नहीं, श्रुति स्मृति का दृष्टान्त प्रमाण है।' तै० ३।५।६ तथा सप्तशती के राजा सुरथ का उद्धरण दिया है।

अधिकरण शंकर के अनुसार १७ श्री पंचानन जी के अनुसार १८ को दोनों ने 'मुक्तिफलाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें मोक्षफल निरतिशय है, इस विषय का विवेचन किया है। (सूत्र ५२)—'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः, का अर्थ 'मोक्ष के फल के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, क्योंकि उस अवस्था का श्रुति ने ही निश्चय किया है। बृ० ३।८।८, ३।६।२६, २।४।६, ४।४।२५, ४।५।१५, छां० ७।२४।१, ३।१४।२, मुं० २।२।११ श्रुतियाँ तथा 'नहि गतिरधिकाऽस्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' स्मृति उद्धृत की है।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में गृहस्थी और संन्यासी के साधनों का भेद होने पर भी कैवल्य की तुलना का कथन किया है। सूत्र ५२ का अर्थ 'मुक्ति के फल में कोई भेद नहीं है। मुक्ति केवल संन्यासी की होती है गृहस्थी की नहीं ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः मुक्त संन्यासी और मुक्त गृहस्थी में कोई भेद नहीं है।

अष्टम अध्याय

प्रथम पाद :

अधि १—दोनों आचार्यों ने समान संज्ञा, समान सूत्रार्थ तथा समान श्रुतियां उद्धृत की हैं, कुछ श्रुतियों का भेद है। शंकर ने सूत्र १ में छां० ४।१।४, ५।२।२, ३।१८।१,३ तथा पंचानन जी ने तै० २।१।; श्वे० ३।८ अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की हैं। सूत्र २ में शंकर ने छां० १।५।१,२, ६।८।७ बृ० ४।५।६,३,३।६।२८, ३।८।११, ३।८।८, ४।४।२२, ४।३।२३; तै० २।१।१ श्रुतियां तथा भग० गी० ३।१७ उद्धृत की है।

अधि २—दोनों आचार्यों ने 'आत्मत्वोपासनाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें ईश्वर की आत्मरूप से उपासना का वर्णन किया है। (सूत्र ३)– 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च 'का अर्थ 'ईश्वर आत्मा ही हैं' ऐसा श्रुति मानती है और वैसा ही बोध कराती है' किया है बृ० ३।४।१, ३।७।३, १।४।१०, ४।४।१६, ४।५।७, २।४।१४, ४।३।२२, छां० ६।८।७, ३।१८।१, ३।१६।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में विद्याविषयक उपासकों के आत्मत्व का प्रतिपादन किया है। सूत्र ३ का अर्थ 'अपना आत्मा ही उपासना का विषय है, वह परमात्म स्वरूप ही है जाबाल शाखा वाले ऐसा मान कर ही उपासना करते हैं और गुरुमुख से ग्रहण करते हैं' किया है।

अधि० ३—दोनों आचार्यों ने 'प्रतीकाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें प्रतीकों में आत्मबुद्धि का निषेध करते हैं। श्री पंचानन जी प्रतिमा संश्रित उपासना को विधेय मानते हैं। (सूत्र ४) 'न प्रतीके न हि सः' का अर्थ शंकर ने 'ब्रह्म के प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं की जाती क्योंकि उपासक प्रतीकों को आत्मा नहीं समझ सकता' किया है। छां० ३।१८।१, ३।१६।१, ७।१।५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने इस सूत्र का अर्थ 'प्रतीक के द्वारा वह परमात्मा उपासित होता है' अतः शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि चिदचिदात्मक ब्रह्म होने से प्रतिमा ब्रह्म का ही स्वरूप है' किया है। श्वेता० ४।१६, ४।१६, ऋ० ८।१८।३, यजु० ८।१६।१३।४१, अथर्व० ४।४ तथा भाग० ११ स्कन्ध ३७ अ० १ श्लोक उद्धृत हैं।

अधि० ४—दोनों आचार्यों ने 'ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ब्रह्म के प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, इस विषय का प्रतिपादन करते हैं। (सूत्र ५)—'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' का अर्थ 'आदित्य आदि में ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए क्योंकि इससे उत्कर्ष की प्राप्ति होती है' किया है। छां० ३।१६।४, ७।२।२, ७।४।३ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

श्री पंचानन जी ने इस अधिकरण में वस्तुतः जगत् और ब्रह्म अनन्य है फिर भी उपासना के आलम्बन विशेष—मन में ब्रह्मदृष्टि ही करनी चाहिए, इस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र ५ का अर्थ भी इसी प्रकार है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने समान संज्ञा तथा समान सूत्रार्थ किया है, श्रुति में किंचित् भेद है। शंकर ने छां० २।२।१, २।२।३, १।६।१, १।१।१०, १।१।१, १।७।७, २।११।१, २।७।२, २।८।१ अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ६,७ में कोई भेद नहीं है।

अधि० ८—में भी श्रुतिमात्रका भेद है। शंकर ने बृ० ४।४।२,२; प्र० ३।१०; छां० ३।१७।६; श० ब्रा० १०।६।३।१ श्रुतियां तथा गीता ८।६,१० एवं पंचानन जी ने छां० ८।१५।१ श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ९—दोनों आचार्यों ने 'तदधिगमाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें ब्रह्म की प्राप्ति होने पर सब पुण्यों का क्षय हो जाता है, इस विषय का प्रतिपादन किया है। (सूत्र १३)—'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ तद्व्यपदेशात्' का अर्थ भी इसी प्रकार किया है। छां० ४।१४।३, ५।२४।३, मुं० २।२।८; तै० ५।३।१२।१ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति होने पर निष्पापत्व का प्रतिपादन किया है। सूत्र का अर्थ शंकर के समान ही है। बृ० ४।४।२३ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत है।

अधि० १०—दो श्रुतियों के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। शंकर ने पञ्चानन जी की अपेक्षा मुं० २।२।८, छां० ८।४।१ अतिरिक्त श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

अधि० ११ में कोई भेद नहीं है।

अधि० १२ में केवल एक श्रुति का भेद है अन्य कोई भेद नहीं हैं। श्री पंचानन जी ने मुं० २।२।८ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है।

अधि० १३ में भी कुछ श्रुतियों और व्याख्या का ही भेद है। शंकर ने श्री पञ्चानन जी की अपेक्षा कुछ विस्तृत व्याख्या की है। छां ४।१७।१०

'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषत्ति' तथा पंचानन जी ने 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' भिन्न श्रुतियाँ उद्धृत की हैं, शेष समान हैं।

अधि० १४ संज्ञा समान है, सूत्रार्थ भी समान है, परन्तु व्याख्या में भेद है। श्री पंचानन जी ने इसमें जीवन्मुक्ति, कैवल्य एवं क्रममुक्ति की स्वरूपाद्वैतवाद सम्मत व्याख्या की है। संन्यासी और गृहस्थी दोनोंको समान रूप से इनकी प्राप्ति होती है इसका विवेचन किया है। कोई श्रुति उद्धृत नहीं की। शंकर ने छां ६।१४।२, बृ० ४।४।६ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं।

द्वितीय पाद :

अधि० १ संज्ञा समान है, १,२ संख्यक सूत्रों का अर्थ भी समान है। श्री पंचानन जी की छां० ३।१२।१ तथा 'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः' को छोड़कर शेष श्रुतियाँ समान हैं।

अधि० २ में शंकर ने कुछ विस्तृत व्याख्या की है, श्री पंचानन जी ने संक्षिप्त। अन्य कोई भेद नहीं है।

अधि० ३ संज्ञा समान है, ४-६ संख्यक सूत्रों का अर्थ भी समान है। सूत्र ६ में शंकर ने मनु० १।२७ अतिरिक्त स्मृति उद्धृत की है शेष श्रुतियाँ समान हैं।

अधि० ४ में व्याख्या के प्रकार का भेद है, तात्पर्य एक ही है।

अधि० ५—दोनों आचार्यों ने 'संसारव्यपदेशाधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें तेजादि का परमात्मा में बीज-भाव से अवशेष रहता है, आत्यन्तिक लय नहीं होता। तेज की सूक्ष्मता तथा उसकी अक्षयता, स्थूल शरीर में उष्णता से उसका अनुभव आदि विषयों का विवेचन किया है। श्री पंचानन जी ने अज्ञानी जीव की मृत्यु होने पर ब्रह्म में सुप्त रूप से लय, तथा पुनरावृत्ति होती है। परन्तु विद्वान् पुरुष का मुक्त रूप से लय होता है और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इस विषय का प्रतिपादन किया है। सूत्र ८-११ तक का अर्थ दोनों आचार्यों ने एक जैसा ही किया है। सूत्र ८ में श्री पंचानन जी द्वारा उद्धृत बृ० ४।४।१-४को छोड़कर अन्य श्रुतियां समान हैं।

अधि० ६—श्रुतियां एवं उद्धरण के भेद को छोड़ कर अन्य कोई भेद नहीं है। शंकर ने सूत्र १३ में बृ० ४।४।२, ४।४।६,७ तथा पंचानन जी ने मुं १।१।७ श्रुतियाँ भिन्न दी हैं शेष समान हैं। सूत्र १४ में शंकर ने व्यास के शुक का दृष्टान्त दिया है और उसका स्पष्टीकरण किया है। श्री पंचानन जी ने कोई उद्धरण नहीं दिया।

अधि० ७,८ में कोई भेद नहीं है।

अधि० ९ में केवल एक श्रुति का भेद है, अन्य कोई भेद नहीं। शंकर ने बृ० ४।४।१ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है, शेष श्रुतियां समान हैं।

अधि० १०—दोनों आचार्यों ने 'रश्म्यधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर ने इसमें १८-१९ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है, जबकि पंचानन जी ने केवल १८ का ही। सूत्र १९ को उन्होंने नवीन 'निशाधिकरण' संज्ञा दी है। सूत्र १८ का अर्थ दोनों आचार्यों ने समान किया है, किन्तु कुछ श्रुतियों का भेद है। शंकर ने छां० ८।१।१, ८।६।६ तथा पंचानन जी ने 'त आसु नाडीषु सुप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते' अतिरिक्त श्रुतियां उद्धृत की हैं।

(सूत्र १९)—'निधिनेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च' का अर्थ शंकर ने 'रात में मरने वाले जीव रश्मियों का अनुसरण नहीं करते, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि नाड़ी और रश्मियों का सम्बन्ध जब तक देह है तब तक रहता है, श्रुति भी वैसा ही कहती है, किया है। छां० ८।६।२, ८।६।५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने उक्त सूत्र के 'सम्बन्ध' पद का अर्थ 'जब तक देह रहता है तब तक प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध बना रहता है परन्तु देहनाश के बाद यह सम्बन्ध भी नहीं रहता और मुक्ति हो जाती है' किया है। शेष सूत्र का अर्थ शंकर के समान ही है। छां० ६।१४।२ श्रुति तथा 'दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव·········'स्मृति उद्धृत की है।

अधि० ११—दोनों आचार्यों ने 'दक्षिणायनाधिकरण' संज्ञा दी है परन्तु संख्या का भेद है। शंकर के अनुसार ११ और पंचानन जी के अनुसार १२ संख्या है। दोनों ने इसमें ज्ञानी के लिए उत्तरायण और दक्षिणायन को समानता, दक्षिणायन में मरने पर भी विद्वान् को दोष नहीं है, ब्रह्म विद्या का फल मोक्ष उसे मिलता ही है। स्मृति में श्रूयमाण भीष्म की उत्तरायण की प्रतीक्षा लोक-शिक्षा के लिये ही प्रतिपादित की गई है। सूत्र २० का अर्थ दोनों ने समान किया है। शंकर ने छां० ४।१५।५ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र २१)—'योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते' का अर्थ शङ्कर ने 'स्मृति में योगियों के लिये ही काल विनियोग कहा है और ये सांख्य तथा योग स्मृति में कहा गया है। भ० गी० ८।२४।२५ उद्धृत हैं।

श्री पञ्चानन जी ने इस सूत्र में योग और वेदान्त का भेद निरूपित किया है और इसीलिये सूत्र का अर्थ योगियों के प्रति काल विशेष का विधान

किया गया है न कि ज्ञानी के प्रति, क्योंकि योगियों को प्रतिदिन स्मृतिभूत कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ....' स्मृति उद्धृत है।

तृतीय पाद :

अधि० १ —व्याख्या के प्रकार एवं कतिपय श्रुतियों के भेद को छोड़कर अन्य कोई भेद नहीं है तात्पर्य एक ही है। शंकर ने बृ० ६।२।१५, ५।१०।१, कौ० १।४, छां० ८।४।३ तथा पञ्चानन जी ने 'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्दशूकम्' भिन्न श्रुतियाँ उद्धृत की हैं, शेष समान हैं।

अधि० २,३ में कोई भेद नहीं है।

अधि० ४ में श्रुतियों के भेद के साथ-साथ सूत्र ६ की व्याख्या में भी भेद है। सूत्र ४-५ की व्याख्या समान है। परन्तु श्रुतियों में भेद है। शङ्कर ने सूत्र ४ में कौ० १।३,बृ० ५।५।१६, श० ब्रा० १०।२।६।८, छां० ४।१५।५ तथा सूत्र ५ में बृ० ६।२।१५, ४।१५।६ और सूत्र ६ में पुनः बृ० ६।२।१५ श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। श्री पञ्चानन जी ने सूत्र ४ में शङ्कर सम्मत छां० ४।१५।५ के अतिरिक्त 'न च एतैरेव रश्मिभिरुर्द्ध्वमाक्रमते' 'स यावत् क्षिप्येन् मनस्तावदादित्यं गच्छति' सूत्र ६ में बृ० ६।२।१५, 'तत्पुरुषो मानव एनान् ब्रह्म गमयति' श्रुतियाँ उद्धृत की हैं। तथा सूत्र ६ में 'अर्चि' पद से अभिधेय अग्नि महाशक्ति की लीलामूर्त्ति गौरी ही है। अतः यहाँ विद्युत गौरीस्वरूपा है, जैसे माता अपने पुत्र को कांख, कंधे और सिर पर धारण करती है, वैसे ही विद्यत गौरी ने वरुणलोक को कांख में, इन्द्रलोक को कन्धे पर और प्रजापतिलोक को सिर पर धारण किया है, विशेष निरूपण किया है।

अधि० ५ -दोनों आचार्यों ने 'कार्याधिकरण' संज्ञा दी है। शङ्कर ने इसमें ७।१४ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है तथा सूत्र १५,१६ को षष्ठ 'अप्रतीकालम्बनाधिकरण' माना है। पञ्चम अधिकरण में सगुण उपासकों का कार्य ब्रह्म की प्राप्ति, क्रमोक्त ज्ञानावृत्ति, पक्ष विपर्यय मानने का कारण, ज्ञान के अभाव में मोक्ष का अभाव सगुण ब्रह्म के लिये गति का प्रतिपादन, पर और अपर ब्रह्म आदि विषयों का विवेचन किया है। षष्ठ अधिकरण में प्रतीकोपासना तथा अन्य उपासना का फल बताया गया है।

श्री पंचानन जी ने उक्त अधिकरण में ७-१६ संख्यक सूत्रों का समावेश किया है और इसमें विशेष विद्वानों का ब्रह्मलोक गमन, मुक्ति होती है अथवा नहीं, ब्रह्मलोक गमनपूर्वक मुक्ति का प्रतिपादन किया है। सूत्र ७ का अर्थ समान है। शङ्कर ने छां० ४।१५।५ श्रुति उद्धृत की है, पंचानन जी ने कोई

नहीं की। सूत्र ८,९ का अर्थ भी समान है। शङ्कर ने सूत्र ८ में बृ० ६।२।१५ अतिरिक्त श्रुति उद्‌धृत की है, शेष समान हैं।

(सूत्र १०)—'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्' का अर्थ शङ्कर ने 'कार्यब्रह्म का प्रलय हो जाने पर जीव उस लोक के अध्यक्ष के साथ वहाँ से परब्रह्म को प्राप्त होता है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा है' किया है।

श्री पंचानन जी ने इसका अर्थ भोगों का क्षय हो जाने पर उस तत् पद वाची परब्रह्म को जीव प्राप्त होता है 'विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इस मन्त्र द्वारा भी यही सिद्ध होता है, इनमें विद्या ज्ञान रूप है और अविद्या त्रिगुणात्मक है।

सूत्र ११-१४ तक अर्थ की समानता है, श्रुतियों में किंचित् भेद है। सूत्र १२ में शङ्कर ने छां० ६।१५।६ तथा पंचानन जी ने 'एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसि' श्रुति उद्‌धृत की हैं। सूत्र १३ में शंकर ने छां० ७।२४।१, क० २।१४ अतिरिक्त श्रुतियां उद्‌धृत की हैं। सूत्र १४ में श्री पंचानन जी ने 'न च प्रतिपत्यभिसन्धिः' तथा शंकर ने श्वे० ३।८, ४।१६; ६।१६, छां० ८।५।३, ८।६।६, ७।२५।२, ६।८।३, ६।८।७ ४।१०।५, ८।१।१, ३।१४।२, ८।२।१; बृ० ३।४।१, ३।८।८, ४।४।२५ ३।६।१६, ४।२।४, ४।४।६, २।४।१४, ४।५।१५, मुं० २।२।११, २।१।२, तै० २।६।१, ३।१।१, २।१।१, कठ० २।४।१०, प्र० ५।२ श्रुतियां तथा विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

(सूत्र १५) 'अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च' का अर्थ शंकर ने प्रतीकों का आलम्बन रखने वालों को वह ले जाता है, ऐसा बादरायण मानते हैं। दोनों प्रकार से मानने में दोष नहीं है, क्योंकि जो ब्रह्म का संकल्प करता है वह उसी को प्राप्त होता है, किया है। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' तथा बृ० ४।१५।५ श्रुति उद्धृत की है।

(सूत्र १६)—'विशेषं च दर्शयति' का अर्थ 'श्रुतिफल की विशेषता दिखाती है' किया है। छां० ७।१।५, ७।२।१,२, ७।३।१ श्रुतियां उद्‌धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने सूत्र १५,१६ का अर्थ 'दो प्रकार की प्रतीकोपासना—प्रथम ब्रह्म प्रधाना—इसमें प्रतीक का केवल स्पर्श मात्र रहता है, द्वितीय प्रतीक प्रधाना—इसमें ब्रह्म का स्पर्श मात्र रहता है—ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं। ये दोनों श्रुति स्मृति के अनुकूल हैं और ब्रह्म को प्राप्त कराती हैं। अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय कोटि के उपासक को परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, नाम के फल तक ही उसकी गति होती है' किया है। क० २।५।१ छां०

७।१।५, ३।१४।१ 'यो नाम ब्रह्मत्युपासते......' 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपासते........' श्रुतियां तथा 'सन्दर्शनार्थमम्बाया नदीपुलिनसंस्थितः....'स्मृति उद्धृत की है।

चतुर्थ पादः

अधि० १–कतिपय श्रुतियों के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। सूत्र १ में श्री पंचानन जी ने छां० ८।४।३ 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य....' सूत्र २,३ में शंकर ने छां० ८।६।१, ८।१०।२, ८।११।१, ८।७।१, बृ० ४।४।१६ भिन्न श्रुतियां उद्धृत की हैं। शेष समान हैं।

अधि० २ में श्रुति भेद के साथ साथ व्याख्या भेद भी है। श्री पंचानन जी ने सूत्र ४ की अत्यन्त संक्षिप्त तथा शंकर ने किंचित् विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है, भाव एक ही है। पंचानन जी ने श्वे० ४।१९ 'यशोऽहं भवामि, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मसन् ब्रह्माप्येति' तथा शंकर ने छां० ८।१२।३, ६।८।७ ७।२४।१, ७।२५।२, बृ० १।४।१०, ४।३।३३, क० ४।१५ भिन्न श्रुतियां प्रस्तुत की हैं।

अधि० ३ में संज्ञा समान है। सूत्र १ अर्थ भी समान है, श्रुतियां भी समान हैं। (सूत्र २) 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' का अर्थ शंकर ने 'जीव मोक्षावस्था में केवल चैतन्य रूप से व्यक्त होता है क्योंकि वह चैतन्यस्वरूप ही है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं, किया है।

श्री पंचानन जी इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं 'चितिश्च तन्मात्रं च, सत्यकामत्वादि मात्रं च' इस समाहार द्वन्द्व से केवल ज्ञान सत्य काम नहीं हो सकता, नित्य सम्बद्ध चिदचिदात्मक सत्ता ही मानना ठीक है, क्योंकि उसी के साक्षात्कार से आत्मा का परिच्छिन्नत्व रूप मोह निवृत्त होकर मुक्ति होती है, उस नित्य सत्ता का आत्मकत्व ही औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

सूत्र ७ का अर्थ समान है। श्रुति भी समान है।

अधि० ४ में एक श्रुति के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं। सूत्र ९ में शंकर ने छां० ८।१।६ अतिरिक्त श्रुति उद्धृत की है।

अधि० ५ में कोई भेद नहीं है।

अधि० ६ में कुछ श्रुतियों के भेद के अतिरिक्त अन्य भेद नहीं है। सूत्र१६ में शंकर ने बृ० ६।८।१ तथा पंचानन जी ने तै० १।५।३, १।६।३, ७।२५।२ भिन्न श्रुतियां उद्धृत की हैं।

अधि० ७ दोनों आचार्यों ने 'जगद्व्यापाराधिकरण' संज्ञा दी है। शंकर इसमें १७–२२ संख्यक सूत्रों का समावेश करते हैं और इसी अधिकरण के साथ ग्रन्थ समाप्त करते हैं, परन्तु पंचानन जी १७–२१ संख्यक सूत्रों को ही इस अधिकरण में रखते हैं और सूत्र २२ को अष्टम 'अनावृत्याधिकरण' संज्ञा

देते हैं। सूत्र १७ का अर्थ समान है श्रुति का भेद है। शंकर ने तै० १।६।२, १।५।३; छां० ७।२५।२ तथा पंचानन जी ने 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एक-मेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत्' श्रुतियां उद्धृत की हैं। सूत्र १८ का अर्थ और श्रुति दोनों समान हैं। सूत्र १९ में अर्थ की समानता है किन्तु श्रुति का भेद है। शंकर ने छां० ३।१२।६ तथा पंचानन जी ने बृ० ३।७।३ श्रुति उद्धृत की है। सूत्र २० में भी अर्थ की समानता है परन्तु श्रुति का भेद है। शंकर ने कठ० २।१५, भ० गी० १५।६ तथा पंचानन जी ने 'अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा', 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि ··· ···' 'परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना' मन्त्र तथा 'यच्च किंचित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मके··· ··स्मृति उद्धृत है।

(सूत्र २१)—'भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च' का अर्थ शंकर ने 'भोग का ही केवल साम्य है, इतने ही लिंग से भी मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य अमर्यादित नहीं होता, ऐसा विदित होता है' किया है। कौ० १।७, बृ० १।५।२०।२३ श्रुतियाँ उद्धृत हैं।

(सूत्र २२)—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' का अर्थ 'मुक्तात्माओं का फिर जन्म नहीं होता, क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है' किया है। छां० ८।६।६, ४।१५।६, ८।१५।१, बृ० ६।२।१५ श्रुतियां उद्धृत हैं।

श्री पंचानन जी ने सूत्र २१ का अर्थ 'जिस जीव को महाशक्ति की करुणा का लाभ प्राप्त हो जाता है वह जीव देवी के सालोक्य सारूप्य साम्य आदि का निर्बाध ऐश्वर्य प्राप्त करता है'। सूत्र २२ का अर्थ 'श्रुति प्रमाण से संन्यासियों एवं निवृत्ति धर्मा गृहस्थियों को समान रूप से मुक्ति प्राप्त होती है और उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।'



उपसंहार

क. भारतीय अद्वैतवादी दर्शन शास्त्र के इतिहास में स्वरूपाद्वैतवाद का महत्त्व एवं उसका मूल्यांकन :

भारतीय अद्वैतवादी दर्शनशास्त्र के इतिहास में जहाँ एक ओर शांकर वेदान्त में ब्रह्म को ही सत्य मानकर अन्य सब (जगत्) को मिथ्या घोषित कर दिया गया वहाँ दूसरी ओर शैव शाक्त वेदान्त में सृष्टि को शिव-शक्ति की क्रीड़ा स्थली मान कर सत्य स्वीकार किया गया। इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में कभी समन्वय न हो सका, और यह प्रश्न सदैव विवादास्पद ही रहा कि 'जगत्' को सत् माना जाय अथवा मिथ्या। अद्वैत जगत् की इस बहु-चर्चित समस्या ने ही सम्भवतः आचार्य श्रेष्ठ श्री पंचानन जी को शक्तिभाष्य लिखने की प्रेरणा दी और उन्होंने बड़े कौशल एवं अकाट्य तर्कों द्वारा उक्त समस्या का समन्वयमूलक समाधान प्रस्तुत किया।

शक्तिभाष्य में जहाँ एक ओर शंकर के चिन्मात्र ब्रह्म की रक्षा 'सत्ता' को चित्स्वरूपा कह कर की गई है वहाँ दूसरी ओर उसी 'सत्ता' के अचिदंश द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति मानकर जगत् को सत्-स्वरूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शांकर मत के 'ब्रह्म ही सत्य है', एवं शैव-शाक्त मत के 'जगत् भी सत् है' दोनों का सुन्दर समन्वय स्वरूपाद्वैतवाद की चिदचिद्विशिष्ट 'सत्ता' में कर दिया गया है। यहां सत्ता के चिदंश से 'ब्रह्म ही सत्य' है एवं सत्ता के अचिदंश से 'जगत् भी सत्य' है। ऐसे समन्वयमूलक अद्वैत सिद्धान्त का मूल्यांकन उसके दृष्टिकोण के आधार पर ही हो जाता है। भारत सदैव से बहुमत मतान्तरवादी देश रहा है। यहां प्रत्येक सम्प्रदाय विशेष, प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तावलम्बी सम्प्रदाय को अपने प्रबल तर्कों द्वारा परास्त करने की धुन में ही व्यस्त रहा है। इसी धुन ने सम्भवतः उक्त असंख्य मत-मतान्तरवादियों को जन्म दिया। हिन्दू धर्म विशेषतः अद्वैत वेदान्त की इस विकीर्णावस्था को सुसंगठित दृढ़ स्वरूप प्रदान करने के लिए ही इस युग के मूर्धन्य पंडित श्री पंचानन जी ने शक्तिभाष्य की रचना की है। रामानुज के चित् अचित् विशिष्टाद्वैतवाद 'शंकर के चिदद्वैतवाद एवं शैव शाक्तों के 'महेश और महेशानी प्रमुख' अद्वैतवाद का संश्लिष्ट दिग्दर्शन हमें इस भाष्य में प्राप्त हो जाता है। आज के विघटनकारी युग में 'एकत्व' की यह प्रवृत्ति निश्चय ही एक अपूर्व घटना है जो एक बार सर्व-प्रचलित होने पर युगों तक अपना प्रभाव जन-मानस में स्थिर रखेगी।

भारतीय संस्कृति का मुख्य स्वरूप सदैव से समन्वयात्मक ही रहा है। समन्वय की इस प्रवृत्ति का जो क्रमिक विकास भारतीय दर्शनों में दिखाई दिया है उसकी परिपूर्णता इस स्वरूपाद्वैतवाद में ही हुई है। इस समन्वय को दो दृष्टियों से दर्शनकारों ने स्थापित करने का प्रयत्न किया है। एक ओर अधिकारी भेद के द्वारा सिद्धान्त-भेदों का समन्वय तो दूसरी ओर 'मूल सत्ता' के आधार पर प्रतीयमान् जीव और जगत् के भेद का समन्वय। चित् और अचित् को मूलसत्ता का ही स्वरूप मानकर जो समन्वय स्वरूपाद्वैतवाद में हुआ है उसमें उक्त दोनों प्रकार की समन्वय प्रवृत्तियों का पूर्ण समावेश हो गया है और सचमुच यह एक अपूर्व उद्भावना है जिससे मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क का पूर्ण समाधान हो जाता है। स्वरूपाद्वैतवाद अपनी इसी एक विशेषता के कारण ही दार्शनिक परंपराओं में अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व रखता है।

ख. स्वरूपाद्वैतवाद की भारतीय दर्शन को यथार्थवादी मौलिक देन :

शंकर ने जगत् को मिथ्या कहा तो सही परन्तु उनको इस मिथ्यात्व की विस्तृत व्याख्या भी साथ में प्रस्तुत करनी पड़ी। क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होने वाले जगत् को एकाएक मिथ्या कोई कैसे मान सकता है? इसीलिए सम्भवतः शंकर ने जगत् की पारमार्थिक और व्यावहारिक दो सत्ता स्वीकार की। प्रथम की दृष्टि से जगत् मिथ्या है क्योंकि ज्ञान होने पर उसका बाध हो जाता है। तत्वज्ञानी के लिए कहीं कोई सृष्टि नहीं, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। परन्तु लौकिक दृष्टि से जगत् सत् है क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार शंकर को जहां लौकिक और पारमार्थिक दो सत्यों की कल्पनाएं करनी पड़ी। वहां श्री पंचानन ने 'सत्ता' को 'चिदचिद्' मान कर इस समस्या का वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया है। सत्ता एक ओर चिद् होने से अपरिणा-मिणी है। इस धरातल पर कहीं कोई जगत् की स्थिति नहीं है। इस प्रकार शंकर के पारमार्थिक सत्य की पूर्णरूपेण रक्षा हो जाती है। परन्तु सत्ता का दूसरा पक्ष अचित् होने से परिणामी है, और जगत् उस महासत्ता का परिणाम ही तो है। सृष्टि के कण-कण में 'मां' का दर्शन पाने वाला उपासक भला सृष्टि को मिथ्या माने तो किस आधार पर? शंकर के व्यावहारिक प्रत्यक्ष को अधिक यथार्थवादी परिधान में प्रस्तुत कर श्री पंचानन जी ने भारतीय अद्वैत दर्शन को निश्चय ही मौलिक देन दी है। ऐसा अन्य कहीं कोई उदा-हरण दृष्टिगोचर नहीं होता।

वैष्णव अद्वैतवादियों के उन सब सम्प्रदायवादियों की भी, जो जगत् को असत् किन्तु प्रपंच को सत्य मानते हैं, अथवा जो चिदचिद्विशिष्ट कहकर जगत् की सत्ता को सत् ही मानते हैं, पूर्ण तृप्ति हो जाती है। चिदचिद् दोनों से परे केवल सत्ता पर आधार रखने के कारण विरोधी मतों की जहां एक ओर तृप्ति हो जाती है वहां दूसरी ओर 'सत्ता' की एकता के कारण अद्वैत् तत्व का निर्मल रूप भी बुद्धि का पूर्ण समाधान कर देता है।

ग. आधुनिक युग की माँग एवं स्वरूपाद्वैतवाद :

यों तो शक्ति की उपासना सृष्टि के आदि काल से चली आ रही है। दूसरे शब्दों में जैसे सृष्टि अनादि है वैसे यह उपासना भी अनादि है, यह कथन अत्युक्ति पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, शक्ति उपासना से यहां तात्पर्य किसी प्रतिमा विशेष की उपासना से नहीं है, प्रत्युत अपने से अधिक शक्तिशाली देव, दानव के सम्मुख मनुष्य सदैव से श्रद्धा अथवा भय से अवनत होता रहा है, मात्र इतना ही बोद्धव्य है। इस दृष्टि से वर्तमान युग को यदि हम शक्ति-युग ही कहें तो अधिक समीचीन होगा। शक्ति की खोज में व्यस्त वैज्ञानिक नित्य नये आविष्कार प्रस्तुत कर मानव अथवा राष्ट्र की शक्ति को द्विगुणित करने में व्यस्त हैं। एक दूसरे से बढ़ने की परस्पर होड़-सी लगी हुई है। ऐसे समय में शक्ति-प्रधान-दर्शन को प्रस्तुत कर तत्वद्रष्टा श्री पंचानन जी ने वस्तुतः ही युग की मांग को पूर्ण किया है।

विज्ञान के क्षेत्र में Matter और energy के विषय में जो नवीनतम विचारधाराएँ चल रही हैं और Matter को energy (शक्ति) का ही परिणाम विशेष मानने की जो प्रवृत्ति आधुनिक Phisicist भौतिक विज्ञान वेत्ताओं में दिखलाई पड़ रही है, उनके लिए भी इस दर्शन में 'स्वरूपाद्वैतवाद' में पूर्ण बौद्धिक सन्तोष प्राप्त हो जाता है।

इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें प्रथम बार जगत् के मूल में व्याप्त भगवती महाशक्ति को, जिसे शंकर ने 'माया' तो अन्य दर्शनों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया तथा भौतिक विज्ञान में जिसे force अथवा energy की संज्ञा दी गई, दर्शनशास्त्र में प्रमुख स्थान दिया गया है। जैसे शिशु पिता की अपेक्षा माँ को अधिक निकट समझता है, वैसे ही उपासना के क्षेत्र में भक्त भी मातृभाव से उपासना कर शीघ्र 'परमसाम्यं' का लाभ प्राप्त कर सकता है। यही इस दर्शन का चरम लक्ष्य है।

शंकर ने मोक्ष का अधिकारी केवल संन्यासी को ही माना है। आधुनिक युग में आश्रम व्यवस्था के समाप्त हो जाने के कारण 'संन्यास' न तो सर्व सुलभ ही रह गया है और न ही आर्थिक व्यवस्था के जटिलपूर्ण हो जाने के कारण उतना सुविधाजनक। इसके अतिरिक्त कतिपय अनधिकारी व्यक्तियों के समावेश के कारण जन-मानस की श्रद्धा भी इस आश्रमी के लिए समाप्त प्राय हो गई है। अतः समाज का यह महत्वपूर्ण अंग आज अधिकांशतः भार-स्वरूप ही समझा जाने लगा है। ऐसी स्थिति में श्री पंचानन जी ने गृहस्थी मात्र को तत्वज्ञान द्वारा मोक्ष का अधिकारी स्वीकार कर राष्ट्र की अमूल्य सेवा की है। माता की 'भ्रूण भाव' से उपासना करते-करते भगवती की कृपा का लाभ प्राप्त होता है, और शक्ति की वह कृपा ही भक्त के मोक्ष की आयोजना करती है। उसमें गृहस्थी और संन्यासी का कोई भेद नहीं है। गृहस्थी भी पुत्र के राज्य में रहते हुए स्वत्व का त्याग कर जो कुछ प्राप्त हो जाए 'भिक्षा तुल्य' उसका ग्रहण कर संन्यास धर्म को निभा सकता है। 'शमदमादि' का पालन केवल संन्यासी ही नहीं, गृहस्थी के लिए भी अनिवार्य है। हां, देह छोड़ते समय जहां 'जीवन्मुक्त, संन्यासी का दाय' पहले ही समाप्त हो चुका होता है, जीवन्मुक्त गृहस्थी के कर्मों का 'दाय' उस समय उसके इष्ट मित्रों को प्राप्त हो जाता है, उसके साथ नहीं जाता, अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

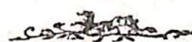
आधुनिक कर्म प्रधान युग में संन्यासी का निष्क्रिय बैठना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसी से पंचानन जी ने उसे निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। जिससे वह समाज पर भार-स्वरूप न होकर उसका वास्तविक अर्थों में महत्वपूर्ण उपयोगी अंग बन सके। इस प्रकार कर्म संन्यास एवं कर्मयोग दोनों का सुन्दर समन्वय इस दर्शन की विचारधारा में सम्भव हो गया है और उनके पारस्परिक विरोध का भी पूर्ण परिहार हो सका है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के विरोधों का भी यहां पूर्ण परिहार करके उन्हें समन्वय की एक सुन्दर श्रृंखला में बांध दिया गया है।

'स्त्री शूद्रो नाधीयाताम्' की उक्ति भी आधुनिक युग में सामयिक नहीं प्रतीत होती। सुधारवादी इस युग में जबकि संवैधानिक दृष्टि से प्राणीमात्र को समानता का अधिकार प्राप्त है; और स्त्री--शिक्षा, एवं हरिजन आन्दोलन विशेषतः चर्चा के विषय हैं, तब उक्त कथन 'कूप मण्डूकता' का ही परिचायक होगा। भविष्य-द्रष्टा श्री पंचानन जी ने इसीलिए शक्तिभाष्य में प्रदानाधिकरण' में स्त्रियों को भी ब्रह्म--विद्या का अधिकार प्रदान करके उक्त दोष

का निराकरण कर दिया है। शूद्रों को यद्यपि 'ब्रह्म विद्या' का अधिकार नहीं दिया तथापि वे भी आगम शास्त्रोक्त अन्य विद्याओं के अध्ययन द्वारा भोग और अपवर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह दर्शन (स्वरूपाद्वैतवाद) आधुनिक युग की धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक सभी समस्याओं का समाधान करता है। इसका यह प्रयत्न सर्वथा अभिनन्दनीय और सफल है।

प्रतिपादन की उक्त प्रक्रिया में जहां एक ओर नव्य एवं प्राचीन न्याय दर्शन की शैली तथा प्रक्रिया को अपनाया गया है वहां दूसरी ओर हृदय की उदात्त वृत्तियों के महत्त्व की रक्षा भी कर दी गई है। एक ओर दर्शनरसिक, बुद्धिप्रधान व्यक्ति भी इस प्रक्रिया से जहां प्रसन्न, चमत्कृत और समाहित हो जाते हैं वहां दूसरी ओर भाव-जगत् की महत्ता के लिए तथा रसात्मक हृदयों की भावप्रवणता के लिए भी उपासना का विधान कर दिया गया है। बुद्धि और भाव का मस्तिष्क और हृदय का विरोध परिहारपूर्वक पूर्ण समाधान-- प्रस्तुत करके आचार्य श्री पंचानन जी ने हमें एक ऐसा सुन्दर समन्वयात्मक, जीवन-दर्शन प्रदान किया है जिसकी खोज चिरकाल से मानव करता आ रहा था।

इस दृष्टि से शक्तिभाष्य इस युग की एक ऐसी महान कृति है जो एक ओर जहां अपने से पूर्ववर्ती विभिन्न दार्शनिक मतों के विरोधों के परिहार का सफल प्रयत्न कहा जा सकता है वहां दूसरी ओर परवर्त्ती विचारधाराओं के लिए भी समन्वय का दार्शनिक मार्ग-दर्शन कराता है।



सहायक ग्रन्थ

वेद :

अथर्ववेद
ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद

ब्राह्मण :

गोपथ ब्राह्मण
शतपथ ब्राह्मण

आरण्यक :

ऐतरेयारण्यक—सायण भाष्य
तैत्तिरीयारण्यक ,,
शांखायनारण्यक ,,

उपनिषद् :

ईशावास्योपनिषद्--श्री पंचानन कृत 'शक्तिभाष्य' सहित
ऐतरेयोपनिषद्
केनोपनिषद
काठकोपनिषद्
कैवल्योपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
त्रिपुरोपनिषद् (शाक्त उपनिषद्) पं० अ० महादेव शास्त्री
त्रिपुरातापिन्युपनिषद् ,, ,,
देव्युपनिषद् ,, ,,
नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
बह्वृचोपनिषद् (शाक्त उपनिषद्) पं० अ० महादेव शास्त्री
बृहदारण्यकोपनिषद्
भावनोपनिषद् (शाक्त उपनिषद्) पं० अ० महादेव शास्त्री
मैत्रेय्यूपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्

सरस्वतीरहस्योपनिषद्—(शाक्त उपनिषद्) पं० अ० महादेव शास्त्री
सीतोपनिषद् ,, ,,
सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद् ,, ,,

सूत्रसाहित्य :

ब्रह्मसूत्र—शारीरक भाष्य
ब्रह्मसूत्र—शांकरभाष्य, काश्मीर संस्कृत सिरीज
ब्रह्मसूत्र—शक्तिभाष्य
श्री विद्यारत्न सूत्र—(शंकरारण्य टीका) सरस्वती भवन, वाराणसी

व्याकरण :

वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा
वाक्यपदीय

पुराण :

कालिका पुराण
कूर्म पुराण
देवी पुराण
नारदीय महापुराण
पद्म पुराण
ब्रह्माण्ड पुराण
मत्स्य पुराण
महाभागवत पुराण
मार्कण्डेय पुराण
वामन पुराण
विष्णु पुराण
शिव पुराण
महाभारत
श्रीमद्भगवद्गीता

दर्शन :

वेदान्त सार—गंगा व्याख्या, वाराणसी
सर्वदर्शनसंग्रह—भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना

आगम साहित्य :

अहिर्बुध्न्य संहिता—अडियार लाइब्रेरी

ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्ति विमर्शिनी १-३ भाग
उड्डीश तन्त्र—माधव प्रसाद व्यास
कामकलाविलास—काश्मीर संस्कृत सीरीज़
तन्त्रालोक–अभिनव गुप्त
तंत्रसार—बम्बई
त्रिपुरा रहस्य—सरस्वती भवन, वाराणसी
नेत्रतन्त्र—भाग २, काश्मीर संस्कृत सीरीज़
निरुत्तर तन्त्र ,,
नित्योत्सव, वाराणसी।
परमार्थसार—जिल्द १-७ काश्मीर ग्रन्थावली
परात्रिंशिका ,,
प्रत्यभिज्ञाहृदय—अडियार लाइब्रेरी
पंचसार—तान्त्रिक टैक्स्टस् सीरीज़ आर्थर एवलोन
महार्थ मंजरी—बम्बई
महानिर्वाण तन्त्र—वाराणसी
मात्रिका चक्र विवेक—सरस्वती भवन, वाराणसी
मालिनी विजयोत्तर तन्त्र—काश्मीर सीरीज
योगिनी हृदय दीपिका—अमृतानन्दनाथ विरचित
ललिता सहस्रनाम—पं० अनन्त कृष्ण शास्त्री द्वारा संपादित
वारिवास्य रहस्य—भास्कर राय
वामकेश्वर तन्त्र—सेतुबंध टीका, वाराणसी
विज्ञान भैरव—काश्मीर सीरीज
शक्ति संगम तन्त्र—वाराणसी
षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह—काश्मीर सीरीज
शारदा तिलक—तांत्रिक टैक्स्टस्, द्वारा आर्थर एवलोन
शिव दृष्टि—काश्मीर संस्करण द्वारा मधुसूदन कौल शास्त्री
श्रीकर भाष्य—बंगलोर
सप्तशती—वाराणसी
स्वच्छन्द तन्त्र—काश्मीर सीरीज
सर्वोल्लास तन्त्र ,,
स्पन्द सन्दोह ,,
स्पन्द कारिका ,,

सौंदर्यलहरी—मद्रास
हंस विलास—वाराणसी

अन्य :

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ

पत्रिकाएं :

कल्याण—वेदान्त अंक
कल्याण—शक्ति अंक
कल्याण—शिव अंक
आनन्दवार्ता—भाग १–३, ५–७
त्रिपथगा अक्टूबर १९५७ अंक

गुजराती :

शाक्त सम्प्रदाय—नर्मदाशंकर मेहता

बंगला :

बंग भाषा—लेखक, जोगेन्द्र वसु
श्री श्रीचण्डी भाष्य—श्री पंचाननकृत शक्तिभाष्य
वसुमति—मासिक पत्रिका, वंगाब्द १३४७
वसुमति—दैनिक पत्र, बंगाब्द १३४७

ENGLISH BOOKS.

A History of Indian Philosophy by S. N. Dass Gupta Vol. I. Cambridge University Press.

A History of Indian Philosophy by S. N. Dass Gupta Vol. II. Cambridge University Press.

A Historical and Philosophical Study of Abhinav Gupta by K. C. Pandey.

An article on Brahma Sutras with Shakti Bhasya by M. M. Gopinath Kaviraj in the Leader (Daily) Tuesday August *1940.

General Introduction to Tantra Philosophy by S. N. Dass Gupta.

History of Philosophy : Eastern & Western Ed. by Radha Krishnan.

Introduction to 'Shrikar Bhashya of Shripati by C. Hayavadana Rao, Vol I. Mysoor Linguayat Education Fund Association 1936.

Indian Philosophy by Radha Krishnan.

Introduction to 'Malini Vijayotra Tantra' by Madhusudan Kaul.

Introduction to 'Varivasyarahasya by R. Krishna Swami Sastri.

Introduction to Tripura Rahasya (Jnana Khanda) by M M. Gopinath Kaviraj.

Introduction to Yogni Hridaya Dipika by M. M. Gopinath Kaviraj.

Introduction to Shakti Bhasya Ist part by M. M. Gopinath Kaviraj

Introduction to Saundarya-Lahari by R. Anantakrishna Shastri Ganesh & Co. Madras 1957.

Introduction to Prapanchasara'. Tantrik Text Ed. by Arthur Avalon.

Kashmir Shaivism by J. C. Chaterji.

Mohan-Jo-Daro and the Indus Civilization Ed. by Sir John Marshall Vol. I

Original Sanskrit Texts on the origin & History of the People of India by J. Muir, Vol. V.

Principles of Tantra Vol. II by Sir John Woodroffe Ganesh & Co., Madras.

Pragatism by William James.

Shakti and Shakta by Sir John Woodroffe, Ganesh & Co. Madras.

Some Aspects of the Philosophy of Shakta Tantra by M. M. Gopinath Kaviraj. Princess of Wales Series v & II.

Shakti or Divine power by Sudhendu Kumar Dass.
The Religious Quest of India by Farquhar.
Tantrik Texts Ed. by Arthur Avalon Vol. XVI. 'Sharadatilaktantra'.
The Garland of Letters by Sir John Woodroffe.
The Mother Goddess of Kamakhya by Beni Kanta Kakti Gohatti 1948.
The Serpent Power by Sir John Woodroffe, Ganesh & Co. Madras.
The Sakta Upanisads Ed. by Pandit A. Mahadeva Sastri.
Vaishnavism Shaivism and Minor Religious System by R. C. Bhandarkar Oriental Researech Institute Poona 1929.




तमसो मा ज्योतिर्गमय
चौखम्बा